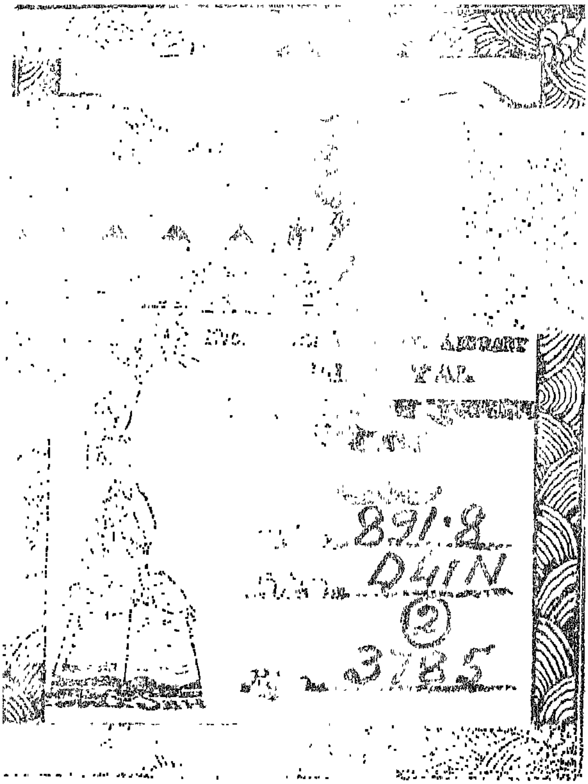


नि
क
ष

निकष

एक नये तरह के संकलन की योजना है जो वर्ष में अभी दो बार प्रकाशित हुआ करेगा; यद्यपि पाठकों ने इसके प्रथम संकलन का जैसा स्वागत किया है, उसे देखते हुये सम्भव है कि कुछ समय बाद हमें वर्ष में दो से भी अधिक संकलन निकालने पड़ें।

निकष

का प्रयास यह होगा कि हिन्दी में, गद्य और पद्य में, जितनी दिशाओं में जितनी प्रवृत्तियों के अंतर्गत जो भी नया, महत्वपूर्ण, सशक्त, मौलिक साहित्य लिखा जा रहा है, उसे एक साथ संकलित कर पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता रहे।

निकष

वर्गों, दलों, साहित्यिक शिविरों आदि की सीमाओं को कृत्रिम और झूठा मानता है, केवल कृति के आन्तरिक साहित्यिक मूल्य को ही निर्णय की कसौटी मानता है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक दल या शिविर में, जहाँ कहीं, जो भी उच्च स्तर का, मानवीय मूल्य पर आधारित साहित्य लिखा जा रहा है, वह सब अभिनन्दनीय है और हिन्दी की गौरवशालिनी परम्परा को आगे बढ़ा रहा है। निकष ऐसे सभी साहित्य का स्वागत करता है।

निकष

का लेखक-परिवार यह मानता रहा है कि निम्न स्तर का कुरुचिपूर्ण या प्रचारात्मक साहित्य चाहे कुछ दिनों के लिये पाठक को आक्रांत कर ले, किन्तु अन्ततोगत्वा पाठक उच्चस्तर की कृतियों का इच्छुक रहा है क्योंकि उसमें भी वे सारी सम्भावनाएँ और सद्वृत्तियाँ निहित रहती हैं, जिन्हें लेखक जगाना चाहता है। इसलिये 'निकष' पाठक और लेखक के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यत्नशील है।

निकष. ३. के लिये कृतियाँ भेजने का पता :

धर्मवीर भारती, २२ हैमिल्टन रोड, इलाहाबाद

व्यवस्था-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार का पता :

हरिमोहन दास टंडन, कमलांग, रानीमंडी, इलाहाबाद

अनुपम प्रेस, प्रयाग में मुद्रित

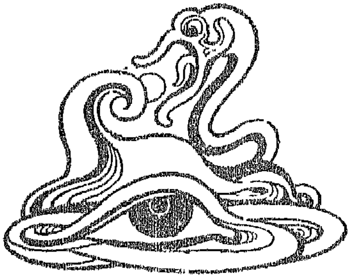
निकष २.

हिन्दी के श्रेष्ठ नवलेखन
का अर्द्धवार्षिक संकलन

धर्मवीर भारती तथा
लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा
संपादित

साहित्य-सहयोग के
तत्वावधान में,

साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग, द्वारा
प्रकाशित



जगदीश गुप्त की चित्र-कला

विपिनकुमार अग्रवाल

कला के आलोचकगण, जो स्वयं चित्रकार नहीं हैं, किसी चित्र पर अपने विचार प्रकट करते समय अधिकतर उस चित्र की वाह्य विशेषताओं और गुणों के मूल्यांकन में ही उलझे रह जाते हैं। वे उस आन्तरिक प्रेरणा के प्रति जागरूक नहीं हो पाते, जिसने प्रस्तुत चित्र बनाने के लिए चित्रकार को बाध्य किया। मैं समझता हूँ कि चित्र की विधि-निपुणता तभी सराहनीय हो सकती है जब निश्चित हो जाए कि जो अभिव्यक्त करना था वह पूर्णतः किया जा सका। अन्यथा, अच्छी शैली में बहुत परिश्रम से बनाया हुआ चित्र भी कला की वस्तु नहीं है। दूसरे शब्दों में, एक बहुत यथार्थवत् चित्र अधिक से अधिक एक अच्छे फोटोग्राफ का स्थान ग्रहण कर सकता है। वह हमें चित्रकार की अंकन-कुशलता पर सोचने के लिए प्रेरित कर सकता है, बहुत हुआ तो उत्तेजना जाग्रत कर सकता है, पर प्रभावित नहीं कर सकता। हम दर्शक को प्रभावित तभी मानेंगे जब चित्र देखने से उसके मन में पूर्व-अभिज्ञता की स्मृति मुखरित हो उठती है। इसके उपरांत उसका मन किन स्थितियों से गुजरता है, लिखने की आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो चित्र में ही दोष होना आवश्यक नह है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि दर्शक को चित्र से संबन्धित विषय का कोई पूर्व-अनुभव हुआ ही नहीं और उसकी अस्पष्ट अनुभूति भी उसे अपने जीवन में उपलब्ध नहीं हुई। दूसरा यह कि चित्रकार की अनुभूति में कहीं तीव्रता का अभाव था, या उसकी अंकन-शक्ति में अनुकूल प्रवीणता का। पहला कारण इस ओर

संकेत करता है कि दर्शक में चित्र से सौन्दर्य का परिचय प्राप्त करने के लिए उचित योग्यता होनी चाहिए। अयोग्य होने पर उसकी वही अवस्था होती है जो किसी लय एवं स्वरज्ञान से हीन व्यक्ति की किसी अच्छे संगीतज्ञ के अलाप को श्रवण करते समय होती है। दूसरा कारण चित्र की कमजोरी को बतलाता है। एक चित्रकार के सब चित्र शक्तिशाली नहीं होते, और हो भी नहीं सकते ! कभी भावना की तीव्रता अधिक नहीं होती और कभी विधि-निपुणता पिछड़ जाती है। चित्रकार अनुभूति की लहरों पर उतरता-चढ़ता रहता है और अपनी अंकन-प्रतिभा को नित्य अधिक प्रभावशाली बनाने में भी सलग्न रहता है। दोनों क्रियाओं के संयोग होने पर ही एक परिपक्व चित्र का सृजन हो पाता है, जो दर्शक के हृदय में सहज सौन्दर्य-भाव एवं आनन्द का उदय कर सकता है। पर, अभाग्यवश, ऐसे संयोग कम होते हैं, और अलग अलग कलाकारों में विभिन्न रूप से मूर्त होते हैं। इसी पृष्ठभूमि में हमें जगदीश गुप्त के चित्रों को देखना और समझना चाहिए।

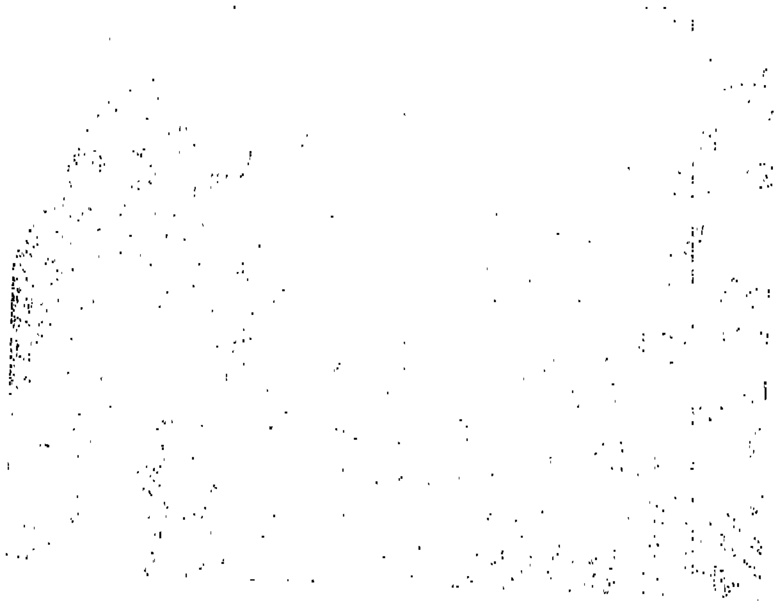
जगदीश गुप्त अपने चित्रों के माध्यम के चुनाव में तैल-रंग और जल-रंग तक ही सीमित नहीं रहे हैं। आपने बहुत से प्रयोग काली स्याही, गेरू-स्याही मिश्रण और कटे हुए कागज के द्वारा भी किए हैं। इन माध्यमों से बने हुए कुछ चित्र प्रस्तुत हैं। शब्दों में उनके बारे में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं होती यदि वे अपने रंग-विधान सहित मुद्रित होते। इस कमी के कारण मैं प्रथम चित्र नं० १ के बारे में कुछ कहना चाहूँगा। यह एक ऐसे चित्र का लघु-प्रतिरूप है जिसे किसी विशाल कैनवेस पर अंकित करने की अभिलाषा जगदीश गुप्त के मन में है। विषय के अनुकूल इस चित्र में कत्थई और स्याह रंगों की प्रचुरता है। रंगों के अतिरिक्त वातावरण को आकृतियों के गठन पर बल दे कर भी उठाया गया है। हमें आशा है कि इस चित्र का पूर्ण विकसित रूप बहुत प्रभावशाली होगा। रेखाओं की अधिक मोटाई इसे और सजीवता प्रदान करेगी। काली स्याही में अपनी तूलिका से जगदीश गुप्त ने दैनिक-जीवन सम्बन्धी विषयों पर अनेक गति एवं छन्द पूर्ण चित्र बनाए हैं। कुछ ही दिन हुए स्थानीय म्यूजियम द्वारा आयोजित एक बड़ी चित्र प्रदर्शनी में इनके ऐसे अनेक चित्र देखने को मिले। उनमें पहाड़ी दृश्यों के तैल तथा जल-रंग चित्र भी उपस्थित थे।

चित्रों को प्रदर्शित करने के बारे में कुछ लोगों का मत है कि केवल वे चित्र ही प्रदर्शित होने चाहिए जिनमें सब आवश्यक संयोजक तत्व उचित मात्रा में उपस्थित हों, जो पूर्ण (Finished) हों, और इसलिए जो सफल हों। जगदीश गुप्त के सभी प्रदर्शित चित्र इसी दृष्टिकोण से चुने गए थे। पर इसमें कई

कठिनाइयाँ हैं। व्यवहारिक रूप से यदि इसे लागू किया जाए तो किसी भी सफल चित्रकार के बहुत से चित्रों को हटा देना पड़ेगा। इससे साधारण जनता का तो कुछ बने या बिगड़ेगा नहीं, पर ऐसे दर्शकों की, जो योग्य हैं और किसी चित्र में जो ग्राह्य है उसे प्राप्त करने की और शेष को छोड़ देने की जिनमें शक्ति है, बहुत हानि हो जाएगी। प्रायः अधूरे चित्र जिनमें तथ्य (Content) और भाव दोनों ही शिल्प की सीमा को लांघ गए हैं हमें अधिक आनन्द और चित्रकार की अंकन शक्ति का सही परिचय दे सकते हैं। ये गुण पूर्ण चित्रों में ढँके और खोए से रहते हैं।

जगदीश गुप्त ने कुछ साहसिक अमूर्त (abstract) प्रयोग भी किए हैं, उदाहरणार्थ चित्र नं० (१)। इस चित्र का ढांचा बहुत ही सुलझा हुआ और गतिशील है। इसमें स्थल को रेखाओं से बहुत कुशलतापूर्वक कसा गया है। चित्र नं० (२) में चारों महिलाओं में सुसम्बद्धता बड़े सजीव ढङ्ग से स्थापित हुई है। काम्पोजीशन के दृष्टिकोण से चित्र सफल हुआ है और आकर्षक है। स्थान के अभाववश जगदीश गुप्त के लैंडस्केप यहां नहीं दिए जा सके। इस ओर आपने नया कदम उठाया है। इस क्षेत्र में और चित्रों की प्रतीक्षा हम बड़ी उत्सुकता के साथ कर रहे हैं।

१



२



३





योगायोग

पाकर मन माने भोग
बना ईश्वर नरेश ऐश्वर्य में।
न पाता ईश्वर ही ऐश्वर्य में!
अद्भुत यह योगायोग।

[illegible]

नया वर्ष

नरेश

१

भोर जाड़े की
सूरज की टहनियों पर
कुहरों के बच्चे,
अकाल काल कवलित,
लटकाये गये हों—ज्यों
लैंप-पोस्ट पर 'लवाल'
नया वर्ष आया यह ईसा का।

२

भोर जाड़े की,
मन्दिर में घंटे का एक-दो, एक-दो :
प सा, प-सा—
'सा प' का स्वर,
रच जन-पथ पर
चढ़ गया नील लोक
को, खग-कुल का कुल-कुल नहीं,
यह शहर।

३

जाड़े की भोर यह
'फ्रिज' से निकाली गयी
मछली-सी ताज़ा,
'गाज़ा' के अन्धे-सी,
शक-सी अनिश्चित—
आज अश्रु, हास या ?

ईसा का नया वर्ष,
आमीन, ईसा का!

सूर्य का स्वागत

दुष्यन्तकुमार

दीवालें काई से चिकनी हैं काली हैं,
धूप से चढ़ा नहीं जाता है
ओ भाई सूरज मैं क्या करूँ !
मेरा नसीबा ही ऐसा है !
खुली हुई खिड़की देख कर तुम तो चले आए
पर मैं अँधेरे का आदी
अकर्मण्य···
निराश...
तुम्हारे आने का खो चुका था विश्वास।

पर तुम आये हो
स्वागत है
स्वागत घर की इन काली दीवारों पर!

और कहाँ ?
हाँ—मेरे बच्चे ने खेल खेल में ही
यहाँ काई खुरच दी थी—
आओ यहाँ बैठो..........
और मुझे मेरे अभद्र सत्कार के लिये क्षमा करो !
देखो मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत करना सीख रहा है।

कला के मरण-बिन्दु

माखनलाल चतुर्वेदी

साहित्य के क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों की तरह मजदूरी की भाषा में सोचा जाने लगा है। सोचा क्यों न जाये ? जब पुस्तकें हों, उनके प्रकाशन हों, उनकी बाज़ार दर हो, उनके लिए लम्बे बाज़ार हों, तब कला के मज़दूर का भाग्य, कहाँ जाये ? किन्तु जो लोग मज़दूरी की दृष्टि से कलाकार को सोचते हैं, वे कला, साहित्य और समर्पण का मूल्य कूतने में सर्वथा नास्तिक हुआ करते हैं। भावना की ही भाषा में ही नहीं, तर्क की भाषा में भी।

एक मज़दूर, मजदूरी पर गया और मजदूरी समाप्त होते ही उसे छुट्टी मिल गई। किन्तु एक कलाकार, जब कला की दुकानों पर पहुँचा, चाहे वह रेडियो स्टेशन हो, चाहे काव्य-समारोह या किसी प्रकाशक का किताबघर, तो अपनी मजदूरी अदा करने के बाद उसे छुट्टी नहीं मिलती। वह घर लौटा और स्नेह भरे चिन्तन में लीन हो गया। अर्थात् जिन क्षणों में साधारण श्रमजीवी छुट्टियाँ मना रहा है, उन क्षणों में एक कला का उपासक अपने एकान्त चिन्तन को, अपने सुकोमल तर्क को, अपने मीठे आविष्कार को, अपने रंगीन समर्पण को अँगुलियों पर उतारने के लिये घंटों एकांत में देशनिकाला लिए बैठा है। उसके इन घंटों में यह पूछताछ भी नहीं हो सकती कि वह सिर्फ आठ ही घंटे काम करेगा ? और न सूर्य की किरणों की तरह उसकी वाणी की पूछ ही इस चाव से की जाती है। यदि वे चिन्तन में बहते हैं, तो समाज अनावश्यक मधुरों की श्रेणी में उन्हें फेंक देता है और यदि वे समाज में प्रिय होने वाले, सस्ते राग-रंगों में उतरते हैं, तो विश्व के प्रकाश-दर्शन का बिन्दु उनके हाथ से छूट पड़ता है। ऐसा, है हमारा कलाकार, जिसे हम मजदूर कहने लगे हैं। उसके सोचने का ऐसे समय, एक दृष्टि-बिन्दु हो सकता है, और वह यह है, मानों भाव की जमीन की सम्पूर्ण समाज-रचना ही प्राचीनता के विलास-लोलुपों और नवीनता के अति-वर्तमान प्रतिभाहीनों में बँट चुकी है...और वह शाश्वत वाणी, और सजग प्रतिभा के उद्धार के लिये, नये जीवन के निर्माण के लिए उतावला हो उठा है।

नये निर्माण के अर्थ, नई भाषा के, या नई बाजार-दर के नहीं हैं। सूर, तुलसी, मीरा, नन्ददास, बिहारी और इसी तरह के कवियों ने जो कुछ लिखा है, उन शाश्वत गायकों की लिखावटों से नये युग के कलाकार का संग्राम नहीं होना चाहिये, और न है। कहते हैं कि फारस से जब पारसी लोग इस देश में आये तब वे अपने साथ आग लाये, और धार्मिक सावधानी के साथ उन्होंने उस आग को बुझने नहीं दिया। कौन कह सकता है कि कला के क्षेत्र के नायक और गायक अपने हृदय से उठा कर, कोई 'आग' युगों को नहीं दे गये ? जो लोग इस आग को बुझाकर देखना चाहते हैं, वे यह अवश्य सोच लें कि सूरज की तरह अविनश्वर कला और साहित्य की आग कभी किसी देश में कहीं बुझी भी है, और बुझाने के बाद शताब्दियों की नई धारणाएँ, नये विश्वास, नई मधुरिमा, नई कल्पना, नई मौलिकता और नया कला-कोष क्या उनकी जेब में बन्द है, जिसे वे तुरन्त ही निकाल कर जगत के सामने रख देंगे ?

तब क्या कला के क्षेत्र में विद्रोह के कोई माने नहीं ? माने तो हैं, किन्तु जैसा सन्त विनोबा ने एक बार कहा था, 'अपने को सूली पर चढ़ाकर ही ईसामसीह बना जा सकता है, दूसरों को चढ़ाकर तो रावण ही बना करते हैं शायद !' विश्व के हर कीले-काँटे को उखाड़ फेंकना विद्रोह नहीं है, किन्तु रचनाओं की सृष्टि और जीवन के हर घुमाव में, माधुर्य, सूझ और समर्पण को क्षमताशील रख सकना और जो क्षमता, भूतकाल में से नहीं मिल सकती उस क्षमता को लाने में समस्त समाज से लोहा ले सकना, यही आज की कला का महान विद्रोह है। किन्तु क्या हम ऐसे विद्रोह के लिये प्रस्तुत हैं ? हमने स्वयं ही कला के कुछ मरण-बिन्दु बना रखे हैं। क्या हम उनसे बच सकते हैं ?

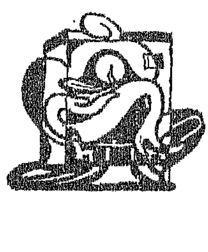
रचनाकार ने रचना लिखी या चित्र बनाया या गीत गाया। प्रश्न हुआ इस रचना से मित्रगण रूठ तो न जायेंगे ? चलनी में रचना डाली और छान डाली।

फिर प्रश्न हुआ हमारा समाज तो न नाराज हो जायेगा, वह बहिष्कार तो न करेगा ? रचना बेचारी फिर काँट-छाँट की वस्तु हुई। मैंने जीवन को देखा। जमीन पर घुटनों के बल रेंगता हुआ मैं, और नक्षत्रों पर आविष्कारों की तरह मत देती हुई रचना। जोड़ कैसे मिले ? जीवन की सुविधाओं को खतरे में डाल कर रचना का मोह कौन पाले ?

फिर रचना लिखी भी, और लोगों ने तालियाँ नहीं बजाईं, अथवा पूरे पैसे भी नहीं दिये। मिलाओ रचना में थोड़ा मिश्र-द्रव्य। पहले रचना कृति थी, फिर विकृति हुई और अब कुकृति होने के लिये बाध्य हो गई। जीवन ने हुंकार लगाई कि मुझे कहाँ दूर छोड़े जा रहे हो, तो ध्यान आया कि जीवन तो ठीक है किन्तु रचना के कारण कोई कष्ट तो न भोगना पड़ेगा।

इतने मरणबिन्दुओं से चीजें छान-छान कर बोलने वाले लोग मोची के कपड़े ढोते हुये बैल पर बैठे-बैठे, भावना की कोमलता के अथवा जगत की संघर्षमयता के नियन्त्रण की बागडोर यदि अपने हाथ में अनुभव करें तो उनसे क्या कहा जाये ?

कलाकार का जीवन विधाता का वरदान है। उसके घर दारिद्र्य उस दिन नहीं जाता, जब उसे भूख का भान हो और वह भीख की भाषा लिखने लगे। उसका सबसे बड़ा दुर्दिन तब आता है जब वह अपने अनन्त विश्वासों के लिए नई सूझ नहीं खोज पाता, और विश्वासों के द्वारा माँगे जाने वाले संकट-पथ को किसी बाहरी भय से या सुविधाओं के मोह से स्वीकार नहीं कर पाता। वही कलाकार की कालरात्रि है, और कला का मरण-बिन्दु।



मेरे आह्वान से चौंको मत

अज्ञेय

मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हैं
मेरे सगो, मेरे भाइयो,
तो तुम चौंकते क्यों हो ?
मुझे दोष क्यों देते हो ?
वे तुम्हारे ही तो प्रेत हैं।
तुम्हें किसने कहा था, मेरे भाइयो,
कि तुम अधूरे और अतृप्त मर जाओ ?
मैं तुम्हारे साथ जिया हूँ
तुम्हारे साथ मैंने कष्ट पाया है
यातनाएँ सही हैं
किन्तु तुम्हारे साथ मैं मरा नहीं हूँ
क्योंकि तुमने तुम्हारा शेष कष्ट भोगने के लिए मुझे चुना :
मैं अपने ही नहीं, तुम्हारे भी सलीब का वाहक हूँ
जिसके आसपास तुम्हारे प्रेत मँडराते हैं
और मेरे उस प्रयास पर चौंकते हैं
जिसे उन्होंने अधूरा छोड़ दिया था।

पर डरो मत
मैं मरूँगा नहीं
क्योंकि मैं अधूरा नहीं मरूँगा, अतृप्त नहीं मरूँगा।
तुम मर कर प्रेत हो सकते हो क्योंकि तुम अपने हो
मैं नहीं मर सकता क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ
मैं प्रतिभू हूँ, मैं प्रतिनिधि हूँ, मैं सन्देशवाहक हूँ,
मैं सम्पूर्णता की ओर उठा हुआ तुम्हारा दुर्दमनीय हाथ हूँ।

मैं तुम्हें उलहना नहीं देता क्योंकि तुम मेरे भाई हो
पर बोलो मेरे भाइयो, मेरे सगो, तुम अधूरे और अतृप्त क्यों मर गये
जब कि मैं तुम्हारे भी अधूरेपन और अतृप्ति को लेकर जी सका हूँ
और तुम्हारी पूर्णता और तृप्ति के लिये जीता रह सकूँगा ?

मेरे आह्वान से प्रेत जागते हैं
तो चौंको मत, पहचानो
कि वे तुम्हारे प्रेत हैं :
उन्हें अपलक देख सकोगे तो पहचानोगे
और जानोगे कि तुम भी अभी मरे नहीं हो,
कि पाप ने तुम्हें अभिभूत किया है,
जड़ किया है,
पर तुम्हारी आत्मा क्षरित नहीं हुई है ।

अपने प्रेत के साथ हाथ मिला कर
तुम उस विकसित शक्ति को फिर संपुंजित कर, सकोगे :
वही सञ्जीवन है
वही सम्पृक्ति है
वही मुक्ति है ।
मेरे भाइयो, मेरे सगो,
मेरे आह्वान से चौंको मत
मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ :
मुझमें जिस दायित्व का तुमने न्यास किया था
उस से मुझे मुक्त करो और मेरे साथ
मुक्त हो जाओ, मेरे भाइयो ।



भागूँगा नहीं

शंभूनाथ सिंह

भागूँगा नहीं
पीठ रोपूँगा नहीं
कोड़ों की चोट
इन कन्धों पर
छाती पर
मेरे कालदेव
मैं सह लूँगा
सह लूँगा
भागूँगा नहीं !

फाँसी के तख्ते पर
गंगा की धारा में
सागर के बीच
ऊँचे पर्वत की चोटी पर
जहाँ भी बुलाओगे
बंशी से तुम्हारी बिंधा
खिंच कर आ जाऊँगा
जोहता तुम्हारी बाट
जहाँ भी रखोगे
मैं रह लूँगा
रह लूँगा
भागूँगा नहीं ।

फिर भी मुँह देखी मैं कहूँगा नहीं
भले ही न आगे बढ़े पञ्जे मरोड़ सकूँ
भले मैं तुम्हारा उठा वज्र-काल-दण्ड भी न तोड़ सकूँ

भले ही रहूँ मैं असहाय-विवश
पींजरे के बन्दी सा
तुम्हारे द्वार

फिर भी मैं
मौन तो रहूँगा नहीं
तुमने दिया था विवेक मुझे
उसको नहीं मैं अश्रुजल से डुबाऊँगा
अंगीकार करके भी
निर्मम तुम्हारा दान
खोखली तुम्हारी मर्यादा को चुनौती देता
जो कुछ भी मुझको कहना होगा
निर्भय मैं कह लूँगा
कह लूँगा !
भागूँगा नहीं !



महागाथा

सुधीर कुमार

कथाभास

नवंबर के एक सोमवार को सायं पौने ६ बजे, स्टेशन वाले चौराहे के फुटपाथ पर, दो व्यक्तियों के बीच, कुछ हड़बड़ी में बात-चीत हुई ।

घोर विस्मय से :	अरे' आ'प, वा'ह...
	जी मालिक, अपनी कहिये, मजे में हैं न ?
अनसुनी कर, उत्सुकता के प्रवाह में :	आप यहीं रहते हैं न ? क्या करते हैं, उन लोगों से तो अब...?
	इस साप्ताहिक...के संपादन में हूं, यों नाम देवीजी का छपता है । उनकी बात भगवान......
हिचकते हुए कि किस्सा छेड़ा जाय या नहीं :	आप इधर बीमार भी थे क्या ? आपका चेहरा इतना मुरझाया कभी नहीं था... वहाँ आफिस में आपसे मिलने गया तो उन लोगों ने बतलाया कि आप पागल हो गये हैं; पता नहीं कहाँ गये !
	आपका क्या ख्याल है ? यह तो आप मानेंगे कि पागल पत्र संपादन नहीं किया करते ! लीजिये...का ताजा अंक पढ़ कर निश्चय कर लीजियेगा !
मज़ा लेते हुये :	शायद यहाँ संपादक होने के पहले पागल हुये हों !...फिर उन लोगों ने तो यह भी...

बाबा, वे लोग बड़े आदमी हैं, सब कुछ कर सकते हैं : उनके मन की हो जाती तो मैं पागलखाने में कभी बन्द हो जाता ! मुझे जहर देकर नहीं सफल हुए तो हल्ला कर दिया, होशियार, पागल से होशियार...

प्रकट विस्मय से : ऐं...प्वायजनिंग ? सायनाइड, आर्सेनिक, पिकरिक एसिड, कोबरा वेनम...? (मगर सोचता है, बनवारीलाल ठीक कहता था, जहर की बात कही न। वाकई पगलेट हैं, कहीं चौराहे पर ही किस्सा सुनाने न लग जायँ...।'

इतना रोमांटिक नहीं, फिर भी खासी मजेदार कहानी है, अभी चौराहे पर नहीं कही जा सकती, सारी दुनिया (और तुम्हारी मिसेज) गाली देंगे ! सुनने की तबियत हो तो किसी इतवार को आओ....फार्म क्वार्टर्स ५ में संपादकजी के चाचाजी को ढूँढ़ना...

चाचा जी से मतलब ? क्या चचा भतीजे दोनों...?

जाओ बाबू घर ! मिसेज इन्तजार करती होंगी, उन्हें मेरी खबर दे देना ।

(अर्थान्तरित : सोमवार की सेक्रेटेरियट से थका-माँदा ग्रेड तीन ग्रेजुएट असिस्टेंट और प्रतीक्षा में ध्यानस्थ उसकी मैट्रिकुलेट पत्नी, जो दिन में भात और रात में रोटी पका सकने के अतिरिक्त वर्ष में एक संतति प्रस्तुत करने की योग्यता भी रखती है !)

शायद आपको पता हो मैं मातृभाषा के अतिरिक्त मातृभूमि का भी सेवक रहा हूँ। नवीं क्रांतिकारी—आप कहलें—आतंकवादी रहा, षड्यंत्रों और एक्शनों की संयोजना की, तीन हत्यायें कीं, दो बार असफल सूसाइड किया, चार वर्ष नजरबंद रहा, सीने पर टामियों की बूटें सहीं...और सब बातें अब पुरानी पड़ गयी हैं, सिर्फ बूट-प्रहार अब भी ताजा है!

हुआ यह कि एक बार अधिकारियों के हाथ आ गया। मारपीट से जब तबियत नहीं भरी तो एक टामी बूट चढ़े पाँवों मेरी छाती पर कृष्ण का नाग नृत्य करने लगा। आप समझ सकते हैं, मेरी क्या दशा हुई होगी। दवा दारू से तात्कालिक लाभ हुआ किन्तु डेढ़ महीने बाद सीने में अचानक तीखा दर्द! दर्द दो दिनों में चला गया लेकिन एक महीने पर फिर हाजिर। पिछले आठ नौ वर्षों से यही क्रम है। जाड़ों में देखता हूँ दर्द देव जल्द-जल्द आते हैं, गरमियों में अंतराल लंबे कर। कभी-कभी हफ्तों परीशान किया है। प्रेस में प्रूफ देखते, लेख लिखते, दर्द भुलाने की कोशिश करता रहा हूँ।

यह नहीं कि इलाज कराने से विरक्त रहा। बात असल यह है कि सब हार चुके हैं। एक्स-रे, रक्त-परीक्षण, ब्लड-प्रेशर, W.T., जितने टेस्ट होते हैं, एलोपैथ डाक्टर सब करके हार चुके, कुछ समझ में नहीं आया, रस्मअदायगी के नुस्खे लिखते रहे। वैद्य जितने मिले, सब ने प्रारंभ में बड़ी आशाएँ दिलाईं किन्तु उनके रस, भस्मों, आसव, अरिष्टों के सेवन और महानारायण, महामाष तैलों की मालिश से उतना ही लाभ हुआ जिसे वैद्यकी में कहते हैं 'साध्य'। हकीम साहब के शरबतों और लाला बिहारीलाल की होमियोपैथिक गोलियों का भी मजा ले चुका हूँ, नेचुरोपैथी पर प्रयोग किये हैं मगर मेरे भी दर्द देवता चिरंतन सत्य की तरह मुझसे बंधे हुए हैं, खैर...

(किन्तु श्रोता के मन में कुछ एडोलेसेंस शेष हैं: टोकता है: आपने पहले कभी ये कथायें नहीं सुनाईं? लोगों ने कहा: आपका जीवन बड़ा घटनापूर्ण रहा है। मगर अनुरोध की हिम्मत कभी नहीं हुई इसलिये कि "आप बिगड़ उठते"।

बात यह है कि उस वक्त सुनाता तो आप कहते: बनता है, जमा रहा है; फिर यों सुनाने से लाभ भी कुछ नहीं था: खैर।)

नजरबंदी से छूटने पर मुझे लगा कि देश को अब आतंकवाद की जरूरत नहीं रही। और भी कई कारणों से मेरा झुकाव पत्रकारिता की ओर हुआ। क्रांतिकारी था,

तब भी कला और साहित्य से बहुत रुचि थी। इस क्षेत्र में आकर मैंने जमकर काम किया किन्तु कहीं ज्यादा दिन तक मैं टिक नहीं सका। जब कभी कोई गड़बड़ या अपनी मर्यादा पर आँच आती देखी, काम छोड़ दिया। इस तरह अँग्रेजी, हिन्दी, बंगला के दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक दफ्तरों में भटकता रहा। मासिक चलाने का अनुभव तब हुआ जब आपके बाबू हरदेवसिंह के यहाँ आया।

हरदेव बाबू से मेरी २४ वर्ष पहले की जान-पहचान थी। बीच में हमारे संबन्ध-सूत्र काफी छिन्न-भिन्न थे, मगर वे मुझे भूले नहीं थे और मेरी खोज-खबर लेते रहे थे। जब मैं कलकत्ते के मालिकों से झगड़ कर, आठ महीने से बेकार बैठा था, हरदेव सिंह ने हमें अपने साथ काम करने को बुलाया: उनकी एक छोटी सी किताब की दूकान थी और वह सामान्य स्तर पर पुस्तक प्रकाशन करते थे। मेरे जाने पर उनका कामकाज ढंग से चलने लगा। मैंने उन्हें बिजनेस के गुर सिखलाए; उनके उपन्यास, कहानी-संग्रह, सभी प्रकार के टेस्ट-बुक, सब तरह की पुस्तकें, कुछ अपने नाम से, कुछ अन्य नामों से, कुछ नाम विद्वानों के खरीद कर, तैयार की और करवायीं। चलते पुरजे तो हरदेव सिंह पहले भी थे मगर उन्हें व्यवसाय के छल छंदों का पूरा ज्ञान नहीं था और न अब की तरह व्यवहारकुशल थे। उनकी आज की समृद्धि में मेरा बड़ा योग है। खैर... धीरे धीरे वे डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, लाइब्रेरियों, स्कूलों कालेजों के बड़े आर्डर पाने लगे।...उन्होंने अपना व्यवसाय फैलाया, दूकान की ब्रांचें खोलीं, मकान या बड़ी जायदादें खरीदीं, बाइस हजार की कार भी...यों मेरी स्थिति औपचारिक रूप से सदा वेतनभोगी की रही मगर इसकी मुझे कभी शिकायत नहीं रही और मैं सदा परिवार का सदस्य माना जाता रहा। हरदेवसिंह मुझसे भातृवत् व्यवहार करते और प्रत्येक कार्य में मेरी राय लेते।

तीन बरस हुए उनके मन में एक मासिक पत्रिका निकालने की बात आयी! घाटे का भय नहीं था। दस बरस तक मजे में सह सकते थे। मैंने सहर्ष अनुमोदन किया।

पत्रिका निकली, बड़े शान से निकली, जैसा उसका स्वागत हुआ उससे लगा कि हमें अधिक समय तक घाटा नहीं सहना पड़ेगा। सम्पादक की जगह नाम उनका छपना था, किन्तु वह सम्पादकीय लिख कर छुट्टी ले लेते थे। बाकी सारा काम मुझ अकिंचन को ही करना पड़ता था। मैं डरते डरते करता क्योंकि मासिक का पूर्ण अनुभव नहीं था, मगर मैं फेल नहीं हुआ क्योंकि मेरा सिद्धांत है जिस काम के पीछे लगो, पागल हो जाओ।

पत्रिका के आठ अंक कलकत्ते में छपे। बाद में यहीं सर्वांङ्गपूर्ण छपाई सम्भव हुई। हमने कितनी उन्नति की यह इससे समझिये कि जब हमने दूसरे वर्ष का गाँधी विशेषांक जनवरी में निकाला तो हमें ३० हजार प्रतियाँ छपवानी पड़ी। कहने का यह अर्थ नहीं कि इस सफलता का सम्पूर्ण श्रेय मेरी सूझ को या मेरे श्रेष्ठ संपादन को है : हरदेव भाई बड़े आदमी थे प्रान्तीय मिनिस्टरों से उनकी दोस्ती थी, इससे पत्रिका के वितरण में बड़ी सुविधाएं हुई।

विशेषांक के सम्पादन में कड़ी मिहनत पड़ी थी। इतना संश्लिष्ट काम मैंने पहले कभी नहीं किया था। दस बजे रात तक कम्पोजिटरों, प्रेसमैनों से मगजपच्ची करता, जाड़े से ठिठुरता, डेरे लौटता, जैसे तैसे खाना खाकर बिस्तर पर ढेर हो जाता, सुबह मालिक के ट्रंक-काल रिसीव करता...और फिर दूसरे दिन का खटराग शुरू हो जाता...मालिक उस समय अपने हजारीबाग वाले बँगले में थे, संपादन कार्य में फोन द्वारा दिलचस्पी रखते थे। महीने दिन में तीन बार दर्ददेव ने कृपा की, उन्हें 'एनासिन' के चौगुने डोज की रिश्वत दे सन्तुष्ट कर सका।

"नतीजा यह कि अगले अंक का सम्पादन मैं ठिकाने से नहीं कर सका। छाती में घोर पीड़ा और १०३ डिग्री बुखार लिये प्रेस जाता एक घूँट चाय पीता, आँख खुलती, एक लाइन प्रूफ देखता। वह अङ्क समय पर निकल गया मगर उसमें कई जगह छोटी भूलें रह गयीं और एक जगह गलत टेलपीस लग गया। इनसे मुझे जो ग्लानि हुई उसे आज के नौसिखुए सम्पादकगण नहीं समझ सकते।

हरदेव भाई ने वह अंक देखते ही भाँप लिया कि मेरी तबियत सही नहीं है। ट्रंक पर ही तनदुरुस्ती की हिफाजत पर खासा लेक्चर झाड़ कर बोले : कल कार से पहुँच रहा हूँ।

मालिक आये। मुझे जबरदस्ती डाक्टर के यहाँ ले गये। डेढ़ घन्टे की जाँच जिरह पर डाक्टर ने मुझसे कहा : आपने बाबा विश्वनाथ बन कर विष की मात्रा 'एनासिन' का सेवन किया है। अब आधी टिकिया भी किसी डाक्टर से पूछ कर ही लीजियेगा। हरदेव भाई से एकांत में देर तक बातचीत की। उन्हें कहा (जैसा बाद में पता चला) कि यह शख्स बाबा विश्वनाथ बनकर गुस्सा पीता है। ज्यादा दिन रोजगार करेगा तो हार्टफेल हो जायगा। इससे कहो कि क्रोध को रिलीज भी किया करे।

निदान लौटने पर निश्चय हुआ कि मैं जिस किसी पर चाहूँ मतलब बेमतलब बिगड़ सकता हूँ। निश्चय हुआ कि सभी कर्मचारी, महामैनेजर भी मुझे खुश

रखने की कोशिश करेंगे और मेरी नाराजगी सह लेंगे। अब तक यही प्रोग्राम था कि यह लोग नाराज होते थे, मैं सहता था। निश्चय हुआ कि मैं प्रेस जाने की बजाय डेरे पर ही दफ्तर जमाऊँगा और महामैनेजर साहब मालिक के पैसों से मेरी व्यवस्था करेंगे और जय भारत फार्मेसी से दवाइयाँ ला दिया करेंगे। यह भी निश्चय हुआ कि मुझ हार्ट पेशेंट का दुमंजिले पर चढ़ना उतरना अवांछनीय है अतः फोन का एक्सटेंशन मेरे सिरहाने दिलवाने का काम भी महामैनेजर साहब करेंगे। मुझे आश्वासन मिला कि जितने दिन काम संभले कोशिश करूं न होगा तो एक असिस्टेंट रख देंगे।

और डाक्टर साहब थे जो मार्फिया और ब्रोमाइड के नीचे बात ही नहीं किया करते थे। उनकी दवाएँ पीकर मैं दर्द को नहीं अपने को भी भूल जाता था। करीब सत्रह अठारह घन्टे कुम्भकर्णी नींद में बेखबर रहता। नींद कहना कुछ गलत होगा क्योंकि दवा की नींद एक तरह की बेहोशी हुआ करती है। मेरे कई दोस्त नाराज होकर लौट गये क्योंकि उनके झकझोरने पर भी मैं जाग नहीं पाया। जगने पर भी ठिकाने से बैठ या खड़े हो सकना मुश्किल था। बिना सहारे दो डग भी नहीं चल सकता था। फिर भी मैंने पत्रिका को अटकने नहीं दिया, बिस्तर पर लेटे लेटे प्रूफ देखा करता...सम्पादन में अधिक झंझट नहीं थी, फाइल से लेख निकाल कर देते जाना...आत्मश्लाघा नहीं करता उस, गुजरी हालत में भी मैं छै अंक मजे में निकाल सकता था।

अन्तिम फरमा छपते छपते (मेरी तबीयत में अच्छे लक्षण दिखे, बुखार चला गया था, दर्द ज्यों का त्यों था) ट्रंक पर मालिक का सन्देश मिला :

'का हो कि हाल हई ?...सुनलियौ कि तबियत सुधर रहलौ है...मार्च अंक भी होइये गेलौ होते...५०० कापी ले तोंही आ जा न, यहाँ होली बिताव नेक डेढ़ महीना आराम कर...हवा पानी बदला से भी रोग आराम होव लई...अकेले न आ सक, तो हरी या मुन्सी जी के ले के...आव जरूर भौजाई बहुत याद करलथु... उनका फेरो... सातवाँ महीना हई न...'

मैंने अनुरोध (या आदेश, जो कहिये) मान लिया। अकेले ही मार्च अंक की ५०० प्रतियाँ लेकर वहाँ पहुँचा। पता चला कि पुस्तकायन लिमिटेड के प्रोपराइटर श्री हरदेव सिंह ने मुझे अपने बंगले पर आराम करने के लिये दो महीने की छुट्टी दी है और बालकृष्ण मिश्र को, जो यहाँ छुट्टी बिताने आये थे स्थानापन्न संपादक बनाया है ! मैंने सोचा : ठीक है। इतना ख्याल तो रहता है।

होली के दिन बहुत गलत बीते। हर्ष और उल्लास से संयुक्त परिवार में मैं बीमार मनहूसियत बिखेरता रहा। होली के बाद भी मेरा एकरस प्रोग्राम रहा : बिस्तर पर पड़े झख मारना, घड़ी के हिसाब से भोजन, शौच, दवा....

एक दिन कहा गया : मैं अब दवाएँ न खाऊँ (चलो, अच्छा हुआ) पास ही किसी गुफा में कोई साधूबाबा हैं, बड़े पहुँचे साधक हैं, उन्होंने एक जड़ी दी है, मैं सेवन करूँ ! अब चाहे जड़ी के प्रभाव से हो या ब्रोमाइड मिक्श्चर छोड़ने से..... मेरी तबियत तेजी से सुधरने लगी !

करीब एक हफ्ते बाद दोपहर में हरदेव भाई मेरे बिस्तर आ बैठे और मेरी तबियत, नवप्रकाशित उपन्यास , नई दूकान, इधर-उधर की बातों के पश्चात जो कहा उसका आशय है कि

उक्त साधूबाबा मुझमें पर्याप्त इंटरेस्टेड हैं, उन्होंने मेरे भाग्य की खासी चीर-फाड़ की एवं भूत-भविष्य-वर्तमान की पूरी छानबीन की है। उनके अनुसार मुझे अब सन्यास ले लेना चाहिये। यह भौतिक जंजाल ही मुझे इतनी तकलीफ दे रहे हैं। मुझे अब माया के बंधन काटने चाहियें, इसीमें सद्‌गति है। अतएव मैं अपनी सभी पुस्तकों की कापीराइट भाई हरदेव को दे दूँ और सभी दूकानों और व्यवसायों के अपने हिस्से उनके नाम ट्रांस्फर कर दूँ (और मेरा है ही कौन ?) खुद मैं नाम बदल कर उक्त पहुँचे महात्मा के साथ रमताराम होऊँ...

उस वक्त कुछ बोला नहीं। मन में हुआ कि अब तक तो डेस्टिनी अपने कंट्रोल में रही, आगे...उस रात ठिकाने से सो नहीं सका।

अंतराल (लो, चाय पियो)

श्रोता (स्वगत) : ...अचरज नहीं, यही तो 'ह्यूमन साइकोलौजी' है। ...पिछली बार ये हरदेव सिंह कित्ती बातें झूठ बक गया है...साले, बनते हैं...यों सूरत शकल भलेमानस की रखता है, मिठिया मिठिया कर गप्प भी करेगा, मगर है भीतरिया चार सौ बीस...

वक्ता (वही) : मैं इन्हें बोर तो नहीं कर रहा !...विलायती सिनेमा छोड़कर मेरी आपबीती सुनने को किसे फुरसत है...

फलसफा : इतिहास की दो रीतियाँ हैं, रैखिक और आवर्तिक। दोनों रीतियाँ द्वान्द्विक हैं। समय के प्रवाह में भँवर बनते हैं, आगे बढ़ते हैं, बिगड़ते हैं। यही अतीत और वर्तमान का क्रम है ; भविष्य की नहीं कही जा सकती...

कथाक्रम

निश्चय ही मुझे बड़ी चोट लगी थी। जिस व्यक्ति पर सदा बड़े भाई जैसा विश्वास रखा, जिसमें कभी लिखा पढ़ी या हिसाब किताब की नौबत नहीं पड़ी वही ऐसी बातें करे! खैर, इससे भी कड़ी ठोकरें लगी हैं और मैं बराबर संभलता रहा हूँ। और शंका का कारण होने पर सतर्क होने का आदी भी हूँ!...अतएव चुपचाप उनकी गतिविधि का सम्यक निरीक्षण करता रहा!

पाया मैंने यह कि मालिक ने मुझसे बोलना छोड़ दिया (पहले दिन में तीन बार तबियत पूछते थे!) आपस में लोग गुपचुप बातें करने लगे। मेंटल हास्पिटल के 'उचित व्यवस्था' के लिये बार बार ट्रंककाल होने लगे...पहली बात समझ में आती थी: मालिक जब किसी अपने आदमी से नाराज होते थे तो बोलचाल बन्द...आखिरी बात से उलझन थी आखिर किसके लिये मेंटल हास्पिटल की गाड़ी आ रही है! सोचा मालिक से बातचीत कर ली जाय...

शाम हो चुकी थी, मालिक आफिस में ठेबै चिट्ठी पत्री उलट रहे थे।...

"का हो, हमरा से कौन कसूर भेल'इ हे जे बोलचाल बन्द कयले ह'?...साफ साफ कह' न की बात लेल नाराज ह'?...साफ बात अच्छा होव' हई!?...हम कभी तोरा से कोई भी बात छिपौलियौ...हमरा गाली भी देवे के रहतौ तो मुह पर देवौ...मन में मैल कभी न...तोहर चुप्पी देख के एक उपन्यास लिखे के मन होइत है—परिचय के २४ बरस—टाइटिल ठीक होत ई न—वैसे संस्मरण भी हो सक हई, जीवनी भी, जे चाह'—छापब' न?

किताब के अधिकारें ला न नाराज ह'? हम कभी इनकार कयलियौ...?...हमरा ई सब में कोई आसक्ति न हव'। भौतिक सुख सम्पत्ति के मोह हम कभी ना कयली।...लाव' कागज अबहिये लिख दियौ..."

मगर उन्होंने हाँ हूँ के अतिरिक्त कोई उत्साह नहीं दिखलाया। और मेरी उलझन ज्यों की त्यों रही।

तीन दिन बाद सोमवार को संयोग से एक ट्रङ्क और सुन सका। व्यवस्था की जरूरत अब नहीं है या इसी तरह कुछ। आखिर कौन ऐसा पागल है जिसके लिए मालिक इतने परीशान हैं। अचानक मन में एक बात कौंधी···मैं...? मुझे...?... बड़ा तीखा और अविश्वसनीय अनुमान था।...तो क्या साधू बाबा की सारी बात गलत है, क्या ये लोग इतने...कि मुझे पागलखाने में बन्द कर देंगे...नहीं, नहीं... हरदेव भाई को मैं २४ बरस से जानता हूँ...वह ऐसा नहीं कर सकते...हाँ चौबीस बरस, हरदेव सिंह स्वार्थी जितना हो, इतना पतित नहीं हो सकता,...पागलखाना, साधूबाबा की गुफा...हरदेव भाई...

मैं खिड़की के पास खड़ा होता हूँ...

नहीं, नहीं, सब कुछ संभव है, हरदेव सिंह बड़े आदमी हैं...सब कुछ कर सकते हैं...रुपये की गर्मी, रोब···उसमें २४ बरस घुल जाते हैं...मैंने कहा था, कपटाचार आज के जीवन की मुख्य शर्त है...और मुझ पर ही...

वहाँ, सामने लाठी लिए सिपाही क्यों खड़े हैं...बँगले की खबरदारी? मगर आज ही क्यों...?...समझा...बँगले में एक खतरनाक पागल रहता है ..सुरक्षा...या मुझपर सन्देह किया जा रहा है कि मैं भाग जाऊँगा !···हरदेव भाई···(आँखों से टप्-टप्)

खैर, फिलहाल मुझे मेंटल हास्पिटल नहीं भेजा जा रहा है...इस विचार से सांत्वना मिली.. दिन भर गुमसुम, अपनी खिड़की से उस कांस्टेबल को घूरता रहा... अपने को बार बार समझाया...हरदेव भाई मेरा अनिष्ट नहीं कर सकते···अब कुछ भय नहीं है, यदि उनका ट्रन्क काल सही था ..

किन्तु यह मेरा भ्रम था। मुझे बहुत बड़ा भय था...वह भी हरदेव भाई से?...

रात के नौ बजे खाना खाकर हारे मन से बिस्तर पर गया। मालिक आज रात कार से बाहर जायेंगे। मालिक की याद कर फिर मन खट्टा हो गया...मालिक अब मालिक हैं, हरदेव सिंह···हरदेव भाई नहीं....

साढ़े नौ बजे बिना कुछ बोले कालीशरण (यहाँ, पुस्तकायन के मैनेजर) मेरे सिर-हाने की टेबुल पर दूध का गिलास रख गये।...

दूध के दो घूँट, पर क्या स्वाद ऐसा होता है, कड़वा, कसैला...अब दूध एलक-लाइन होने लगा!...ग्लास में अनर्गल बम्पिङ्ग....(Bumping)

प्वायजनिंग...? नहीं...परिचय के चौबीस वर्ष...हरदेव भाई...ब्रोमाइड मिक्श्चर

...पहुँचे हुए महात्मा, तुम्हारे भाग्य में सन्यासी होना लिखता है...फलाना एना-सिन न खायल कर'...वह शख्स बाबा विश्वनाथ बनकर गुस्सा पीता है; ज्यादा दिन यह रोजगार करेगा तो...प्वायजन रेजिस्टिंग देह क्या होती है ?...सदाशिव बनियें; हलाहल...इतिहास की दो गतियाँ हैं दोनों द्वान्द्विक...अतीत का भँवर...प्रमाण, गिलास में कागज का लिफाफा डालता हूँ......नहीं, यह ठीक नहीं, अंगोछा भिगो दूँ...नहीं सूख जायगा, कहीं डिकंपोजिङ्ग प्वायजन न हो।

इसके बाद क्या हुआ मुझे होश नहीं..

भोर में लगभग चार बजे आँखें खुलीं, सर में ठंडी हवा का झोंका लगा तो मैंने समझा विष पच चुका है। मैं सदाशिव हो चला हूँ। कम्बल ठिकाने से ओढ़ लिया... बगल के कमरे से परिचित आवाजें सुनीं...

'ठंडा हो गया होगा...(मालिक के दुलरुए भतीजे)

'कौन कुकर्म इनने छोड़ा है, भ्रष्ट आदमी हैं (वही)

'सब कागज पत्रों पर इनका नाम...ऐसे तो सुनते नहीं...अपने को ईमानदार लगाते थे...कैसे ईमानदार हैं सो मैं...(मालिक के बड़े मैनेजर)

मुझसे पूछते थे, यह कहानी कैसी है, वो कविता कैसी लगी, रद्दी थी कूड़ा, मुझे लाचार प्रशंसा...(मालिक के सुपुत्र)

सुबह सात बजे डाक्टर आये। नब्ज पर हाथ रखा। मैं उठ बैठा। सभी भौंचक। किसी के मुंह बोली नहीं...बिस्तर से उतर कर डाक्टर की आँखों में आँख डाल कहा : 'मुझे जहर दिया गया था !'...उन्हें वहीं छोड़ कमरे में आया, बाहर बरामदे पर मैनेजर बैठे थे, उनसे कहा, जा रहा हूँ, संभव हुआ तो डी.एम.को बयान दूँगा...मैनेजर अवाक् बैठे रहे !

और, बयान मैं क्या देता। मेरी बात पागल की बकवास मानकर उड़ा दी जाती। उनका क्या बिगड़ता—उल्टे मुझे विधिवत सौदाई घोषित कर पागलखाने भिजवा देते। अतएव मुझे भागना था...उनकी पकड़ से दूर, कि सुरक्षित हो सोच विचार सकूँ...

लंबे डगों में बंगले से बाहर हुआ सड़क पर काफी दूर निकल गया...तब उन्हें चेत हुआ कि पागल को भागने देना उचित नहीं। काँसटेबल साहब लाठी संभाल कर दौड़े ...मालिक की जीप पर मैनेजर दौड़े...खतरनाक पागल है, जाने न पावे...जीप पास आयी, मैंने मैनेजर से कहा : हरी बाबू, आप जीप लौटा लें, वरना मैं यहीं प्राण

दे दूँगा, मैं मजिस्ट्रेट के यहाँ नहीं जा रहा हूँ। जाऊँ भी तो आपको भय नहीं है... आप बड़े आदमी हैं। रहम कीजिये मुझ पर...

उसके बाद मैंने सड़क छोड़ दी। जूता टूट गया, फेंक दिया, खेतों, परतियों से भागने लगा...इनमें होकर बाबू हरदेव सिंह की नीलामी जीप किसी तरह नहीं आ सकती थी। उन लोगों ने भी पीछा करना छोड़ दिया...

छः मील, आठ मील, दस मील...पाँव के तलवे फट गये लहूलुहान हो गये...एक अधबने मकान के पास रुका। रुका इसलिये कि एक डग चलना पहाड़ हो रहा था... बाहर चौकी पर बैठा, यह सोच कर हँसी आयी कि होश रखते भी कैसा पागलपन कर बैठा...पाँवों में असह्य दर्द था, देह में थकान...

दोपहर में मकान का मालिक आया। देखकर बड़ी सहानुभूति प्रकट की। मेरी आप बीती सुननी चाही। उसे इतना कहकर टाल दिया कि मेरे कुछ रिश्तेदार जबरदस्ती मुझे पागलखाने भेजना चाहते थे...सुन कर उसने उन धनलोलुपों को बड़ी वजनदार गालियाँ दीं...बाद में मेरे पाँव धो दिये...किसी लता की पत्तियाँ पीस कर चढ़ाईं, खाना लाकर दिया...यानी उस दिन और रात में उसका ही अतिथि रहा!

दूसरे दिन उस अपरिचित गाँव की सड़क के पुल पर बैठा था। एक लाठी बरदार सादी वर्दी-मैन भी पास ही आ बैठा; बातचीत हुई, कहा कि आप को थाने में बुलाया है...

थाने वालों ने मुझे शहर, पुस्तकायन के ब्रांच में पहुँचा दिया। कालीशरण बैठे थे, कुछ बोले नहीं, इधर उधर फोन किया : 'मिल गये'!

फिर तो बहुत से लोग मिलने या सिर्फ 'देखने' आये। एस.डी.ओ. आए, दारोगा आये, शहर के और और अफ़सर आये, मालिक के दोस्त आये— किसी ने बातचीत की, किसी ने बस एक नजर डाल ली, मानो किसी हिंस्र पशु को देख रहे हों; खैर...

सिर्फ प्रिंसपल वर्मा ने सहानुभूति पूर्वक बातचीत की। कहा—अब आप कहाँ रहियेगा? मेरे यहाँ चलिये...अपने डेरे पर पति पत्नी ने मिलकर मेरे घाव धोए, दवा लगाई, पट्टियाँ बाँधीं। उन्होंने मेरे कपड़े बदल कर, भोजन दिया और बिस्तर पर सुला दिया...

यह समाचार जब वहाँ पहुँचा तो मालिक ने प्रिन्सपल साहब को फोन किया : आपने बड़ा गलत काम किया । वह बहुत खतरनाक आदमी है, उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिये !...

मुझे मालकिन का फोन मिला : रउरा अपने डेरा छोड़ के उनका यहाँ काहे रह गेली...एक बार भेंट मुलकात कइल जायब...

मैंने इन्कार किया : अब भेंट मुलकात के की जरूरत हई !...

उन्होंने अनसुनी कर कहा : रउआ हमनी के बड़ा परेशान कयलियई...ऐसन हालत में चल गेल रहयई, (गर्भवती थी)

मैंने उत्तर दिया : और की करतियई हल, एतना दिन से नेह लगावल अकारथ गेल !

मालिक शाम को एस० डी० ओ० के साथ आये । एस० डी० ओ० साहब ने बाबू हरदेवसिंह का काफी नमक खाया है ! बाहर ही प्रिंसपल साहब से बड़ी देर तक विचार-विमर्श किया ।

जैसा वर्मा साहब ने पीछे बतलाया, मालिक और एस० डी० ओ० इस बात पर एक मत थे कि मुझे स्वतंत्र नहीं रहने दिया जाय, मैं खतरनाक पागल हूँ, मुझे जल्द से जल्द पागलखाने पहुँच जाना चाहिये !...किन्तु वर्मा साहब ने बीच में पड़ कर निश्चय कराया कि वे लोग मेरा पिण्ड छोड़ देंगे और मैं जहाँ चाहूँगा जा सकूंगा ।

इस बात चीत के बाद मालिक मेरे बिस्तर के पास आए :

खिसियाने से मुस्कुराहटपूर्वक : का हो की हाल हई...

: देखइते ह ...

: तू तो हमरा बदनाम कर देल...

: भगवान जान लयिन...

: तोहर समान भेज दियौ ?

: जैसन मन...

कथ.संहार

जमुहाई लेते श्रोता ने पूछा—तब ?

तब क्या ? पाँव के घाव ठीक होने पर वहाँ आया, आठ महीने बेकार रहा । काम मिलने में दिक्कत होती थी क्योंकि अपनी स्थिति बचाने के लिये बाबू

हरदेव सिंह मुझे सब जगह पागल घोषित कर आए थे। ...मगर भतीजा मेरा लायक है यहाँ अंग्रेजी दैनिक में संपादकीय करता है, अतः उसने अपने नालायक काका को शरण दी।

हाँ, बाबू साहब मेरे यहाँ भी आये थे कहा कि जासूसी उपन्यास पढ़ते पढ़ते आपका दिमाग फिर गया है!

क्यों न कहेंगे!... मेरे मरने या पागल होने का भी उनका काम सध गया है! मेरी किसी किताब के उन्होंने दस पन्द्रह संस्करण से कम नहीं किये! स्कूली पुस्तकें... ...अब देखना ...

श्रोता एक लंबी साँस लेता है। उसके मन में ईश्वर (वह आस्तिक है!) और संसार के प्रति गहरा असन्तोष है, उन सब असंगत और अनर्गल बातों के लिये जिनकी चाहना हम नहीं करते फिर भी जो घटती हैं। वह यह भी समझता है कि उनका असन्तोष निरर्थक है क्योंकि इतिहास की दो गतियाँ हैं, दोनों द्वान्द्विक।



लड़के

रघुवीरसहाय

दो भाई लड़ रहे थे ।

बड़ा छोटे को घिसीटता हुआ बड़ी दूर तक घास में ले गया : वहाँ जा कर छोटे ने बड़े ज़ोर से चीख मारी "छोड़ दे आः !" बड़े ने घबरा कर उसे छोड़ दिया । दूसरे क्षण कूद कर छोटे ने बड़े के दो घूँसे जमाये और दोनों फिर गुत्थमगुत्था हो गये ।

कुवेरिया थी । मैं मैदान में चित पड़ा हुआ था । जब ये दोनों लड़ते-लड़ते मेरे पास आ जाते तब कुछ मुझे भी सुनाई पड़ जाता "मार डालूँगा साले"..."तेरी ऐसी कम तैसी"..."हूँ"—और, "ले, और ले" धमाधम दो तीन घूँसे ।

शाम होती जा रही थी । आखिर ये कब तक लड़ेंगे—यह सोच कर मैंने दोनों को डपट कर बुलाया । उस वक्त छोटा बड़े की गरदन से लटक कर और पैरों से उस की कमर को जकड़ कर उसकी नाक दाँत से काटने ही वाला था : वह वैसे ही रह गया । उसे लटकाये लटकाये बड़ा मेरे पास आ खड़ा हुआ ।

मैंने छोटे को हुक्म दिया, "उतर ।"

वह बोला, "नहीं उतरूँगा, ये मारेगा"

अब बड़े से यह कहलवाना कि नहीं मारूँगा कोई आसान काम नहीं था । वह बड़ा होकर मार खा गया था और खिसियाहट की उस अवस्था को पहुँच गया था जहाँ किसी भी प्रकार की क्षमा दुर्बलता प्रतीत होने लगती है । उसने पैर पटक कर घोषणा की, "पतङ्ग मेरी है ।"

इस पर छोटा कूद कर उतर पड़ा । बोला, "मेरी है !"

"धत् ! तेरी है, लाया कौन था जा कर ?"

"तो इससे क्या हुआ ? अधन्ना किसने दिया था ?"

"और इकन्नी किसने दी थी ?"

यह तो अच्छी बात थी कि लातों से अब वे बातों पर आ गये थे, मगर मेरी समस्या यह थी कि अगर छः पैसे की पतङ्ग में एक आना एक का और दो पैसे दूसरे के हैं तो बिना यह हिसाब करे कि किसने पतङ्ग को कितनी देर तक उड़ाया और किसने कितना मजा लूटा, यह तय करना लगभग असम्भव था कि पतङ्ग किस के कब्जे में जाय।

मैंने अक्ल लड़ाई और सवाल किया, "डोर किसकी थी?"

मगर इससे समस्या और उलझ गयी क्योंकि डोर एक तीसरे लड़के की थी। गनीमत हुई कि वह यहाँ था नहीं।

मैंने अचानक निर्णय किया और बड़े से कहा, "इसे दे दे पतङ्ग।"

बड़ा कुछ सौम्य स्वभाव का था, इससे मेरा आदर करता था पर आज्ञापालन करने के पहले उसने विद्रोह किया, "हाँ! इसे क्यों दे दूँ? इकन्नी मैंने दी थी।"

"हाँ! और अधन्ना किसने दिया था?"

बड़ी मुश्किल थी। मैंने छोटे को समझाया कि तुम छोटे हो इसलिये तुमने अधन्ना दिया सो ठीक ही किया, मगर बड़े दद्दा का कहा मानना चाहिये और ज़िद नहीं करनी चाहिये। बड़े को समझाया कि छोटे भाई से कहीं लड़ते हैं, और तुम बड़े हो, तुम्हें तो इकन्नी देनी ही चाहिये थी। अब पतंग के पीछे तुम लड़ोगे तब तो हो चुका।

इस पर छोटे ने अपनी नुकीली ठुड्डी बाहर फेंक कर और आँखें नचा कर पूछा—"क्या हो चुका?"

मैं गम्भीर हो कर कहा, "चुप! जाओ, लड़ो नहीं: पतङ्ग अलग रख दो, कल उड़ाना।"

इस पर दोनों की ओर से जवाब आया, कि कल दूसरी पतंग लायेंगे उसे उड़ायेंगे।

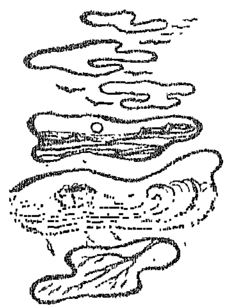
"यानी कल फिर झगड़ा करोगे?" मैंने उन्हें ज्ञान दिया, "क्या जरा सी बात पर झगड़ते हो? मान लो पटंग कट जाती तो उस का क्या होता?"

मुझे क्या मालूम था कि इस सूझ से सब समस्या सुलझ जायेगी। दोनों उछल पड़े और मैं तो समझा था कि फिर गुंथ जायेंगे पर दोनों ने किलकारियाँ मारीं—"फाड़ डालो—पतंग को फाड़ डालो!"

यह विचार मुझे बड़ा ध्वंसात्मक लगा पर मैं टोकता रह गया और वे दोनों ऊँची घास की तरफ़ भागे जहाँ पतंग को उन्होंने सहेज कर रख छोड़ा था। पतंग ला कर बड़े ने उसमें अपना पंजा घुसेड़ दिया। दोनों शोर मचा रहे थे जैसे किसी गढ़ पर धावा बोल दिया हो। छोटा आते हुये पीछे रह गया था, वह दौड़ कर आया और एक कोना जो साबित बचा था, नोच कर भागा।

मगर ज़रा दूर भाग कर ही वह लौट आया और कूद कर उसने बड़े की पीठ पर एक घूँसा दिया, और इस बार, बड़ी ज़ोर से, जिधर मुँह था उधर ही भाग चला।

बड़े का चेहरा तमतमा आया। पर उसने दाहिने हाथ से पतंग की चिंदी पकड़े पकड़े बायें से पीठ सहलायी और मेरी ओर मुस्करा कर कहा, "अ हा हा हा, ज़रा देखिएगा, इतना तेज़ भाग रहा है जैसे मैं इस को पिछवाऊँगा ही तो!"



उसका बिस्तर

मनोहरश्याम जोशी

वह दिल्ली एक मामूली सा क्लर्क हो कर आया। उसने किराये की एक जाफरी ले ली और उसमें रहने लगा। जाफरी में बस कर उसने कई वस्तुओं की कमी, कई वस्तुओं की आवश्यकता महसूस की। पत्नी की, अच्छे कपड़ों की, घड़ी की, सायकिल की, और भी बहुत सी चीजों की। इनमें से और सब को तो वह अच्छे दिनों के लिए स्थगित कर सका, मगर एक वस्तु की कमी को वह न टाल सका। उसका बिस्तर बिलकुल फटा पुराना था। और वह बिस्तर भी क्या था, न दरी, न चादर, बस एक मैली रजाई और एक उससे भी ज्यादा मैला गद्दा। दिन गर्मी के थे, उसे खुले में सोना होता था। उसके बिस्तर पर तमाम अड़ोसियों पड़ोसियों की निगाह पड़ती थी। गद्दे की जर्जरता को तो वह रजाई से छुपा देता था मगर रजाई की जर्जरता को कैसे छुपाता?

और एक दिन जब सवेरे सवेरे क्वार्टर के मालिक उससे बोले—'मेरी समझ में साहब आप अपनी तनख्वाह से एक नया बिस्तर बनवा डालिये।' तो उसने निश्चय कर लिया कि वह जैसे भी हो अपने लिये एक नया बिस्तर बनवा लेगा। उसने निश्चय तो कर लिया परन्तु अपनी उस मामूली सी तनख्वाह में उस निश्चय को कार्यरूप में कैसे परिणत करे? एक दिन बस का टिकट लेते हुए सहसा इस समस्या का हल सूझ ही गया। उसने पैदल दफ़्तर आना जाना शुरू किया, सुबह चाय पीना छोड़ दिया, और सिगरेट के स्थान पर बीड़ी पीना शुरू कर दिया। उसने हिसाब लगाया कि इस प्रकार अपने खर्चे में कमी करके वह दो माह में नया बिस्तर बनाने लायक रकम जोड़ लेगा।

और सच दो माह में उसने नया बिस्तर बनाने लायक रकम जोड़ भी ली। जब रकम जुड़ गई तो बिस्तर बनने में भी कोई देर नहीं लगी।

जब वह नये बिस्तर पर लेटा तब उसका हृदय संतोष से भर आया। उसने अपने हाथ पाँव लम्बे पसार दिये और गहरी गहरी साँसें भरीं। नये बिस्तर पर लेट उसने अनुभव किया कि तब तक वह कितने गंदे, कितने फटे पुराने बिस्तर पर सोता

था। इस अनुभव ने उसके संतोष को दुगना कर दिया। वह इस संतोष में डूबा हुआ था कि उसकी दृष्टि लान पर बिछी एक फटी दरी पर लेटे हुए मौनसिंह पर पड़ी। कुछ देर तक वह मौनसिंह के उस नगण्य बिस्तर को देखता रहा। फिर वह उठा और जाफरी से अपना पुराना बिस्तर उठा लाया। उसने वह बिस्तर मौनसिंह को बख्शीश कर दिया। पुराना बिस्तर बख्शीश कर जब वह अपने बिस्तर पर लेटा तो उसका संतोष पहिले से तिगुना हो चुका था। थोड़ी ही देर में नींद ने उसकी पलकें झुकाकर उसकी आँखें बंद कर दी।

दूसरे दिन वह अपनी आदत के अनुसार सवेरे पाँच बजे उठ गया। उठ कर पहिले उसे एक विचार आया कि बिस्तर समेट कर अन्दर रख आये, फिर उसने सोचा बिस्तर नहा धोकर उठा लूँगा। नहा धो लेने के बाद वह बिस्तर उठाने लान में आया। जैसे ही उसकी निगाह अपनी खटिया पर पड़ी उसका दिल धक् से रह गया। खटिया पर उसका बिस्तर नहीं था। उसे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ लेकिन वह अविश्वास भी करता तो कैसे? खटिया पर उसका बिस्तर नहीं था, नहीं था।

घण्टे भर की दौड़-धूप और पूछ-ताछ ने उसके रहे सहे अविश्वास भी समाप्त कर दिये। सच उसका नया बिस्तर, अभी कल ही लाया हुआ बिस्तर, केवल एक ही रात सोया हुआ बिस्तर, जैसे जैसे रकम जोड़कर बनाया हुआ बिस्तर, चोरी हो गया था। इस ज्ञान से उसके हृदय में एक विचित्र, बड़ी सी, गले को रुंधा देने वाली भावना उदय हुई। उस भावना का वर्णन करना सम्भव नहीं है। वह कई छोटी छोटी उप-भावनाओं एवं स्मृति-चित्रों से बनी हुई एक भावना थी, और ये उपभावनाएँ उसकी इतनी अपनी थीं, उसकी गरीबी तथा उसके जीवन से इस बुरी तरह लिपटी उलझी थीं, कि उनको सुलझा कर औरों तक पहुँचना मुश्किल, दरअसल असम्भव ही था।

तो कोई आश्चर्य नहीं कि, उसके दफ्तर के सह-कर्मचारी, उसके अड़ोसी-पड़ोसी, उसके मित्र, जिन जिन से उसने अपना दुःखड़ा रोया कोई भी उसकी व्यथा की गह-राई तक न पहुँच सके। यह नहीं कि उन्होंने उसकी परेशानी को सुना ही नहीं। उन्होंने सुना और खूब सुना, सहानुभूति भी प्रकट की, पुलिस वालों को मुक्तकंठ से गालियाँ भी दीं, पुरानी चोरियों की चर्चा भी की, चोर का अता-पता बताने में शर्लक होल्मस् से होड़ भी ली, लेकिन......लेकिन न जाने क्यों उसे लगा कि; ये सब ऊपरी दिल से बातें कर रहे हैं। और फिर कुछ भी हो इन बातों से उसका चोरी हुआ बिस्तर

तो न लौट सका, और न वह बातचीत उसके लिये नये बिस्तर का प्रबन्ध कर सकी।

उसका बिस्तर......उसका नया बिस्तरा। सारा दिन उसे अपने बिस्तर का खो जाना खलता रहा, सारा दिन कोई रह रह कर उसके दिल में जोर की चिकोटियाँ भरता रहा, सारे दिन उसकी आँखों की कोरें ढुलकने की आशा संजोये हुये आँसुओं से चमकती रहीं।

खैर दिन किसी तरह कटा, और फिर रात आई। रात आई, बिस्तर के खो जाने के दुःख का तीखापन और भी बढ़ गया। सोचते सोचते उसकी अक्ल हैरान हो गई मगर फिर भी वह यह न सोच पाया कि कैसे वह उस रात को तथा आने वाली रातों को गुजारेगा? नया बिस्तर बनाने के लिये तो उसके पास रकम थी नहीं। उसका माहवारी बजट तो इस हाथ ले उस हाथ दे के नियम पर चलता था। उसमें आकस्मिक व्यय के लिये कोई गुन्जाइश नहीं थी।

"मान लो", उसने सोचा, "मान लो कभी मुझे एकाएक रुपयों की ज़रूरत पड़ जाये, उदाहरणतया माँ की तबियत खराब हो जाये, तो मैं रुपया कहाँ से लाऊंगा? नहीं ला सकूँगा न? तो फिर क्या होगा? मेरी माँ मेरा नाम पुकारते पुकारते मर जायेगी और मैं......।"

उसने इस विचार को अधूरा छोड़ दिया। यह विचार खौफनाक था। "मगर गरीबी तो खौफनाक चीजों को जन्म देती है।" उसके मस्तिष्क में विचार उठा, "गरीबों के ऊपर, मुझ ऐसे गरीबों के ऊपर किस्मत सबसे कड़ी मार करती है। अब यह देखो न; मेरा नया का नया बिस्तर चोरी हो गया। कैसा गुदगुदा मुलायम बिस्तर था। अब मैं किस पर सोऊंगा? खाली खटिया पर? लोग क्या कहेंगे? और लोग कुछ चाहे न कहें मूँज की खुरदरी रस्सियां जो उसके शरीर को छील डालेंगी सो?"

फिर उसे ख्याल आया कि इस तरह सोच कर तो उसका बिस्तर वापस मिल नहीं जायेगा।

"तो मिलेगा कैसे?" उसने अपने आप से झुंझला कर कहा।

"मिलने का सवाल ही कहाँ है?" बुद्धि ने उत्तर दिया, "वह तो सदा सदा के लिए खो गया।"

बुद्धि के निर्मम स्वर ने उसके मस्तिष्क को एक क्षण के लिये विचारशून्य कर दिया। लेकिन विचारशून्यता का यह एक क्षण बीता कि उसे अपनी गरीबी तथा उस गरीबी से बंधी बेबसी पर गुस्सा चढ़ने लगा। उसकी तबियत हुई कि किसी को जाकर खूब मारे, खूब मारे, खूब मारे और उसकी हड्डी पसली एक कर दे।

पर फिर सहसा गुस्से के उच्चतम शिखर पर पहुँचते न पहुँचते बस और बिल्कुल नीचे आ गिरा। अब उसे किसी को मारने की इच्छा न रही, अब वह रोना चाहने लगा। और वह शायद रो भी देता अगर उसी समय क्वार्टर के मालिक न आ गये होते।

वह आये और बोले, "कहिये जनाब अब सोने की तैयारी है ?"

"मेरा तो...मेरा बिस्तर तो चोरी हो गया ना।" उसने रुआंसे बच्चे के से स्वर में उत्तर दिया। उसे अपने इस स्वर पर शरम आई। उसने अपनी बेबसी को झटक कर दूर फेंकने का प्रयास किया।

क्वार्टर के मालिक बोले, 'हां, आप सवेरे बता तो रहे थे। क्या बतलायें साहब ज़माना ऐसा ख़राब हुआ है कि जिसकी कोई हद नहीं। लोगों के बिस्तर चोरी होने लगे हैं ? और आपका बिलकुल नया बिस्तर था ना ? शिव ! शिव ! क्या कहें साहब कुछ कहना नहीं आता। आज जिधर देखिये उधर बेईमानी फैली हुई है। चरित्र नाम की वस्तु तो दुनिया से गायब हो गई। इस घोर कलयुग में जो न हो सो कम है।"

फिर कुछ व्यावहारिक होते हुये उन्होंने प्रश्न किया, "आपके पास बिछाने को अपना पुराना बिस्तर तो है ना ?"

"हाँ।" उसने साफ झूठ बोल दी।

क्वार्टर के मालिक बोले, "तब ठीक है। वरना साहब मैं बहुत हैरान था कि आपके सोने के लिये क्या इंतजाम करूँ ? बात यह है कि मेरे घर में बस गिने गिनाये बिस्तर हैं, एक में मैं सोता हूँ, एक में घर वाली और मेरी छोटी बच्ची, एक में लड़का, एक में लड़की बिमला, एक में"......

"मेरा कुछ हो ही जायेगा।" वह क्वार्टर के मालिक की बात काटते हुये बोला, "आप कोई चिंता न करें।"

"नहीं साहब, अगर कोई जरूरत हो तो आप तकल्लुफ न बरतें, मेरे घर में जो कुछ भी है उसे अपना ही समझिये।" क्वार्टर के मालिक बोले और फिर उसे चुप रहता देख, बिना बात आगे बढ़ाये, "हरी ओ३म" कह डकार भरते हुये अपने क्वार्टर के भीतर दाखिल हो गये।

क्वार्टर के मालिक के चले जाने पर उसने अपनी जाफरी का दरवाजा भीतर से बंद कर दिया और फिर वह हथेलियों से मुँह ढाँपे फर्श पर लेट गया। वह उस मनोवस्था पर आ पहुँचा था जहाँ आदमी सोचने लगता है कि उसका दुःख बस उसका अपना है, कि वह दुःख बाँटा नहीं जा सकता।

फर्श पर लेटे लेटे वह इरादों के ताने बाने में उलझता रहा कि वह रात फर्श पर लेटे लेटे ही काट देगा, कि वह अब किसी से बिस्तर के बारे में बात नहीं करेगा, कि वह अब जल्दी ही एक दिन इस मनहूस और अमानुषी शहर को छोड़ कर अपने गाँव चला जायेगा, कि...........और न जाने क्या क्या।

वह उधेड़बुन में लगा था कि किसी ने उसकी जाफरी का दरवाजा खट खटाया। कुछ देर तक वह दरवाजे पर होती खट खट को सुनता रहा, फिर उसने एक रूखे स्वर में पूछा, "कौन है?"

"मैं हूँ बाबू साहिब, भौनसिंह। जरा दरवाजा खोलिये।" बाहर से आवाज आई। वह जल भुन कर उठा और दरवाजा खोल दिया। उसकी आँखों ने भौनसिंह की आँखों को गुस्से से देखा, जैसे वह कह रही हो, "ऐ जी, तुम मुझे क्यों परेशान करते हो?"

"आपका बिस्तर खाट पर बिछा दिया है।" भौनसिंह बोला।

"मेरा बिस्तर? खाट में?", उसका गुस्सा आश्चर्य में परिणित हो गया, "मेरा बिस्तर तो चोरी हो गया है।"

"आप जा कर देखिये तो बाबू साहब!", भौनसिंह ने कहा, "मैं आपकी खाट पर बिस्तर बिछा आया हूँ। आइये अब तो सोने का वक्त भी हो गया है।"

और उसने जा कर देखा। देखा कि उसका अनुमान सत्य ही था, उसकी खटिया पर उसका पुराना बिस्तर बिछा हुआ था।

वह बिस्तर को देर तक ताकता रहा, यह सोचते हुए कि उसे क्या करना चाहिये। भौनसिंह उसके पीछे आकर खड़ा हो गया, उसके आते ही वह पलटा और बोला, "नहीं भौनसिंह यह नहीं हो सकता। यह बिस्तर तो मैं तुम्हें दे चुका हूँ।"

बुजुर्ग भौनसिंह ने उसकी कलाई अपनी हथेली में थाम ली और बोला, "क्यों नहीं हो सकता बाबू साहब?" यह कह कर वह मुस्कुरा दिया, एक अर्थपूर्ण मुस्कान, जिसमें उसका सारा विरोध एक ही क्षण में विलीन हो गया।

वह खटिया पर बैठ गया। कुछ देर तक खाली बैठा ही रहा। देखता रहा कि भौनसिंह अपनी उसी फटी पुरानी दरी पर लम्बा हो गया है। फिर वह लेट गया और उसने अपना चेहरा गद्दे से एकदम चिपका दिया।

और फिर गद्दे व उसकी आँखों के बीच आँसुओं का घना कुहरा छा गया।

काले डिब्बों की चरखी

केशवचंद्र वर्मा

दो दिन से मुझे बड़े बेहूदे सपने आ रहे हैं। छोटे छोटे चार पाँच काले डिब्बे एक चरखी में घूमते दिखाई पड़ते हैं। फिर उसी चरखी से बंगाली बाबू का हँसता हुआ चेहरा बन जाता है, ठीक उसी तरह जिस तरह आतिशबाज़ी की चरखी में पटाखे छूटने के बाद किसी नेता की हँसती हुई तस्वीर निकल आती है। उनके गाल और पामीर के प्लेटू सब कुछ दिखाई पड़ते हैं। फिर एकदम एक क्षीरसमुद्र उमड़ता दिखाई पड़ता है। काले डिब्बों की चरखी उसमें डूब जाती है और क्षीरसमुद्र में से मलाई की भाग उठने लगती है। एकाएक एक बड़ी सी काली मूँछ डकोटा-प्लेन की तरह आती है और मलाई की भाग समेट कर उड़ जाती है। मूँछें मेरे कान में घुस जाती हैं और मैं उसकी गुदगुदी से कान खुजलाता हुआ जाग पड़ता हूं।

बात महीने भर से ऊपर की है।

दरवाजे पर ही मेरे पाँवों को जैसे लकवा मार गया। सामने का कमरा देखकर उबकाई आ रही थी फिर भी नाक बन्द करके मुझे घुसना उसी में था। सामने टेढ़ी बेंड़ी तिरछी सीधी पाँच काली काली मेज़ों से कमरा भरा-भरा सा लग रहा था। मेजों पर एक एक पुराना सोख़्ता पड़ा हुआ था जिस पर मोटे मोटे लाइनदार बादामी रजिस्टर, किनारे पर एक दावात और एक होल्डर, एक छोटा सा काला डिब्बा और अनेक बिखरे हुए कागज़ रक्खे थे। मेज की खाली जगह गोंद की लंबी लंबी लाइनों से विभूषित थी। उन मेंजों के सहारे रक्खी हुई काठ की कुर्सियों पर कुछ पारलौकिक और आधिभौतिक मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। किनारे वाली मेज पर एक बहुत मोटे सज्जन विराजमान थे जिन्होंने शायद काम की सहूलियत के लिए मेज और अपनी तोंद में लगभग आध गज़ का फ़ासला रख छोड़ा था। उनके पास ही एक उगालदान जैसा मिट्टी का एक बर्तन रक्खा था जिसमें वे इतनी ही देर में कम से कम छः बार पान की पीक थूक चुके थे। उनके ठीक सामने एक सरदार जी थे जो गुरमुखी में छपा एक इकपन्ना अखबार बाँच रहे थे। तीसरे सज्जन देखने से खत्री

मालूम पड़ते थे। गोरा रंग, छोटी छोटी तितली मार्का मूँछें, चेहरे पर कुछ चेचक के दाग़, मझोला कद, कोट पतलून पहिने हुये थे जिनमें कोट के तीनों बटन बाकायदा बन्द थे। रह रह कर अपनी जेब से रूमाल निकालते थे और जोर से नाक साफ करते थे। उसके बाद वाली मेज खाली थी। उस पर उड़ सकने वाले कागजों को रेल की पटरी के नीचे बिछने वाले पत्थरों से दबा दिया गया था। रजिस्टर उस मेज पर नहीं थे। कमरे की चौड़ाई वाली दीवार में गांधी जी की तस्वीर लगी हुई थी जिस पर पड़ी हुई माला सूख गयी थी। उसके ठीक नीचे एक मेज और थी। यह मेज अपेक्षाकृत कुछ साफ़ थी। साफ़ इस माने में कि इस पर एक पुराना हरा नमदा बिछा हुआ था जिस पर लाल और काली रोशनाई के इतने धब्बे पड़े हुये थे कि नमदे का असली रङ्ग पहिचानना किसी रिसर्च वाले को डिग्री दिला कर ही छोड़ता। इस मेज पर रजिस्टरों की संख्या भी कम थी। कागजों को दबाने के लिए शीशे के एकाध टुकड़े भी दीख रहे थे। एक पुराना कलमदान था और आलपीन का एक कुशन भी था जिसका बुरादा दर्जनों जगह से झाँक रहा था। इस मेज पर एक अधेड़ उम्र के बँगाली सज्जन काम करते हुए दिखाई पड़े। दुबले, पतले, पोपले गाल, इलैस्टिक वाला गोलफ्रेमी चश्मा लम्बा कोट, धोती और पम्प-शू पहिने हुये वे सज्जन बार-बार दाहिनी हाथ उठा कर बाँए हाथ से बगल खुजला रहे थे।

मैं चुपचाप खड़ा कमरे का यह अद्भुत दृश्य देख रहा था, सहसा नीला कुरता और नीली पगड़ी बाँधे हुए एक जमादारनुमा कुली ने पूछा—

"क्या काम है? किसको देख रहे हो?"

"यहाँ कोई मुखर्जी साहब हैं? उन्हीं से मिलना है?"

नीली वर्दी ने मुझे ले जाकर उन्हीं बँगाली सज्जन की मेज के सामने खड़ा कर दिया। उन्होंने पूर्ववत् अपनी बगल खुजलाते हुये नीची निगाह से कुछ पढ़ते हुये पूछा—

"क्या है? परची लाये हो तो बाबू के पास में ले जाओ न। सामान निकाल दो इनका।"

नीली वरदी ने कुछ गरम स्वर में कहा—

"नम्बर क्या है?"

मैं कुछ भी माजरा समझ पाने में अपने को असहाय पा रहा था। जाने क्यों उस बूढ़े बँगाली की टोन से मैं इतना नरवस हो गया था कि कुछ भी कहने सुनने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। कुछ एक क्षण खड़ा रहा। चुपचाप खड़े रहने

की मूर्खता जब मेरे अन्दर फिर साहस का स्रोत बनी तब मेरे मुंह से निकला—

"मैं मिस्टर डी० सी० मुखर्जी से मिलना चाहता हूँ। मुझे मिस्टर सिनहा ने भेजा है।"

बुढ़ऊ ने अबकी आँखें उठाईं और मेरी तरफ देखा। फिर अकारण कुछ ललक सी दिखाते हुए बोले—

"ओ हो अच्छा आप गिरीशचन्द्र बाबू हैं ? न्यू एप्वाइंटमेण्ट !"

"जी।"

"तो पहले कीश माफिक बोला था बाबू ? शीट डाउन, शीट डाउन प्लीज।"

तत्काल ही उन्होंने मेरा परिचय कमरे में बैठी हुई अन्य तीनों मूर्तियों से कराना प्रारम्भ कर दिया। वे कह रहे थे—

"हीयर ईज मिस्टर गिरीशचन्द्र। न्यू एप्वाईन्टमेंट। आपका हमारा दफ़्तर में नया आदमी आया है। फाश्ट किलाश एम० ए० किया है। सिनहा साहब बोला है जे बोत अच्छा आदमी है। और बाबू गिरीश बाबू—ऊ देखिए कोना पे मिस्टर ब्रिजलाल बाबू हैं, उसका पश्चात् आप हैं सरदार शँत सिंह और अपना ये रश्तोगी बाबू हैं।"

मुझे आश्वासन देते हुए बोले—

"शाब ठीक है। शाब आपनाई आदमी हैं। कोई घबड़ाना नहीं। कुछ फिकिर का बात नेई है। चार दीन में तोमरा काम फ़ाश्ट कीलाश होइ जाइगा। कुछ फिकिर का बात नेई है।"

खाली वाली मेज के पास मुझे ले जाकर बँगाली बाबू ने मुझसे कहा—

"आपना की जे टेबुल है। ईश पर आप बैठो। अरे बैठो बैठो न। ईश तरह का मुरूवत करना शे जे रोज रोज का काम किश माफीक चलेगा ? बइठो न।"

मुझे हिचकिचाते देख बंगाली बाबू ने जबर्दस्ती उस काठ की कुर्सी पर बिठा दिया। उन्होंने मुझे काम करने के कुछ नुस्खे बता दिये और बाकी सीख लेने का तरीका बताकर वे अपनी कुर्सी पर जा बैठे। नीली वरदी ने मेरी मेज को एक पुराने झाड़न से पोंछने के बहाने उस पर काफी गर्द लगा दी थी। रजिस्टर से उसे झाड़ा, फिर मैं चुपचाप उसी काठ की काली कुर्सी पर बैठ गया। मेज को पहले ही देख चुका था, उसमें नया कुछ नहीं देखना था। हाथों में 'रीडर्स डाइजेस्ट' की एक प्रति थी। बैठा बैठा उसे उलटने लगा।

मेरे सामने एक लेख था। 'प्लैनिंग फॉर योर फ्यूचर'। पन्ने पर निगाहें जमी हुई थीं, दिमाग सिर पर चल रहे बिजली के पङ्खे की तरह नाच रहा था। जान-तोड़ कोशिश करके एम० ए० अच्छी तरह पास किया था। सोचा था कि जैसे गंगा की एक डुबकी स्वर्ग के सभी रास्तों का पासपोर्ट देती है वैसे ही मेरी एम० ए० की डिग्री निकलेगी—नौकरी के सभी दरवाजे मेरे सामने 'खुलना शम शम' कहते ही खुल जायेंगे। कोशिश यूनिवर्सिटी और डिग्री कालेजों की मास्टरी से शुरू की। बहुत दिनों तक तो अपने बारे में यह मुगालता बना रहा कि मैं योग्य हूँ और योग्य आदमियों की हमारे देश को जरूरत है। मगर ज्यों ज्यों अपनी कोशिशों का फल देखता गया त्यों त्यों इन दोनों ही बातों पर से भरोसा उठता ही गया। समझ गया—या तो मैं योग्य नहीं हूँ या फिर यहाँ योग्य आदमियों की जरूरत नहीं। जान बड़ी साँसत में थी। दोनों ही बातें समझ कर भी समझना नहीं चाहता था मगर आस पास की दुनिया थी कि जनाब समझाने को जैसे उधार खाये बैठी थी। बाबू जी ने चूँकि इस 'जीवन-बिरवे' को सींचा था और पाल पोस कर बड़ा किया था—इसलिये वह यह चाहते थे कि मैं तत्काल कोई नौकरी हासिल करके अपनी 'इहलीला' दिखाऊँ!! वे मेरी नौकरी के लिये सिफारिश का जोर चाहते थे और मैं बिना सिफारिश वाली नौकरी चाहता था। छः महीने तो इसी कसरत में बीते। न वे सिफारिश जुटा पाए—और न मैं बिना सिफारिश वाली नौकरी।

आखिरकार एक दिन उन्होंने मुझे यह खुशखबरी सुना ही दी कि उनकी सिफारिश काम कर गई है और मुझे स्थानीय माल-गोदाम के दफतर में एक क्लर्क की जगह मिल जायगी। यूनिवर्सिटी का ताजा दिमाग—हर वक्त स्ट्राइक, भूख हड़ताल, और क्लास में जूता घिसने के अन्दाज़ में जो जिन्दगी को सोचता हो, उसे यह माल गोदाम की क्लर्की कुछ जमी नहीं। "हाँ, हूँ" कुछ नहीं की—इसलिये भी कि बिना सिफारिश वाली नौकरी ढूँढ़ने में मैं फेल हो चुका था। माँ ने मेरी यह हालत ताड़ते हुये कहा—'शायद यह क्लर्की नहीं करना चाहता! बाबू जी ने वकीलों की मानिन्द कहा— 'नहीं करना चाहता तो आगे न करेगा। अरे भाई, खाली बैठे रहने से तो दिमाग खराब हो जाता है। जब इसे कोई अच्छी जगह मिले तो इसे छोड़ दे। आखिर इसे वहाँ कौन बाँधकर बिठा लेगा।' मेरे पास कोई तर्क नहीं था।

सहसा मेज पर रक्खे काले डिब्बे में खटाक की एक आवाज से मेरा ध्यान टूट गया। किसी ने पैसा डाला था। निगाह उठाई तो सामने एक अधेड़ उम्र के सज्जन पैंजामा कमीज पहिने हुये खड़े थे।

"साहब, यह रसीद है। माल आ गया होगा। निकलवा दीजिये।"

मैं जब तक कुछ कहूँ, तब तक बगल में बैठे हुये तितली मार्का मूछों वाले रस्तोगी जी ने उस आदमी को अपनी तरफ बुलाते हुये कहा—

'इधर लाइये, इधर लाइए ! अभी आप नये नये आये हैं। लाइये, अपना काम इधर लाइए। क्या है ?'

वह सज्जन रस्तोगी जी की ओर बढ़ गए। रसीद लेकर उन्होंने नीली वरदी से सामान निकाल देने के लिए कहा। आदमी उस कुली के साथ चला गया। रस्तोगी जी ने मेरी ओर देख कर कहा—

"अभी आप नए नए आए हैं। जरा सम्हल कर रहिएगा। यहाँ के आदमी बड़े ही बदमाश हैं साहब। उनसे उसी तरह जरा कैंड़े से बात करनी होती है। वैसे कोई बात हो तो फौरन बताइएगा। मैं सब ठीक कर दूँगा।"

मैं उन्हें धन्यवाद देकर फिर रीडर्स डाइजेस्ट में सिर डाल लिया। दिन भर लोग आते रहे और अनेक बार खटाक खटाक की ध्वनियां मेरे विचारों से टकराती रहीं, जैसे ऊपर चलने वाले पंखे के ब्लेड में कोई चीज बार बार लड़ जाती हो। दफ्तर का वक्त पूरा हो गया। धीरे धीरे तीनों ही आदमी—वे भरपूर मोटे सज्जन, सरदार जी और रस्तोगी जी बूढ़े बंगाली बाबू की मेज पर जमा हुये। सबके हाथों में मेज पर रक्खा हुआ अपना अपना काला डिब्बा था। मैं कुछ सशंक सा देख रहा था। दफ्तर का दरवाजा बंद हो चुका था। तीनों ने अपने हाथ के डिब्बे बंगाली बाबू की मेज पर उलट दिए। दो सौ के लगभग दुअन्नियाँ उनकी मेज पर दिखाई पड़ने लगीं। मुखर्जी बाबू ने हँस कर कहा—

"अरे बाबा, गिरीश बाबू को भी तो बुलाओ। आओ इधर आओ न गिरीश बाबू—मैं उठा और उनकी ओर बढ़ा। बंगाली बाबू ने आगे कहा—

"अरे आपका भी डिब्बा उठाय लाओ। देखो न, पोहिला दीन का कमाई है भाई।"

सब हंस पड़े। सरदार जी ने लपक कर मेरी मेज पर का डिब्बा उठा लिया। हल्का जानकर कहा—

"इसमें आज कुछ नहीं होगा बड़े बाबू।"

रस्तोगी जी ने बुझते दिये में तेल जैसा कमेंट किया—

'फिर भी कुछ न कुछ तो मिलेगा ही।'

मोटे आदमी ने, जिसका नाम ब्रजलाल बताया गया था, लपक कर सरदार के हाथ से वह डिब्बा ले लिया और बड़े उत्साह से उसे पलट दिया। कुल जमा एक दुअन्नी

गिरी। सब फिर हँसे। एक मैं चुप था। बंगाली बाबू ने सबका हिस्सा लगा दिया। उनके हिस्से में पचास आई, चार हिस्से तीस तीस दुअन्नियों के हुये और एक हिस्सा दस दुअन्नियों का हुआ। यह दस दुअन्नियों का हिस्सा शायद नीली वर्दी का था। बीस दुअन्नियाँ खोटी और खराब निकल गईं। सबकी ओर सबका हिस्सा बढ़ाते हुये मुखर्जी बाबू ने कहा—

"लीजिये, आज काफी कम रहा। थोड़ा बेशी धियान देने का जरूरत है। पब्लिक आप कर रही पैइशा डाल जाता है। ईशी का खातिर थोड़ा केरफुल रहना चाहिये।"

रस्तोगी जी ने अपने हिस्से की गड्डी में दुअन्नियों की परख करते हुए कहा—

"साहब! यहाँ के लोग हैं हा बड़े बदमाश। भला बताइये किया भी क्या जा सकता है? जरा चीं चपड़ कीजिये तो ये ससुरे रिपोर्ट करने पर तैयार हो जाते हैं। अब तो साहब—लोगों का जिभ्या खुल गया है। बस रिपोर्ट करने को तो जैसा उधार खाये बैठे रहते हैं। और ये सरकार भी उन्हीं की सुनती है। इसी से मैं कहता हूँ बड़े बाबू, जो कुछ सीधी तरह मिल जाय, वही बहुत समझिये।"

रस्तोगी जी की मूँछें उनके व्याख्यान की लय पर बुरी तरह ऊपर नीचे नाच रही थीं। हाँ, सरकार की बात करते हुये रस्तोगी जी ने अपना टोन जरा धीमा कर लिया था। पान की पीक मुँह में भरे ही भरे बाबू ब्रजलाल ने और सरदार साहब ने उनकी हाँ में हाँ मिलाई। बंगाली बाबू ने मेरी ओर दुअन्नियों की गड्डी बढ़ाते हुये अपनी आवाज को नर्म करके कहा—

"लीजिये न गिरीश बाबू। आज का आपका हिश्शा है।"

इस सारे व्यापार से मुझे घबड़ाहट लग रही थी। मैंने कहा—'मुझे माफ कीजिएगा। मैं नहीं लूँगा।'

चारों मेरी तरफ एकटक देखते रहे, बूढ़े बंगाली ने पूछा—

'क्यों?'

'ऐसे ही। मुझे जरूरत नहीं है। आप लोग लीजिये।'

मैंने अपनी मेज पर अपनी रीडर्स डाइजेस्ट उठाई और बाहर निकल आया।

दो तीन रोज के अन्दर मुझे पूरा राज पता चल गया। हर मेज पर रक्खा हुआ काला डिब्बा वेलकम का साइन बोर्ड था। जो भी आदमी अपना माल छुड़ाने आता था, उसे सबसे पहिले इसी काले डिब्बे का मुकाबिला करना पड़ता था। आते ही उसका पहिला काम यह होता था कि डिब्बे में एक दुअन्नी डाल कर वह ध्वनि उत्पन्न करे कि मेज पर का बाबू उसकी ओर आँख उठाकर देखे। खटाक की ध्वनि

जब तक न हो तब तक मेज़ पर का बाबू आँख नहीं उठाता था। यदि कोई दुअन्नी की स्वर-लहरी उठाये बिना अपना काम करने पर अमादा दिखाई पड़ता तो उसका माल सैकड़ों बन्डलों के नीचे दबा मिलता, या नहीं मिलता था, या आने के दो रोज बाद मिलता था या—या बहुत कुछ हो सकता था। यह काम नीली वरदी का था कि वह बिना कहे यह समझ जाय कि कब किसका माल फौरन देना है और किसका नहीं। शहर के लोग जो इस दुअन्नी टेकनीक से परिचित थे, उन्हें अपना माल पाने में ज्यादा झंझट का सामना नहीं करना पड़ता था। मेरी मेज का डिब्बा भी वक्त बेवक्त इन ध्वनि लहरियों से गूंजा करता था, लेकिन मैं उस पर ध्यान न देकर चुपचाप नीली वरदी के "माल आया, माल नहीं आया" कह देने भर से अपनी मुक्ति कर लेता था। हर शाम होते होते मैं कमरे के बाहर निकल पड़ता था। दूसरे दिन सुबह फिर खाली डिब्बा मेरी मेज पर रक्खा हुआ मिलता था।

महीना बीत गया। साठ रुपए की तनख्वाह मुझे भी मिली। दफ्तर का काम उसी लय में चल रहा था। सिर्फ एक फर्क मुझे अब दिखाई पड़ता था। सरदार जी, मोटे बाबू ब्रजलाल और तितली मार्का मोछों वाले रस्तोगी जी शायद मुझे घृणा की निगाहों से अब देखते थे। वे समझते थे कि मैं खाहमखाह उन पर रंग जमाने की और उनसे अपने आप को अलग साबित करने की कुचेष्टा कर रहा हूँ। वे तीनों आपस में बातें करते—कभी कनखियों से देखते और मैं चुपचाप या तो माल गोदाम के रजिस्टर या रीडर्स डाइजेस्ट में मुँह छिपाए बैठा रहता, शायद यह दिखाने की कोशिश करता था कि मैं कुछ भी नहीं देख रहा हूँ। एक दिन मेज पर रक्खे हुये काले डिब्बे से हाथ छू गया—एकाएक ऐसा लगा कि ए. सी. करेन्ट छू गई हो। सामने देखा—तीनों अपना काम कर रहे थे। सब की निगाहें बचाकर चोरों की तरह वह डिब्बा उठा कर मैंने अपनी मेज के नीचे डाल दिया।

दूसरे दिन सुबह जब फिर दफ़्तर पहुँचा तो मुखर्जी बाबू ने मुझसे कहा कि वे कुछ बातें करना चाहते हैं इसलिए दफ्तर बन्द होने के बाद मैं ठहर कर जाऊँ। मैं जानता था कि वे क्या बातें करेंगे। मेरी मेज के नीचे से उठकर वह डिब्बा फिर मेज के ऊपर आ गया था। सरदार जी मेरी तरफ घूर रहे थे। उनके देखते देखते मैंने डिब्बा उठा कर फिर नीचे रख दिया। मुझसे आँखें चार होते ही उन्होंने अपनी निगाहें चटपट अपने सामने के रजिस्टर पर गड़ा ली।

शाम का बंटवारा हो गया। तीनों अपने घर चले गये थे। मैं बाहर बरामदे में

टहल रहा था। इन तीनों आदमियों के जाते ही मैं भीतर घुसा। बंगाली बाबू मुझसे बातें करने के लिये बैठे थे। बड़े प्रेम से पास बैठाते हुये बोले—

"बइठो, बइठो न गिरीश बाबू। कहिये आपकी हालचाल कीश रोकम चल रहा है?" आँखों पर गोलफ्रेमी इलेस्टिक वाला चश्मा उतार कर धोती की एक कोर से पोंछते हुये आगे बोले—"भाई बात ई है न, कि हम शाब का घर तो रोज जा नेई सकता। शो हेंई पर शाब का हाल चाल पूछ लेता है। यू सी गिरीश बाबू दिस इज ए बिग फेमिली। आफिश का शाब लोग बोड़ो परिवार का माफिक है। हमरा के दूख तुम जानो, तोमरा के दूख शूख हम जानी..."

मैंने बीच में हुँकारी भरी। मुखर्जी बाबू चश्मे के शीशे को अब भी मांजते ही चले जा रहे थे...

"अभी तो तूम नया नया यूनीवर्सिटी से पास कीया है। जे फेमिली का रीशपोंशबिलिटी तूम नेई जानता। बाबा जितना इजी लाइफ आपना के जानी ऊतना नेई होता! हमारा फिफटी इयर्स का तजूरबा है।"

मैं चुपचाप सुन रहा था। पचास साल का तजुरबा मुफ्त हाथ आ रहा था। मैं ध्यान लीन हो गया। बंगाली बाबू ने बाँह उठाकर बगल खुजलाते हुए कहा—

"जब तोम्हारा फेमिली होइगा तब तूम समझेगा गिरीश बाबू। जब तोम्हारा चाइल्ड को दूध का जरूरत होगा, जब तोम्हारा जोरू का तन खातिर कपड़ा का जरूरत होगा तब तुम नेई बोलेगा कि जे हमरा का ईश काला डिब्बा का जरूरत नेई है। आपना व्हाइफ को तुम अच्छा फूड नेई देगा, वो बीमार होगा, अजार होगा, तुम ऊश को पीक्चर नेई ले जायगा, वो तुमसे नाराज होगा मगर ये साठ रूपिया में तुम कुछ नेई कर शकेगा। जब तोम्हरा शूट बूट खतम होइ जायगा, जब 'डी. एस.' तूम को शैची बोलेगा, तब तूम नाहीं कहेगा कि जे हमरा के काला डिब्बा का जरूरत नेई है। गिरीश बाबू। ई काला डिब्बा हमरा के कीशमत है, जब ओ आइ जाइ। हम मांगना खातिर नेई जाते। वो ही परमात्मा भेजता है।"

आज मैंने खुल कर विरोध कर देना चाहा—

"लेकिन देखिये बँगाली बाबू! यह तो बड़ी अजीब बात आप कर रहे हैं! आखिर तनख्वाह"........

कहते कहते जोश में मेरा हाथ पतलून की जेब में चला गया। हाथ में एक अठन्नी आ गई थी। तनख्वाह में से पचपन बाबू जी को दे दिये थे। पाँच रुपया अपने खर्च के लिये मिला था। साढ़े तीन साइकिल की मरम्मत में चला गया था।

एक रुपया शाम के नाश्ते में निकल चुका था। अब आठ आने बचे थे जिनमें महीने के बीस दिन अभी काटने थे। बँगाली बाबू ने बीच से ही मेरी बात काटते हुये कहा—

"तोनखाह ?.........शाठ शे नब्बे रुपिया ! हद्द जायगा हद्द जायगा तो एक शौ दश जायगा......शो भी हमरा के ऊमर में ! तुम यंग मैन है ! तोमरा के अन्दर अपना जवानी का एम्बीशन होगा ! कैसे आपना के गुजर करेगा ? यू कांट गाइज ! तुम पड़ा पड़ा शड़ेगा ! तोमरा पाश कोई तोरीका नेहीं होगा कि जे तूम आगे का बढ़ ! शाब पोइशा का खेल है गिरीश बाबू ! रश्तोगी बाबू पोइशा लेता है, वो ही पोइशा वो अपना चाइल्ड पर, अपना व्हाइफ पर खर्च करता है। शाब शूखी रहता है। ऊशका भी दफ्तर में मन लगता है। जे 'गूड-रिमार्क' पाता है ! जेब में चार छः नोट रहता है। जब डी० एस० आता है तब रश्तोगी बाबू वो ही पोइशा शे डी० एस० का खातिर तवाजा बोलता है ! तोमरा पाश पोइशा नेई है। तूम कोई को पान शिगरेट नेई खिलाएगा। चा नेई पिलायेगा ! तब बोलो न, तरक्की कौन करेगा, तूम कि रश्तोगी बाबू ? कैसे तूम अपना जिन्दगी पार करेगा ?......जे येई शाठ रुपिया मोहीना ?"

अपनी आँखों के सामने "थ्री डाइमेन्शनल" फिल्म बिना रंगीन चश्मे के देख रहा था ! आवाज और सामने की लीपापोती की हुई भविष्य की तस्वीरें ! घबड़ा कर मैंने सिर झटक दिया। नीली वरदी ने बाहर की एक गुमटीनुमा दूकान से दो प्याली चाय लाकर रख दी थी। चाय पीते हुये बँगाली बाबू ने फिर अपना संटीमेंटल भाषण शुरू किया—

"हमरा के जब ई शर्बिश ज्वाइन किया तब हम भी बड़ा बड़ा शपना लेकर हियाँ आया था। हमरा अंकिल बोला था जे हियाँ बड़ा बड़ा पाशीबिलटीज है, मानूश काबिल होये तो जे डी० एस० तक होने शकता है। पर शाला काबील शाबील किछू नेई ! शाब पोइशा का खेल है !"

उनकी बातें ऐसी नहीं थी जो मेरी समझ के बाहर रही हों ! क्लास में तो मैं इससे भी टेढ़ी बातें समझने के लिये मशहूर था ! फिर भी मैंने आखिरी जोरदार तर्क दिया जिससे वे डर कर ही मेरी बात मान जायँ !

"बात यह है बंगाली बाबू ! कि मैं यह मान लूँ कि आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब ठीक है, फिर भी आपको पुलिस का डर तो होगा ? आजकल एंटीकरप्शन वाले सब जगह घूमते रहते हैं। कहीं एक दिन आकर किसी ने दबोच लिया तो हम सब के सब कहीं के न रहेंगे।"

मेरी वह दलील सुनकर बंगाली बाबू फिर बाँह उठाकर बगल खुजलाते हुए बड़ी जोर से हँसे। उनके पोपले गाल हँसी के फौवारे से उसी तरह फूल गये जैसे एकाएक किसी भूकम्प से कैस्पियन सागर में पामीर का प्लेटो निकल आये। उनकी इस बेतरह हंसी से मैं घबड़ाया हुआ था। सोच रहा था कि मैंने सचमुच कोई बड़ी बचकानी दलील दी है। बंगाली बाबू बोले—

"आ रे गिरीश बाबू वाह !! ठीक है, ठीक है। तूम नया नया यूनिवर्सिटी से आया है।...अच्छा सुनो...एक कीस्सा सुनो।

"बहोत दिन पोहिले का बात है जे हमरा कलिकता में एक टो सेठ था। ओई को एक दीन मोलाई खाने का शौक हूआ। बोला जे ईश का वास्ते एक टो नोकर होना चाही जे हमको रोजीना दुइ आना का मोलाई लाय कर खिलावे। नोकर का तोनख्वाह बोला जे एक रूपिया मोहीना। नोकर जब एक रुपिया मोहीना में भूखा मरने लगा तब ऊसने एक चालाकी बोला। वो रोज एक आना का मोलाई सेठ खातिर लावे और एक आना दबाय ले। सेठ को शक पड़ा कि ई नोकर जरूर कुछ पोइशा खाता है। से एक नोकर सेठ ने इस खातिर दुइ रुपिया का और लगाया कि वो देखे कि मोलाई लाने में सेठ का नौकर कीतना पोइशा खाता है। नोतीजा हूआ जे दूनों नोकर मील गए। बड़ा नोकर बोला, जे छोटा नोकर एक आना हमको देव दुइ पोइशा तूम लेव और सेठ को शिरफ दुई पोइशा का मोलाई लावो। अब सेठ दुइ पोइशा का मोलाई खाने लगा। धीमे धीमे जब सेठ दुइ पोइशा का मोलाई खाता खाता घबड़ाइ गया तो उसको फीर शक पड़ा कि जे ई दूनों नोकर पोइशा खाता है! जे अब की बार सेठ ने तीन रुपिया का एक और नोकर रक्खा जिसको ऊ बोला जे तूम ईन दोनों नोकर का बादमासी पकड़ो। ई तीसरा नोकर पढ़ा लिखा चालाक मानूस था। ई दूनों नोकर को बुलाया और पूछा जे ठीक ठीक साच बात बोलो नाहींतो तुमरा के जे करूँगा, जे करूँगा और जे करूँगा। छोटा नोकर बड़ा नोकर दूनों डर का मारे साच ठीक ठीक बोल दिया। तब सबसे बड़ा नोकर बोला जे सुनो। अब से एक आना हमको देव, दुइ पोइशा बोड़ा नोकर और एक पोइशा छोटा नोकर को मिलेगा। बाकी एक पोइशा का मोलाई सेठ को हम खिलाएगा। ईश को सून कर छोटा नोकर और बड़ा नोकर बोला 'जे सरकार। एक पोइशा का मोलाई शेठ कइशे खायगा। ओ बोड़ा हल्ला-गुल्ला करेगा।' मगर शाब से बड़ा नोकर तो पढ़ा लिखा चालाक मानूस था न! वो बोला—'तूम किछू चिन्ता मत करो। अपना पोइशा ले लो और हमरा के पोइशा हम के दे दो। हम शाब ठीककर देगा।" अब शाब से बड़ा नोकर क्या किया कि जे घेले का मोलाई का झाग लाया और घेले

का सोने का नींद का नशा लाया। शेठ के पीने का पानी में ओही मिलाय दिया। शेठ नशा पीकर नींद में खोइ गया। तब वो ही नोकर ने ऊश भाग को शेठ का मूँछ्रा में खूब मल दीया। दूसरे दिन शेठ शाब से बड़ा नोकर को सुबह बोलाया और बोला जे उसका मोलाई रात में नोहीं आया। सबसे बड़ा नोकर बोला कि 'हजूर आप नींद में था—मोलाई आप खाया था...भूल गया है आप। आपका मोंछ्रा पर अब तक मोलाई का भाग लगा हुआ है। अब तो शरकार आपका शभी नोकर जे बहोत इमानदारी से काम करता है। आपका फिजूल शक पड़ गिया।' शेठ आइना देखा तो मोलाई का भाग ऊसके मोछ्रा में इधर उधर फंसा था। शेठ शमझ लिया कि जे ओ मोलाई खाय चुका है। ईश माफिक शेठ ने छोटा नोकर की तनखोह नोहीं बढ़ाई, बलुक ऊशका ऊपर और ज्यादा पोइसा का नोकर लगाता चला गिया। नोतीजा जे हुआ कि तीनों मील कर सेठ का माल खाने लगे। और शेठ का जो मोलाई मिलता था ऊससे भी वो हाथ धोया। शिरीफ ऊशका मोछ्रा में मोलाई का भाग रह गिया।... किछ् समझा गिरीश बाबू ?'

मैं अब बंगाली बाबू की बेतहाशा हँसी का कारण समझ रहा था। उनकी निगाहों में मेरी दलील सचमुच बचकानी थी। मेरी जवान मुन्न थी पचास साल के तजुर्बे के सामने मेरे क्लास के तमाम सुने हुये भाषण एकदम बेकार लग रहे थे।

बंगाली बाबू उठ खड़े हुए—"चलो...चलो न। गिरीश बाबू! उठो उठो न।" मेरी पीठ थपथपाते हुये बोले—"अब काल से तोमरा मेज पर ओ काला डिब्बा धराय देगे ? हैं न।"

'हाँ, हूँ,' करते करते मैं बाहर आ गया।

दो दिन से मैं कैजुअल-लीव लिए बैठा हूँ। दफ्तर जाने की हिम्मत नहीं पड़ रही है। जरूर वह काला डिब्बा मेरी मेज पर चढ़ आया होगा। दो रात से बराबर वे काले डिब्बे एक चरखी में घूमते दिखायी पड़ते हैं। उन्हीं काले डिब्बों के चक्कर से बंगाली बाबू का वह हंसता हुआ चेहरा बन जाता है जिसमें उनके पोपले गालों में पामीर के उभरे हुये प्लेटू दिखायी पड़ते हैं। फिर एकदम क्षीर समुद्र दिखायी पड़ता है। वे काले डिब्बे खो जाते हैं और देखता हूँ कि मलाई की झाग उठ रही है। एकाएक एक बड़ी सी काली मूँछ डकोटो प्लेन की तरह आती है और मलाई की झाग समेट कर चली जाती है। मूँछें मेरे कान में घुस जाती है और मैं उसकी गुदगुदी से कान खुजलाता हुआ जाग पड़ता हूँ।

बाबू जी कहते हैं—

"दफ्तर से छुट्टी लिये क्यों बैठे हो ? नई नई नौकरी में बिना मतलब छुट्टी लेना अच्छा नहीं।"

"मैं कहता हूँ---मेरी तबियत ठीक नहीं है ।"

"क्या ठीक नहीं है ? आखिर हुआ क्या है ?" वे पूछते हैं। मेरे पास कोई जवाब नहीं है।

"आजकल के लौंडे काम से भागते हैं। जी चुराते हैं।" कहते हुये आंगन में चले जाते हैं।

मेरे पास इसका भी कोई जवाब नहीं है।

सानेट

त्रिलोचन

बन्धु प्रशंसा की है मैंने सदा गधे की
कितना सहनशील होता है, लाज नधे की
ढोता है, हिलमिल कर साथ-साथ चरता है
कितना सामाजिक है, यह है चाल सधे की

सिंह जङ्गली होता है, उससे डरता है
सारा जग, दुनिया का कौन भला करता है ?
फिर उसका क्यों गुण गायें ? क्यों बड़ा बतायें ?
पोस मानता नहीं अकड़ लेकर मरता है

और गधा यह मारें पीटें और सतायें
जितना जी चाहे, मनचाही घात घतायें
क्या जाने विरोध, कहते हैं इसे शिष्टता
जैसा जी चाहे जीवन के सूत कतायें

मानव की संतति में केवल बची धृष्टता
उत्कृष्टता गई, आई है अब निकृष्टता।

दो लघु-कथाएं

हरिशंकर परसाई

गधा और मोर

नगर के बाहरी हरे मैदानों के बीच एक खंडहर में कुछ गधे निवास करते थे। वहीं आकर कुछ कुत्ते रहने लगे।

गधों से उनका खूब परिचय बढ़ गया। गधों के लम्बे कान उन्हें खूब अच्छे लगते थे। जब गधे घास चर कर उल्लास से चीपों-चीपों करते तो कुत्तों को ध्रुपद-राग का मजा आता। जब वे धूल में लोटते तो कुत्ते उसे कलामय नृत्य समझकर आनन्दित होते। जब वे आपस में दुलत्ती झाड़ते तो कुत्ते उस शौर्य पर बलि-बलि जाते। जब वे पेट भर घास चर कर खंडहर के कोने में अपने अधखुले नयन भूमि में गड़ाये, समाधि मुद्रा में निश्चल खड़े हो जाते तो कुत्ते उन्हें गंभीर चिन्तन में रत जान मौन बैठे रहते।

गधों को वे खूब जानते थे। वे उनके अपने थे। प्राणियों में गधा उनके लिये आदर्श था।

एक दिन—

आकाश में काले-काले मेघ उमड़ आये और हरित भूमि पर जब उनकी श्यामल-छाया पड़ी तो वहीं पास में रहने वाले एक मयूर का मन नाच उठा।

और जब पुरवैया का स्पर्श हुआ तो उसका शरीर पुलक से कंटकित हो गया।

उसने सोचा—ये कुत्ते बेचारे बड़ा नीरस और उदास जीवन जीते हैं। इन्हें गर्दभों की संगति भुगतनी पड़ती है। आज जब संपूर्ण प्रकृति खिलखिला रही है मैं तनिक इनके पास जाकर नृत्य करके इनका मन रिझाऊँ।

मयूर ने कलगी ठीक की और कुत्तों के पास आया।

कुत्तों ने उसे देखा। वह उन्हें नया लगा। अद्भुत लगा। विचित्र लगा।

हर नयेपन पर भौंकने का कुत्तों का स्वभाव बन गया था।

एक कुत्ता चिल्लाया—"भौं-भौं"। यह कौन है? चारों ओर से कुतूहल और जिज्ञासा भौंकने लगे—"भौं-भौं-भौं!"

दूसरा कुत्ता चिल्लाया—"भौं भौं-भौं! इसे तो कभी देखा नहीं। नया-नया मालूम होता है। न जाने कौन है?।"

तीसरे ने कहा—भौं-भौं-भौं। ठीक कहा। गधे का रङ्ग एक होता है। यह बहुरङ्गी है। यह कमती मालूम होता है यह तो हमारा जाना पहचाना नहीं है। यह विचित्र है। अद्भुत है।"

इसी समय मयूर ने नृत्य के पहिले की किलकारी मारी।

कुत्ते एक स्वर से चिल्लाये—भौं-भौं भौं!। यह तो गधे जैसा नहीं रेंकता! यह कौन है?

मयूर चकित था। फिर भी वह पङ्ख फैलाकर नृत्य की मुद्रा में आ गया।

कुत्ते फिर चिल्लाये—"भौं भौं भौं भौं भौं भौं! अरे इसकी पीछे की टाँगें तो उठती नहीं हैं। यह दुलत्ती तो झाड़ता नहीं है। यह भूमि पर तो लोटता नहीं। यह जरूर बुरा है। गधे को हम जानते हैं; गधा अच्छा होता है। यह जरूर खराब है। इसे भगाओ यहाँ से।"

इधर मयूर पङ्ख फैला कर नृत्य करने लगा।

उधर वे सब कुत्ते—भौं भौं करते हुए उसे घेरने लगे।

वे भौंकते-भौंकते उसके पास सिमटने लगे। चिल्लाये: पागल है! पागल है!

और थोड़ी देर में उन्होंने भौंक भौंक कर उस मयूर को वहाँ से भगा दिया। फिर आकर विजय की खुशी में गधों की टाँगों से लिपट गये।

गो-भक्ति

सेठ धनपतदास झनझनियाँ गो-हत्या-विरोधी आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। पोस्टरों का खर्च, नारे लगवाने की मजदूरी, पर्चों की छपाई सब का खर्च वे ही देते थे।

एक दिन गो-हत्या-विरोधी सभा में भाषण दे कर सेठ झनझनियाँ लौटे तो बिस्तर पर लेटते ही नींद आ गई।

उन्हें सपना आया। सपने में गाय उनसे बोली : सेठ साहब आपकी गोभक्ति देखकर हम बहुत आश्वस्त हुईं। एक बार राजा परीक्षित ने गो—रूपिणी पृथ्वी की दया देखी थी, फिर गौतम बुद्ध प्राणिमात्र के दुख से द्रवित हुये थे। और अब तीसरे आप हुये हैं।

सेठ झनझनियाँ ने कहा : यह तो मेरा कर्तव्य ही है। विधर्मियों के द्वारा गाय की हत्या मैं कैसे देख सकता हूँ ?

गाय ने कहा : पर सेठ जी एक बात है। आपके दो कसाईखाने चल रहे हैं। एक बम्बई में और दूसरा कलकत्ता में, जिनमें हजारों की तादाद में हमारी हत्या होती है, और हमारा मांस विलायत भेजा जाता है। वे कल से ही बन्द कर दीजिये।

सेठ बोले : वह दूसरी बात है वे कैसे बन्द हो सकते हैं। उनसे तो लाभ होता है, और हम विधर्मियों को लाभ कैसे लेने देंगे ?

गाय ने कहा : बेटा तुम हमें माता कहते हो। विधर्मियों को मारने से रोकते हो पर स्वयं हत्या करते हो। यह कैसी बात है ?

सेठ झनझनियाँ बोले : माता इसमें भी हमारा धर्माभिमान है। हमारी माता को कोई दूसरा कैसे मार सकता है ? उसे हम ही मारेंगे।

शहीद

श्रीलाल शुक्ल

आज तुम नहीं हो।

अनेक पत्रों के सम्पादकीयों ने यह सिद्ध किया है कि तुम मरकर भी अमर हो, फिर भी उस अमरत्व के सुख को भोगने वाला तो चला ही गया है। तुम्हारे नाम का आदर्श अपने कमजोर बच्चों के आगे रखकर मातायें अपने को वीर माता मान लेती हैं और अपनी राष्ट्रीयता पर गदगद हो जाती हैं। कवियों और लेखकों ने तुम पर किताबें लिखी हैं जिनके साल में दस दस संस्करण हो चुके हैं। व्यापारियों ने तुम्हारी श्मशान-यात्रा के चित्र को लेकर कैलेन्डर छपवाये हैं, जिनके साथ उनके पेटेन्ट माल के विज्ञापन भी हैं। तुम्हारे नाम पर स्थानीय विद्यालय का नाम बदल दिया गया है और उसके विद्यार्थी तथा आय-व्यय के आंकड़े बढ़ गये हैं। तुम्हारी अमर स्मृति में एक मन्दिर बनवाया जाने वाला है, जिसका बेहिसाब चन्दा बेहिसाब जेबों में जमा हो रहा है। इस तरह आदमी को अमर बनाने वाली कोई तरकीब छूटी नहीं है; तुम मर कर भी अमर हो।

और तुम्हारा बचपन का साथी मैं, बार बार तुम्हारे नाम के आगे झुक रहा हूँ ताकि लोग मेरे राष्ट्र प्रेम पर संशय न करें। मुझसे कसम ले लो मेरे स्वर्गीय मित्र मुझे रत्ती भर भी ईर्ष्या नहीं है। जब तुम्हारा इतना यश देखता हूँ तो एक अजीब सा गौरव मेरे मन में घर कर जाता है।

स्वर्ग में तो कुछ करना धरना तो होता नहीं है, इससे वहाँ बैठे बैठे कुछ पीछे की बातें याद कर लो। हाईस्कूल हमने साथ ही पास किया था। आज मेरा यह बताने का साहस नहीं होता कि मेरे ही नकल कराने से तुम थर्ड-डिवीजन में पास हो गये थे। मैं सदा की भाँति फर्स्ट आया था पर आगे तुम इंटर में चले गये थे, मैं इस मिल में क्लर्की करने को चला आया था।

इंट्रेंस और क्लर्की !

बस यहीं तक मैं ?

तुम इण्टर, बी० एस० सी०, यम० यस० सी० का पहला साल (यद्यपि उसमें तीन साल लगे), उन्नीस सौ बयालिस का विद्रोह, नारे, जुलूस,

जवान खून का उफान, लड़कियों का नेतृत्व, यूथिका का गोली खाकर गिरना, झण्डे का गिरते-गिरते तुम्हारे द्वारा पकड़ा जाना, तुम्हारे सीने से लाल खून का फौव्वारा, पतन, श्रोर, उस खून से रूमालों का रंगा जाना, उसे छूकर कभी पूरी न होने वाली क़समें, फिर शोक-सभाएँ, व्याख्यान, कविताएँ, सम्पादकीय, कैलेण्डर, विद्यालय, स्मृति-मन्दिर और मरकर पाई गई अमरता।

इतनी पूँजी तुम्हारी,

और मैं ?

जीते-जी मुर्दा !

तिल-तिल घुलकर, इतने महान् जीवन के रक्त को जला-जलाकर मैं चलते-फिरते भी मुर्दा हूँ। हँसो, स्वर्ग में बैठे हुये मेरे मित्र, हँसो और इस बात पर हँसो कि तुम कितने सफल रहे और फिर सोचो कि मैंने कितना दिया और कितना पाया।

याद है, मैं सातवें में था तब मेरे घर एक बार वह आई थीं जिन्हें तुमने एक बार अपनी भाभी कहा था। जब दसवें में था तब मेरे घर वह आया था जिसे तुमने अपना भतीजा कहा। फिर इण्टर में तुम्हारी भतीजी, बी० एस-सी० में तुम्हारा गूंगा भतीजा, फिर एम० एस०-सी० युग में एक विकलांग भतीजी फिर तुम अनायास ही शहीद न हो गये होते तो आज सूखा से पीड़ित एक और भतीजा तुम्हें अपनी ओर उस निगाह से मुलुर-मुलुर निहारता मिलता जिसे पाकर तुम्हारी उमर का विद्यार्थी आपस में 'फ़िलासफर' कहा जाता है।

यूथिका को जब गोली लगी थी, बंदूक की आवाज मेरे कानों में भी पड़ी थी। जेल की कोठरियों का अपमान करने वाला एक कमरा, जिससे दो-फुट की दूरी पर ऊपर से गन्दा पानी लाने वाला टूटा नल खड़खड़ा रहा था, दिन के ग्यारह बजे शाम के पाँच बजे का सा प्रकाश। धुयें से मैली दीवारें। उन पर कीलों से लटकते हुये न जाने कितने गन्दे-गन्दे कपड़े। दो-एक मोटे चूहों के बोझ से एकाध कपड़ा कभी-कभी फ़र्श पर भी आ जाता है। दूर पत्थर की अँगीठी का विषैला धुवाँ कमरे के भीतर अलसाया सा घुसता है, फिर चक्कर खाकर खो सा जाता है।

वहीं तुम्हारी भाभी पड़ी हैं। पास खड़ा लड़का एक नीली जाँघिया पहने लोटा साफ कर रहा है। गूँगा लड़का शीर्षासन का अभ्यास कर रहा है। दार्शनिक की दृष्टि वाले ने अभी कुछ ही दिन हुये संसार का दर्शन किया है, सो वह माँ

के पास ही सिमटा पड़ा है और लड़की मेरी पीठ पर उछलकर कहती है :—

"छठी बार।"

छठी बार। छः राउंड गोलियाँ दगी हैं और कोई मरा है!

सुन लिया, सब जान लिया। कोई शहीद हो गया है। पर मैं......मैं?

अरे, मेरे भीतर का मर सकने वाला तो उसी दिन मर गया जिस दिन तुम आगे पढ़ने गये और मैं इधर आया। जो मर 'सकता,' वह भीतर एक बंद कोठरी में धुवाँ सुलगाकर जैसे कोई दम तोड़, वैसे ही दम तोड़ गया। इस 'सकने' की ताकत का बलिदान मैंने किया और मैं शहीद न बना।

और लड़की फिर उछलकर कहती है :—

"सातवीं बार।"

सुन लिया, सब जान लिया। सातवाँ राउण्ड फ़ायर! कोई शहीद हुआ है। तुम......तुम शहीद हुये हो।

मेरा रक्त क्यों नहीं खौला? बाहर न निकलने के कारण मेरे मन ने भीतर ही भीतर मुझे क्यों न धिक्कारा? इंट्रेंस तक वाली मेरी देश-भक्ति की जोशीली कविताएँ मेरे अन्तस को क्यों न मथने लगीं?

किसे मथें? भीतर तो चट्टानें हैं, समाधियाँ हैं, ठठरियाँ हैं, बालू है, किसे मथें?

उसी रात तुम्हारी भाभी ने दम तोड़ा। सुन रहे हो शहीद?

गर्मी का अपराह्न स्वर्ग में तो होता नहीं। यहाँ होता है। उसकी याद करो! डूबने से पहले सूरज कितना तपता है! वही तपन आज दिखा रहा हूँ नहीं तो अब यह भाव नहीं रहा कि जो मन आये उसे कहकर कलाकारिता का दम भरा जाय। पचहत्तर रुपिया महीना, इतने से आदमी कलाकार नहीं बन सकता।

इसलिये जो कहता हूँ उसको जीवन की बात मान कर सुनो, कला की नहीं क्योंकि तुम शहीद भले ही होओ, हो उसी जाति के जो जीवन और कला को एक नहीं मानते।

जीवन की कला को तुम पहचानते तो कुँअर साहब की उस बैठक में न जाते।

रसज्ञों की उस महफ़िल में तुम्हारी माँ ने मुझे इसलिये भेजा था कि तुमको वहाँ से खींच लाऊं। तभी पहली बार ऐसी जगह देखी थी।

कितने अपनपौ के साथ तुम कोच पर अधलेटे पड़े थे। तुम्हारे पाँवों के पास तानपूरा पड़ा था। चन्दा की भाव-भंगी में कितना आत्मविश्वास था। आस-पास वालों में कितना उत्साह !

"जैजैवन्ती !"

"हुश। ये रहा हमीर !"

"पूछ लो न मिस चन्दा ही से। तानसेन बना घूम रहा है।" बिजली सी कौंधती आँखें, पाउडर से रँगे गाल, जिन पर सुनहरे इयर-रिंग चमक नहीं पाते। कठपुतली सी एक छोकरी, जिसे तुमने संगीत की रानी माना।

कठपुतली मुस्कराई मानो मशीन के ज़ोर से, बोली मानो कोई कल दबाने से; फिर धीरे से निकला—"आप दोनों बड़ी दूर हैं। ये था तिलक कामोद।"

तब तुम हँसे। पार्टियों ने तुम्हारी इस बनावटी हँसी को भी स्वाभाविक बना दिया था, उसी स्वाभाविक बनावट से तुम हँसे। भर्राई आवाज में बोले—"पर मैं दूर न था, मैंने देस बताया था, जैसे देस वैसे तिलक कामोद। और ये सब तो गधे हैं।......

फिर उन गधों की ओर तुम्हारी निगाह गई और तुमने दर्वाजे पर खड़े हुए मुझको भी देखा।

देखा तुमने, पर लगा मैंने अपने आप को देखा। गढ़े में धँसी आँखें, पीले-पीले पिचके गाल, बढ़ी हुई दाढ़ी, गोल टोपी, लम्बा कोट, टखनों के ऊपर तक का खाकी पतलून। मेरा अपना ही रूप अपनी आँखों के आगे साकार हो गया क्योंकि तुमसे निगाह मिली—तुम्हारा स्वस्थ, सुन्दर, युवा शरीर, चमकदार मलमल का कुर्त्ता, चुनी हुई बाहों वाला।

"अरे तुम ! आओ न !" तुम्हीं ने तो कहा था और मैं चुपचाप आकर बैठ गया था—"ये हैं मिस चन्दा......"

तुम्ही ने तो कहा था—"तुम्हारा संगीत, तुम्हारी कला—ये सब कहाँ गया जी ? ये गधे न जाने क्या-क्या कह गये और तुम खड़े रहे, रोका तक नहीं।"

गया—सब गया। वह कला, वह संगीत मेरे भीतर का कवि मर गया, संगीतज्ञ का गला घुट गया।

शहीद, तुमने एक गोली खाई और अपने व्यक्तित्व के सब अंग समेटे तुम न जाने कहाँ चले गये ! यहाँ एक-एक अंग पर न जाने कितने आरे चलते रहे हैं और वह अंग अपरिसीम व्यामोह के साथ अपने सम्पूर्ण से लिपटने के लिये चिल्लाता रहा है और धीरे-धीरे असमय में ही कट गया है।

यह तीन-चार जन्तुओं का बोझ, यह बदबू, अँधेरा, सीलन, सड़न, गरीबी !

मैं कलाकार था, इसके लिये न बनाया गया था।

मैंने ही तुम्हें मुहाविरा सिखाया था—"चौकोर छेद में गोल खूँटी।" स्वर्ग में कभी कोई इस मुहाविरे के माने पूछे तो मेरे जीवन और मन का उदाहरण देकर उसे समझा देना। कह देना कि यहाँ भी एक हृदय था, महत्वाकांक्षाओं से भरा ऊँचे आदर्शों से उद्बुद्ध।

सो सब गया, वह कुछ न रहा। यह टेढ़ी टाँग वाला लड़का, यह गूँगा, यह आठवें का विद्यार्थी, यह बातून लड़की, यह मेरा शरीर—इतना !

उस पर भोजन, वस्त्र, शिक्षा, समाज के आयोजन, धर्म के अनुष्ठान—ये !

उस पर सदाचार, नीति, उपदेश !

त्याग, तप, संयम !

इनमें मेरा कितना होगा ? शहीद झूठ नहीं बोलते सो पहले की भाँति झूठ बोलकर मुझे धोखा न दो और बताओ—

इतने आदर्शों, इतनी कलाओं, इतनी महत्वाकांक्षाओं, इतनी हो सकने वाली प्रक्रियाओं के असंख्य कर्ता मेरे भीतर गोली खा-खाकर सो गये हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे जुलूस निकलते हैं और उन कर्ताओं पर इस दिगन्तव्यापी मूर्च्छा के सिपाही फिर गोली चला देते हैं।

मुझे धोखा न दो और बताओ कि तब मैं क्या तुम जैसा भी शहीद नहीं ?

तुम सर हिला दो, 'न' कर दो, नहीं तो तुम्हारे यश के भागी मुझ जैसे न जाने कितने खड़े हो जायँगे।

शहीद के लिये मरना आवश्यक है तो और सुनो।

पता चला है कि मुझे भी इस ज्वर के बाद यक्ष्मा के कीटाणुओं ने घेरा है।

यक्ष्मा यानी टी० बी०, जिसकी दवा पहाड़ी स्थानों के सैनिटोरियम में होती है। शुद्ध स्वच्छ जलवायु, हलके झीने बादल, हरी भरी पहाड़ियाँ, स्वास्थ्यकर भोजन, उपयुक्त चिकित्सा।

नहीं नहीं, वैसा नहीं। डाक्टर द्वारा बताई गई ये सब विधियाँ व्यर्थ, बिल्कुल व्यर्थ, यह अँधेरा, सीलन, बू—यहीं मैं सड़ूँगा, यही बड़ा लड़का म्यूनिस्पैलिटी के अस्पताल से दवा लायेगा। तब कोई रिश्तेदार एहसान करने के लिये देखने आयेगा और ताकि कह सके, इसलिये कुछ रुपये दे जायगा।

यक्ष्मा !

जब से उपन्यासों के दो-एक प्रेमी नायक इसी से मरे, कितनी मधुर बीमारी हो गई है यह—कितनी रोमैण्टिक ! तुम भी तो यूथिका के कारण कभी-कभी इसी की कल्पना करते थे। मुझे जो यक्ष्मा हुआ है वह पत्नी के वियोग से नहीं, उसके यक्ष्मा के कीटाणुओं से हुआ है।

प्रेम की विफलता; देवदास, पारो, मदिरा और यक्ष्मा—कितना रोमाण्टिक !

दुबला-पतला एक युवक। शाम की पीली धूप, कोमल पल्लवों के हरे पेड़, पतले यूकेलिप्टिस के पेड़ों से भरा-पुरा बाग़, एक साफ़, हवादार बँगले का बरामदा, इधर-उधर महकते हुये फूल। श्वेत बिस्तर पर वह लेटा हुआ। पास एक छोटी सी मेज, जिस पर कुछ दवाएँ, कुछ फूल, एक एलबम, एक नोटबुक, एक पेन। वह लिख रहा है इस प्रवास के उपलक्ष में विरह-गीत। यह छूटता सा संसार कितना मीठा, कितना प्यारा हो गया है !

सो यह रोमांस भी नहीं।

गर्मी के दो बजे का दिन, आसमान में धुन्ध। दस-पाँच मुरझाते पल्लवों के साथ एक ठूँठ, उस पर पङ्ख फड़फाकर काँव-काँव करता हुआ एक कौवा।

इस रोमांसहीनता में जो रोमांस हो, उसे लेकर यह यक्ष्मा होगा, पर तुम मुझे शहीद न कहना क्योंकि जब मेरी लड़की ने उछलकर कहा—"छठी बार" तो मैंने आकर गिरता हुआ एक भी झण्डा नहीं पकड़ा।

मैं तो एक ऋण भर चुकाता रहा। जिस युग में, जिस देश में, जिस वर्ग में पैदा हुआ, उसका ऋण। जिस समाज में पैदा होने के फलस्वरूप संघर्षों का अनिवार्य बोझ सर पर लाद लिया है, उसको तिल-तिल करके काट रहा हूँ। झण्डे का बोझ कैसे उठता ?

मैं और मुझसे हजारों यह ऋण चुपचाप चुका रहे हैं और वे पशु हैं, पुच्छ-विषाण-हीन; उनको तुम शहीद न बताना।

और तुम तब तक शहीद बने रहना जब तक दुनिया को आदमी पहचानने का बोध न हो। और जब संसार जान लेगा कि सचमुच बलिदान तो मेरा हुआ उस दिन मेरे मुक़ाबिले तुम्हारा आसन डोल उठेगा और तब यह स्मृति-मन्दिर, यह विद्यालय और पत्रों के ये विशेषाङ्क निरर्थक हो जायँगे और आगे का इतिहास हमारे रक्त से बना हुआ माना जायगा।

तब पैसे बटोरने वाले नहीं, ईमानदार लेखक इतिहास के पत्रों में मेरा नाम सुनहरे अक्षरों में लिखना चाहेंगे पर उनको मेरा नाम कहीं भी ढूँढ़े न मिलेगा!



प्राक्भाव

केसरी कुमार

एक प्याली याद
औ' रीती साँझ
बरसात की।

झूमते न वारिद
गगन नील आरिज
ऐसी पड़ी है
बेघात की।

ऐसे में दामिनी
झंझा की रागिनी
सब कुछ देने को
आए हैं नेता
औ नचिकेता!
चिन्ता ही सारी
बेबात की।

विपर्ययों की दुनिया

(उलटवांसी शैली में)

शकुंत माथुर

घूमने निकला
बाज़ार में
भीड़ थी
मिल गया हज़ार में
गली के नक्कू हलवाई को
किताब बेचते देखा
बुकसेलर को नानपाओ सेकते देखा
भूखा साहित्यिक
भाड़ पर था
भड़भूजा अभी दूर—कहीं
श्रम-दान के अभियान पर था
बहुत कुछ यहाँ ख़रीदा
झोले में डाला
घर आया
खुले किवाड़ों को बन्द किया
ताला लगा
भीतर घुसा
मैंने भी किताबों के लम्बे—
स्लाइसेज़ काटे
शहद लगा लगा ख़ूब चाटे
भावों से ख़ाली सन्दूक़ पाटे
जिन्दगी हरी सब्जी के छिलकों सी
ला कूड़े पर डाली
कुत्ता आया सब्जी खा गया
गऊ खड़ी देखती ही रही
समझी सभी कुछ विष्ठा है
जिंदगी में आज कुछ ऐसी ही निष्ठा है

नींद में डूबे योद्धा सुरक्षित हैं

अजित कुमार

कौंधती उधर किरनें,
लड़ने को आती हैं।
    हम तो अप्रस्तुत हैं!

डूबे हैं नींद में,
खोए हैं स्वप्न में,
चेतन से परे ये हम
लीन हैं अचेतन में।
    हम तो अप्रस्तुत हैं,
    इसलिये सुरक्षित हैं।

आख़िर हमसे क्या लेगा उजाला?
आख़िर क्या कर लेंगी किरनें हमारा?
उनके पैने-तीखे तीर सभी व्यर्थ हैं!
हां हम किरनों से भले ही अपरिचित
पर ज्ञात है हमें तो:
    वे गन्दी हैं, नीच, और घृणित और कुत्सित हैं,
    रखती अपेक्षा हैं नींद तोड़ने की वे!
    दम्भ मात्र ही है यह!

जाओ अनुचरो, अरे निशि के अनुचरो!
कहो—
नहीं हैं अप्रस्तुत हम।
सज्जित हैं, रक्षित हैं,
    —सुप्ति के कवच में।
राज्य यह हमारा है।
किरणों के चापों पर ध्यान नहीं देंगे हम
        —स्वप्नों के अभयद कुण्डलों से अलंकृत हैं।

कितना ही कहो हमें—'सूर्यपुत्र, सूर्यपुत्र !'
उसका पितृत्व यहाँ कौन स्वीकारता !!
तुम्हीं हो असत्य पक्ष, तुम्हीं दस्यु, अन्यायी !
धर्मयुद्ध को हम धर्मयुद्ध नहीं मानते !

हम तो हैं वीर कर्ण ।
वीर कर्ण !—मूर्ख नहीं ।
दान नहीं देंगे हम ।
कवच और कुण्डल हम कभी नहीं त्यागेंगे—
क्या मारे जाएँगे ?

हम हैं कृतघ्न कर्ण, धूर्त कर्ण, चतुर कर्ण ।
दानी नहीं ।
और यों सुरक्षित हैं उसके उजाले से
संभव है जिससे हम कभी कहीं जन्मे हों !

ये विपथगाएँ

नचिकेता

नदियाँ जब अपना पथ बदलती हैं तो कूलों का संहार कर डालती हैं और नदियों से भी अधिक तेज़ धार वाली विचारशक्तियाँ जब अपना पथ छोड़ देती हैं, तब उनके पीछे चलने वाली मानवता दिङ्मूढ़ हो जाती है और युग का विध्वंस हो जाता है। आज से लगभग एक सौ दस वर्ष पूर्व इङ्गलैंड के किसी मर्माहत सहृदय ने एक विपथगत महान् लेखक के ऊपर कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं और दुःख प्रकट किया था कि, "जिसको हमने स्नेह दिया, आदर दिया, और जिसका हमने अनुसरण किया, जिससे हमने शिक्षा ली—भाषा की, स्वर की, जीवन की, मरण की, वह आज हमसे पथ-विमुख हो गया! शेक्सपीयर, मिल्टन, शैली, बर्न्स ये सभी दिवंगत होकर भी हमारे साथ हैं, अपनी क़ब्रों से ये हमारे ऊपर निगाह का सायबान डाले हुए हैं कि हम भटक न जायं, पर वह जीते जी हमसे विलग हो गया, हम स्वाधीनों से विलग हो कर पराधीनों की पंक्ति में जा मिला।

"हम प्रगति अब भी करेंगे, पर उसका इशारा न होगा। हमें गीतों से स्वर अब भी मिलेंगे, पर उसकी वीणा न होगी। हमारा संघर्ष भी चलेगा, पर वह पूर्णकाम हो चुका होगा। आओ चलें, अपनी पंक्ति से उसका नाम मिटा दें और यह लिख लें कि एक आत्मा और खो गई, एक कर्त्तव्य और चूक गया, एक पथ और अविगत रह गया। शैतान की एक और जीत हुई, देवदूत को एक चोट और मिली, मानव का एक और अपकार हुआ, ईश्वर की एक और अवमानना हुई। अब तो जीवन की निशा प्रारम्भ हुई। अब वह हमारे बीच वापस न आयें, तभी अच्छा, क्योंकि उसके पुनरावर्त्तन के समय संशय होगा, हिचक होगी, परिताप होगा, अवश प्रशंसा करनी होगी, साँझ की धुँधली आभा होगी, प्रभात का उज्ज्वल और निर्भर आलोक न होगा, हम बिना उसके ही अब लड़ें, यही वर होगा।" (वर्ड्स्वर्थ के राजकवि का पद स्वीकार कर लेने पर ब्राउनिंग द्वारा लिखी गई पंक्तियाँ।)

आज हिन्दी में वैसी कुछ स्थिति आयी है, बल्कि उससे कुछ बदतर। देखा जाय तो एक नहीं अनेक विपथगाएं मिलेंगी, स्वतंत्रता के ध्येय ने उन्हें एकोन्मुख रखा था और ध्येय-प्राप्ति के अनन्तर ही उनके पग स्वतंत्रता के फलभोक्ताओं के अनुचर बन गये, चारण तो केवल प्रेम और उत्साह का रस उमगाता था, उसने अपने आश्रयदाता के समूचे जीवन-दर्शन का ठेका नहीं लिया था। पर इन्होंने तो स्वतंत्रता के प्रहरियों की प्रत्येक चेष्टा का ठेका ले लिया। चारण समय आ पड़ने पर हाथ में तलवार खींचकर रणकौशल दिखला लेता था। इससे उसकी रणभूमि में उपयोगिता थी। पर नये युग के ये नये चारण केवल वाक्कौशल दिखला सकते हैं, हाथ से, पैर से, मन से और आत्मा से ये नितांत पंगु हैं। वाणी इनकी बैसाखी है। इस बैसाखी के बल पर 'गिरिवर गहन' चढ़ने की उमंग कभी 'नर के मनसबदार होने' का सपना बनकर दौड़ती है, कभी हवामहल के विलास की, कभी शासक के कर-कमलों से चमकीले स्वर्ण पदक की और कभी केवल शाही आमंत्रण की आकांक्षा बन कर फुदकती है। एक और गया, एक और गया, यह कब तक गिना जाय, यह पाँत की पाँत जा रही है। पथ बनाया, पथ पर दूसरों को आगे बढ़ाया और स्वयं पाँत तोड़ कर यह जमात की जमात बिछुड़ रही है, किस किस पर पछताया जाय, किस किस पर सिर धुना जाय।

ब्राउनिंग का अनुताप तो इकहरा था, एक के पतन पर उसका आक्रोश था और उसके पास यह बल था कि हम उस विभ्रान्त का नाम काटकर आगे बढ़ेंगे। आज नाम काटने बैठा जाय तो समस्या होगी कि किसको लिया जाय। चाँदी के टुकड़ों पर और सम्मान की चमक पर अपने को बेचने वाले हर एक युग में रहे होंगे, पर उनको कम से कम अपने को स्वाधीन कहने का दम नहीं रहा होगा। आज तो जो बिक गये, वे भी यह दम रखते हैं कि हम स्वतंत्रचेता हैं, हमी राजनीति की नकेल लिये हैं और हमी पथद्रष्टा हैं। वैसे स्थिति शायद यह है कि अलबेला जिधर ले जाय, उधर हाथ में डोर लिये आप भी डगरते चले जायेंगे, क्योंकि नकेल आपके सिर के बहुत ऊपर है और डोर आपको बाँधने के लिए है, अलबेले को नहीं। आप स्वागत-गीत लिखेंगे, किसका? यौवन का नहीं, यौवन की उमंग का नहीं, वसंत का नहीं, वसंत के मीत का नहीं, विश्वात्मा का नहीं, विश्वात्मा की ज्योति का नहीं, बल्कि आज बुल्गानिन का, कल शाह सऊद का और परसों नैपाल-महाराज महेन्द्र का; आज शांति का, कल इस्लाम के बन्धुभाव का और परसों बौद्ध अनात्मवाद का। आप प्रशस्ति लिखेंगे नेहरू की, पन्त की, विनोबा की; प्रशस्ति करते समय निखिल मानवता को इनसे हेय कर देंगे, इसलिए नहीं कि सचमुच ही आपके हृदय में नेहरू,

पंत और विनोबा की कमनीय मूर्त्ति विराजमान है, बल्कि इसलिए कि आपका हृदय नेहरू, पन्त और विनोबा की राजनीति के हाथों बिक चुका है।

हमें अब इसकी लेशमात्र भी चिन्ता नहीं कि आप बन्दीजन हो गये, पर इसका अमर्ष अवश्य है कि बन्दीजन होकर भी आप कवि के अधिकार 'क्रान्तद्रष्टा' के दावे रखना चाहते हैं। कभी आपने राष्ट्रगीत लिखे थे, बापू-वन्दना लिखी थी, खादी के फूल खिलाये थे, कविता में सूत काता था, स्वतंत्रता की प्यास जगायी थी और देश की गुहार लगायी थी, आज स्वतंत्रता के सेनानियों की तरह आप भी अपने गीत भुनाना चाहते हैं। आज भी उस पिछली कमाई के बल पर राष्ट्र के कवि कहलाना चाहते हैं। पर आपने तो वह कमाई एक संग उसी समय भुना ली, जब आपने सत्ता की कृपा कोर से कुर्सियाँ पायीं, बड़े बड़े पद पाये और इसके अलावा नेग-न्यौछावर का मौक़े-मौक़े पर हक पाया। इससे अधिक आपको क्या चाहिए ? हंसब ठठाइ फुलाइब गालू, एक संग नहिं होहिं भुआलू।

हमें आपका पथ-प्रदर्शन नहीं चाहिए, पर आप रास्ता छेंक कर न खड़े हों। राष्ट्रीय एकता के अनुशासन के नाम पर आप हमारा दाय न छीनें, आप बन्दीजन की तरह रहें, हमारे पथ के दावेदार न बनें। हमारा दाय है, 'संतन को कहा सीकरी सन काम', हमारा दाय है, 'अब तुलसी का होहिंगे नर के मनसबदार', हमारा दाय है; 'सिंहन के लँहड़े नहीं हंसन की नहिं पाँत', हमारा दाय है ऊर्ध्वबाहु होकर विरुवन करना, 'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते', हमारा दाय है देना रंक को और राजा को, पर लेना ब्रह्मा से भी नहीं। आप विचारों के पंक्तिबंधन की निन्दा करते हैं और हमको अपने टुटपुंजिहे सत्याभास से बाँध कर रखना चाहते हैं। आपने जिस ओस को पानी समझा है, उसी को हम भी पानी मानने को विवश हों, यह कौन सा अनुशासन है। जिस तरह 'अपने आनन की द्युति बिसार कर' 'गच-काच में अपने तन की छाँह में' अपने शिकार का बोध आप को होता है, वैसा बोध हमें भी हो, वैसी भूख हमें भी सताये, यह कौन सी विवशता है। हम तो आन पर जी रहे हैं, क्योंकि हमारे पथ-प्रदर्शक हैं; तुलसी जिनकी सीख है,

> चातक तुलसी के मते पियहु न स्वाती पानि।
> प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥

इसलिए विपथगाओ, तुम जाओ "राजस्थान" की मरुमरीचिका में खो जाओ, लुप्त हो जाओ, हमें कुछ भी दुःख न होगा, पर हम जो पत्थरों के हृदयरन्ध्र से

रसधार निकाल रहे हैं, वह इसलिए नहीं कि वह रसधार पाताल में समा जाय, बल्कि इसलिए कि हमें उसे त्रिपथगा में मिलाना है और त्रिपथगा के द्वारा अनन्त महासागर से उसे एकाकार कराना है। हमें मत लुभाओ, हमें अपने विपथ पर मत भटकाओ, हमें राजमार्ग की सुविधा नहीं चाहिए, हम अपने दुस्तर पथ पर चलने के लिए कृतसंकल्प हैं।

अब प्रश्न यह है कि 'हम' कौन? स्वतंत्रता के बाद—सम्मान की, यश की और नये मान की जो बाढ़ आयी, उसमें बहने से बचे-खुचे वटपत्रशायी लोग, जो अपने अनजान में बच गये, जो इसलिए बच गये कि धरित्री का संबल वटपत्र पकड़े रहने की ममता ने उन्हें बाँध रखा। हम बचे, यह हमारे सुकृत का नहीं, संकल्प का बल था, इसलिए आज हम जो आधे रास्ते में छोड़ दिये गये हैं, अपने पथनिर्देशकों के द्वारा, वह दम्भ करने के लिए नहीं, उन पथ त्याग कर चले जाने वालों को ललकार देने के लिए भी नहीं, हम बचे हैं, अपना पथ स्वयं निर्माण करने के लिए, हम बचे हैं, अपने साहित्यकार को अशेष प्राणबल से चुनौती देने के लिए, और हम बचे हैं, टिड्डियों की ईति से धरती की फसल बचा सकने के लिए।

इस फसल पर और भी भय घेरे हैं। यार लोगों ने सुझाया कि साहित्य, लोक-गीत, कला ये सब बहुत ही शक्तिशाली माध्यम हैं, जनता को जीतने के; और प्रभुओं ने फ़रमाया, हाँ 'कवी-सम्मेलन' और 'फोक ट्यून' से योजना का अभिवर्धन तो होगा, आई० सी० एस्० का दिमाग़ चरखी की तरह डोल उठा, पंचवर्षीय योजना लोकगीतों के, नाटकों के और कविताओं के सांचों में ढाली जाने लगी, पत्र पुष्प की सुन्दर व्यवस्था हुई। इन प्रभुओं को और उनके परामर्शदाताओं को समझाने के लिए हमारे पास समय नहीं है, क्योंकि ये उखड़े हुए बिरवे हैं, उनको कहीं भी रोपा जा सकता है, पर कहीं भी रोपा जाय उसमें फल नहीं आने वाले। हमारे पास बिगुल बजा कर अभियान करने का आडम्बर नहीं है कि हम भी नारे लगाते हुए प्रदर्शन करें, अधिकारों की संवैधानिक तरीकों से माँग करें। हम केवल अपनी अनवरत साधना से, अपनी सत्यानुसन्धित्सा से और अपनी निष्ठा से (आस्था कहने के लिए मेरे पास साहस नहीं है, क्योंकि यह काफी गुह्य शब्द बन चुका है) और अपने जीवन-रस के मुक्तदान से यह सिद्ध कर सकते हैं कि जिसको तुम सशक्त माध्यम कहते हो, वह सशक्त इसलिए है कि निर्बन्ध है, जिस क्षण वह बँधता है, उसी क्षण वह अपनी शक्ति खो देता है। और तुम जिस अभिवर्धन की आशा लगाये बैठे हो, वह अभिवर्धन हमारे माध्यमों से तभी आयेगा,

जब तुम अपने माध्यम से जनता को समझने की चेष्टा करोगे। इतने बड़े बड़े लोग भटक गये, यह सामुदायिक भ्रान्ति हमारी तितिक्षा के लिए चुनौती है, इस चुनौती को लेने का मतलब है अपना सर्वस्व दाँव पर लगाना। हमें कल्पित भयों से नहीं जूझना है, हमें काँटों से नहीं उलझना है, हमें ममियों से पथ नहीं पूछना है, हमें असत्य से और बहु प्रचारित असत्य से जूझना है, क्योंकि असत्य ही मनुष्य की सबसे बड़ी कायरता है, हमें उलझाने वाले कण्टकों में कुसुम खिलाना है, हमें अपनी जागरूक परम्परा से निर्देश लेना है।

हम अपराधी होंगे, यदि हमने सत्य नहीं कहा, हम अपराधी होंगे, यदि हमने अपना स्वरूप नहीं पहचाना, हम अपराधी होंगे, यदि हमने अपने सत्य का, अपनी पहचान का लाभ अपने असंख्य बन्धुओं को नहीं पहुँचाया। विपथगाएँ हमारा पथ नहीं मोड़ सकतीं, यदि हम मुड़नेवाले तत्व के खुद न बने हों। आज राजमार्ग पर रपटन है, फिसलन है, हमें पगडंडी पकड़नी होगी, तभी हम अपनी मंजिल तक पहुँचने की आशा रख सकते हैं। उन पथिकों को विपथगाओं से कोई आशंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पथ उनके कल्याण का दायित्व अपने ऊपर ले लेता है, पथ ही उन्हें तार देगा।

अनागत

रामावतार चेतन

खेतों के आस-पास मेड़ बना डाली है
बाड़े की देख-भाल में तत्पर माली है
आज जो अंकुर है, कल वही पौदा होगा
और परसों वही बाज़ार का सौदा होगा!

परिवर्त

फणीश्वरनाथ रेणु

धूसर, वीरान, अंतहीन-प्रांतर।

पतित भूमि, परती जमीन—वंध्या धरती......

धरती नहीं, धरती की लाश। जिस पर कफ़न की तरह फैली हुई हैं—बालूचरों की पंक्तियाँ। उत्तर-नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा-तट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भूभाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।

संभवत: तीन-चार सौ वर्ष पहले इस अंचल में 'कोसी गैया' की यह महा-विनाश-लीला हुई होगी। ..लाखों एकड़ जमीन को अचानक लकवा मार गया।......कूप, तालाब, नदी-नाले सुफ़ेद बालू से पट गये होंगे। एक विशाल भूभाग हठात्...कुछ से कुछ हो गया होगा।—मिटती हुई हरियाली पर हल्का बादामी रङ्ग धीरे-धीरे छा गया होगा।......

कच्छपपृष्ठ सदृश भूमि। कछुआपीठा जमीन? तंत्र-साधकों से पूछिये, ऐसी धरती के बारे में वे कहेंगे—'असल स्थान वही है। कछुआ पीठा जमीन, जहाँ बैठकर सब कुछ 'साधा' जा सकता है! कथा है......'

कथा होगी अवश्य इस परती की भी। व्यथाभरी कथा वंध्या धरती की! इस 'पाँतर' की छोटी-मोटी, दुबली-पतली नदियाँ आज भी चार महीने तक भरे गले से, कलकल सुर में गाकर सुना जाती हैं। जिसे हम नहीं समझ पाते।

कथा की एक कड़ी, कातिक से माघ तक प्रति रात्रि के पिछले प्रहर में—सुनाई पड़ती है, आज भी! सुफ़ेद बालूचरों में चरने वाली 'हंसा चकेवा' की जोड़ी रात्रि की निस्तब्धता को भङ्ग कर किलक उठती है कभी-कभी! हिमालय से उतरी परी बोलती है—कैंक्-कैंक्—कें-एँ-एँ-गाँ-आँ-कैंक्!

एक बालूचर से दूसरे बालूचर, दूसरे से तीसरे में...हजारों जोड़े पखेरू अपनी-अपनी भाषा में इस कड़ी को दुहराते हैं। दूर तक फैली हुई धरती पर सरगम के सुर में प्रतिध्वनि की लहरें बढ़ती जाती हैं...एक वाइब्रेशन !

हिमालय के परदेशी पंछियों की टोलियाँ, नाना जाति-वर्ण-रंग की जोड़ियाँ प्रतिवर्ष हज़ारों की संख्या में पहाड़ से उतरती हैं—'हहास्' मारती हुई। फागुन-चैत के पहले ही लौट जाती हैं। भूली-भटकी एकाध जोड़ी रह जाती है जो कभी-कभी उदास होकर पुकारती हैं—कैंक्-कैंक्—कैं-एँ-एँ......।

कोई जवाब न पाकर चुप हो जाती हैं। बाँस के घने जङ्गल में एक हल्की प्रतिध्वनि भरी हुई। पांखें फैलाकर उड़ती हैं। इस जंगल से उस बन की डाली पर, वहाँ से फिर कैंक्-कैंक्...!

वंध्या धरती की व्यथा को 'पण्डुकी' ही समझती है, जो बारहों मास अपना दुख-दर्द सुना कर मिट्टी के मन की पीड़ा को दूर करने की चेष्टा करती है। बैशाख-जेठ की भरी दोपहरी में सारी धरती काँपती रहती है, सुफ़ेद बालूचरों की पंक्तियाँ मानो आकाश में उड़ने के लिये पाँखें तौलती रहती हैं। रह-रह कर धूलों का गुब्बारा—घूर्णिचक्र सा ऊपर उड़ता है।...धरती पर बहुत से 'देव-दानव' रहते हैं। किन्तु वंध्या धरती की पीड़ा हरने की क्षमता किसी में नहीं। पण्डुकी व्यथा समझती है, क्योंकि वह एक वंध्या रानी की परिचारिका रह चुकी है। बैसाख की भरी, उदास दोपहरी में वह किसी पेड़ की डाली पर बैठकर, करुण सुर में पुकारती है—'तुर तुत्तू-उ-उ, तू-उ, तू-उ, तूः।'

अर्थात्—'उठ जित्तू, चाउर पूरे, पूरे, पूरे...!'

बैशाख की दोपहरी और भी मनहूस हो जाती है। किन्तु, पण्डुकी निराश नहीं होती। अपने मृत पुत्र जित्तू को वह भूलने का बहाना करती है। आँसू पोंछ उठ खड़ी होती है—फिर नाच-नाच कर शुरू करती है, सुर बदल जाता है और छोटे घुंघरू की तरह 'शब्द' झनक उठते हैं—

> 'तु त्तु-तुर, तुरा-तुत्त !'
> 'बेटा भेल, लोकी लेल !'
> 'बेटी भेल, फेंकी देल !!'

'क्या करोगी बेटा बेटी लेकर—ओ रानी माँ ! क्या होगा बेटा ?...मुझे देखो, बेटा हुआ। कलेजे से सटा लिया। खुशी से नाचने लगी। इस खुशी में 'बेटी' को फेंक दिया !...बेटा को काल ले गया। अब !...सब 'विध विधाता' का खेल है

रानी माँ। दुख मत करो। मुझे देखो, दुख से कलेजा फटता है फिर भी कूटती हूँ, पीसती हूँ, कमाती हूँ, खाती हूँ, गाती हूँ, नाचती हूँ—

'तुत्त्—तुर, तुरा तुत्त !'
'बेटा मेल.........।'

किन्तु, वंध्या धरती माता की पीड़ा और भी बढ़ जाती है। 'ओ पण्डुकी सखी ! कोखजली की ग्लानि—तुम क्या समझो !'... ..तब पण्डुकी पुनः अपने प्यारे जित्तू को आतुर होकर पुकारती है, जगाती है—'उठ जित्तू, चाउर पूरे, पूरे, पूरे !!'

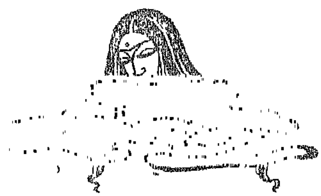
वंध्या रानीमाँ का धान कूटती थी पण्डुकी। जित्तू जब गोदी में ही था—डगमग कर चलता था थोड़ा-थोड़ा। उसी उम्र में जित्तू को कहानी सुनने का कितना शौक ? आँचल पकड़कर रोता फिरता। काम के बीच में कभी-कभी पण्डुकी उसे गोद में लेकर दूध पिलाती और एक कथा सुनाकर सुला देती। रोज़-रोज़ नई कथा कहाँ से आवे ? रानी माँ के मुँह से सुनी, रानी माँ की दुख दर्द भरी कहानी के एकाध टुकड़े चुपचाप सुना देती।......रानी माँ पंडुकी से 'सत्त' (प्रतिज्ञा। तुकबंदी है—एक सत्त, दो सत्त, ब्रह्मा-बिसुन सत्त; जो सत्त से बेसत्त जाय—रौरव नरक बिधाय) करा कर अपनी कहानी सुनाती। पंडुकी 'सत्त' करती—किसी 'और' से नहीं कहूँगी रानीमाँ। एक सत्त, दो सत्त, ब्रह्मा बिसुन सत्त, जो सत्त से बेसत्त जाय......। जित्तू तो कोई 'और' नहीं। उसे सुनाने में क्या दोष ? एक दिन ऐसा हुआ कि भरी दोपहरी में, काम के बेर—जित्तू आकर रोने लगा—वंध्या रानी का पता ठिकाना पूछने लगा। वह उस रानी के पास जायगा।...देवी मन्दिर का 'खांड़ा' लेगा, पङ्खराज घोड़े पर सवार होकर—'बिजूबन-बिजूखंड' जायगा। वह उस वंध्या का बेटा.........। भोला जित्तू !

जित्तू वंध्या रानीमाँ की उमड़ती हुई आँखों को पोंछना चाहता था। अपनी माँ के आँसुओं को भी तो वही पोंछा करता था।...पण्डुकी बोली, 'देखो बेटा। रोज-रोज चावल घट जाता है। समय पर तैयार नहीं होता। चावल 'पुर' जाय तो तुझे बाकी कथा सुना दूँगी। तब तक 'पाखर' पेड़ के नीचे जाकर सो रहो।'...जित्तू चुपचाप चला गया, सो रहा पेड़ की छाया में। पंडुकी धान कूटने में मग्न हो गई। उधर 'काल' ने आकर जित्तू की कहानी समाप्त कर दी।

चावल पूरा हो गया। धान कूटते समय पण्डुकी कथा की कड़ी गूँथ चुकी थी। जित्तू को पुकारा—'उठ बेटा जित्तू, चावल पूरा हो गया—तुर-तुत्तू ऊ...।'

...एक बार जित्तू उठ जाय, एक ही क्षण के लिए। परडुकी ऐसी कहानी सुनायेगी, ऐसी कहानी...कि फिर ! बेचारा जित्तू, अधूरी कहानी के सपने देखता सोया हुआ है। आँखें खोलो! पाँखें तोलो। ओ जित्तू! ओ जित्तू!!......उठ जित्तू-उ......!

'चिरई चुरमुन' की कहानी पर सभी 'परतीत' न करें सम्भव है।



परती की अन्तहीन कहानी की एक 'परिकथा' वह बूढ़ा भैंसवार भी कहता है। 'गञ्जेड़ी' है तो क्या कीजियेगा।...... गुनी आदमी जरा 'अमलपात' लेता ही है। एक चिलम गाँजा 'चढ़ा' कर कितने पीर-फकीर और साँई जी से लोग यन्त्र मन्त्र और 'बाक्' (वरदान, वाक्य) लेते हैं। गीतकथा-गायक इस बूढ़े भैंसवार की थोड़ी इज्जत कीजिए।...आप-अवश्य गुनगाहक हैं; नहीं तो अब 'पुरानी चीज' सुनने वाला मिलता है कहाँ ?

कथा का एक खंड—परिकथा......कोसी मैया की कथा। जै! कोसका महरानी...।

परिव्यास परती की ओर सजल दृष्टि से देखकर वह मन-ही-मन अपने गुरु को 'सुमरेगा' फिर कान पर हाथ रख कर शुरू करेगा—मङ्गलाचरण, जिसे वह 'बन्दौनी' कहता है : हे-ए-ए-ए, पूरूबे बन्दौनी हे बन्दौं उगन्त: सुरुजे......!

बीच-बीच में टीका करके समझा देगा—कोसका मैया का नैहर ? पच्छिम तिरहौत। ससुराल—पुरूब ! (ठीक उसकी लाठी जिस दिशा में उठी है, उधर ही देखिये—ठीक उसी कोण में।)

कोसका मैया की सास बड़ी 'झगड़ाही', जिलाजठार, टोला-परोपट्टा में मशहूर। और दोनों 'ननदों' की क्या पूछिये ? गुणमन्ती और जोगमन्ती। तीनों मिल कर जब गालियाँ देने लगतीं तो लगता कि भाँड़ में मकई के दाने भूने जा रहे हैं—फड़-र-र-र...! कोखजली, पुतखौकी, भतारखौकी, बाँझ...!

—एक बार बड़ी ननद ने 'बाप लगा' कर गाली दी।

—छोटी ने भाई के नाम कुछ कहा।

—सास ने टीप का बन्द लगाया—'और माँ ही कौन सतवंती थी...।'

...कि, समझिये कि बारूद की ढेरी में आग की 'लुत्ती' पड़ गई। कोसका महरानी क्रोध से पागल हो गई!...आ-आ-आ-आ-रे, ए-ए-

रेशमी पटोर मैया फाड़ि के फेकाओली-ई,
सो.ा के गहनवाँ मैया गाँठ में बँटाओली-ई। आँ-आँ-रे;
रूपा के-जे-सोलह मन के चूर...रगड़ि केलक धूर...अ-जी-ई-ई!!"

सास-ननद से आख़िरी लड़ाई लड़कर, झगड़कर छिन्नमस्ता कोसी भागी। रोती-पीटती-चीखती-चिल्लाती, 'हहाती फुफुनाती' भागी पच्छिम की ओर—नैहर! सास ननद को 'पंचपहरिया मूरछाबान' मार कर सुला दिया था कोसी ने।...रास्ते में उसे याद आई -'जा :—गौर में तो माँ के नाम दीप जला ही न पाई!'

गीतकथा गायक अपनी लाठी उठा कर एक ओर दिखायेगा—ठीक इसी 'सीध' में है—गौर। मालदह मुलुक में। हर साल अपनी माँ के नाम 'दिया-बाती' जलाने के लिये औरतों का बड़ा भारी मेला लगता है। महीना और 'तिथ' उसे याद नहीं—किसी अमावस्या की रात में ही 'दिया-बाती' मेला लगता है—ऐसा उसका अनुमान है।

अब, यहाँ का किस्सा यहीं रहे, और आगे का सुनहु हवाल : देखिये कि क्या 'रंगताल' लगा है। कोसी मैया लौटी। गौर पहुँच कर दीप जलाया। दीप जलते ही—उधर सास की मूर्छा टूट गई। क्योंकि 'गौर' में दीप जलाने से 'बापकुल-स्वामीकुल' दोनों कुल में 'इंजोत' (प्रकाश) होता है। उसी 'इंजोत' से सास की मूर्छा टूटी। अपनी दोनों बेटियों को 'गुन' मार कर जगाया—अरी! उठ बेटी-गुनमन्ती जोगमन्ती दुनू बहिनियाँ...।

छोटी ने करवट लेकर कहा—माँ, चुपचाप सो रहो। बीस कोस भी तो नहीं गई होगी। पचास कोस पर तो मैं उसको 'झोंटा' (केश) धर कर घसीटती।ला सकती हूँ।

बड़ी बोली—सौ कोस तक मेरा 'बेड़ी बान कड़ी छान' गुन चलता है। भागने दो, कहाँ जायगी भाग कर!

माँ बोली—अरी, आज ही तो सब 'गुन मन्तर' देखूँगी तुम दोनों का। तुम्हें पता है? पुतोहिया ने (कोसी ने) गौर में दीप जला दिया। तुम्हारे जादू का असर उस पर अब नहीं होगा।

—ऐं-य-य ??...'दुनू बहिनियाँ' गुनमन्ती-जोगवंती हड़बड़ा कर उठीं। अब सुनिये कि कैसा 'भौचाल' हुआ है। तीनों माँ बेटी अपनी-अपनी गुन की 'किया' [छोटी डिबिया, सिन्दूर रखने की डिब्बी] लेकर निकली!

छोटी ने अपनी 'किया' का ढक्कन खोला—भरी दोपहरी में आठ-आठ अमावस्या की रातों का अन्धकार छा गया !!

बड़ी ने अपनी अँगूठी के नगीने में बन्द 'आँधी-पानी' को छोड़ा !



उधर कोसी मैया बेतहाशा भागी जा रही है, भागी जा रही है। रास्ते की नदियों को, धाराओं को, छोटे बड़े नालों को बालू से भर कर पार होती, फिर उलट कर बबूल, झरबेर, खैर, साँहुड़, पनियाला, तिनकटिया आदि कँटीले कुकाटों से बाटबाट बन्द करती—छिन्नमस्ता भागी जा रही है !

थर थर काँपे धरती मैया रोये जी आकास :
घड़ी-घड़ी पर मुर्छा लागे डेग-डेग पियास :
घाट न सूझे, बाट न सूझे, सूझ न अप्पन हाथ :...

मूर्छा खाकर गिरती, फिर उठती और भागती। अपनी दोनों बेटियों पर उनकी माँ हँसी—इसी के बल तुम लोग इतना गुमान करती थी रे ! देख, सात पुश्त के दुश्मनों पर जो 'गुन' छोड़ना मना है—उसे छोड़ती हूँ—कुलहड़िया आँधी, पहड़िया पानी !!

कुल्हड़िया आँधी के साथ एक सहस्र कुल्हाड़े वाले दानव रहते हैं, पहड़िया पानी तो पहाड़ को भी डुबा दे !...अब देखिये कि कुल्हड़िया आँधी, पहड़िया पानी ने कैसा 'परलय' मचाया है—ह-ह-ह-र-र-र-र...

गुड़-गुड़-गुड़ुम्-सोंय-आँ-आँ-आ-गर-गर-गुड़ुम !!

...गाँव घर, गाछ बिरिच्छ, घर-दरवाजा कतरती कुल्हड़िया आँधी जब 'गर्जन' करने लगी तो पातालपुरी में बराह भगवान भी घबड़ा गये। पहड़िया पानी सात समुन्दर का पानी लेकर एकदम 'जलामय' करता दौड़ा।...तब कोसी मैया हाँफने लगी—हाथ भर जीभ बाहर निकाल कर ! अंदाज लगा कर देखा—नैहर के करीब पहुँच गई थी। और पचास कोस ! भरोसा हुआ। एक सौ कोसों तक फैले हुए हैं—मैया के सगे-संबंधी भाई बंधु। मैया ने पुकारा—अपने बाबा का नाम लेकर, वंश का नाम लेकर—ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाइयों को !...मैया रे-ए-ए-ए-ए-ए—बहिनी के इज्जतिया तोहरे हाथ।

फिर एक-एक भौजाई का नाम लेकर, अनुनय करके रोई—...भउजी हे भउजी, लड़िका तोहर खेलायब हे भउजी, ओढ़नी तोहर पखारब हे भउजी...भइया के भेजी तनि दे...।

कुल्हड़िया आँधी, पहाड़िया पानी अब एकदम करीब है। एकदम करीब! अब; अब क्या हो ??...कोसी की पुकार पर एक 'मुनियाँ' भी न बोली, एक 'सीकी' भी न डोली। कोई जवाब नहीं। तब मैया गला फाड़ कर चिल्लाने लगी—अरे कोई है तो आओ—रे-ए-ए! कोई एक दीप जला दो कहीं!

कोई एक दीप जला दे, एक क्षण के लिये भी; तो फिर कोसी मैया से कौन जीत सकता है?...कुल्हड़िया आँधी कोसी का आँचल पकड़ने ही वाली थी...कि उधर एक दीप टिमटिमा उठा। कोसी मैया की सबसे छोटी, सौतेली बहन दुलारी दाय, बरदिया घाट पर-आँचल में एक दीप लेकर आ खड़ी हुई। बस, मैया को सहारा मिला और तब उसने उलट कर अपना 'आखिरी गुन' मारा।...पातालपुरी में बराह भगवान डोले और धरती ऊँची हो गई। गुणमंती और जोगमंती 'दुनू बहिनियाँ' अपने ही धुन में जल मरीं। सास महरानी 'समा' कर काली हो गई।...उजाला हुआ। कोसी मैया दौड़ कर दुलारी दाय से जा लिपटीं। फिर तो—

आ-आ-आ-रे,

दोनों रे बहिनियाँ रामा गला जोड़ी बिलखय,

नयना से ढरे झर-झर लो-ओ-र !!

गला भर आया है बूढ़े कथा गायक का। जरा दम लेने दीजिये!

...दोनों बहन 'गला जोड़' कर घण्टों रोती बिलखती रहीं।

हिचकियाँ लेती हुई बोली दुलारीदाय—दीदी, जरा उलट के देख। धरती की कैसी दुर्दशा कर दी है तुम लोगों ने मिलकर। गाँव के गाँव उजड़ गये, हजारों हजार लोग मर गये। अर्धमृतकों की आह कराह से आसमान काँप रहा है।

—मरे! मरे!! सब मरे। मेरे पिता के टुकड़े पर पलनेवाले ऐसे आत्मीय संबंधियों का न जीना ही अच्छा, जो अपने 'कुल' की एक अभागिन कन्या की पुकार पर—अपने घर की खिड़की भी न खोल सके।...धरती का भार हल्का हुआ—वे मरे।

—धरती कहाँ है दीदी। अब तो धरती की लाश है।...सुफेद बालूचरों के कफन से ढँकी हुई धरती की लाश!

इस अंचल में सबसे छोटी बहन को बड़े प्यार से 'दाय' कह कर संबोधित करते हैं। दुलारीदाय बहनों में सबसे छोटी, सो भी सौतेली।...बड़ी प्यारी बहन। शील सुभाव इतना अच्छा कि...।

—दीदी। अब भी समय है। उलट कर देखो। क्रोध त्यागो। दुनिया क्या कहेगी?

कोसी ने उलट कर देखा : सिंकियो न डोले ! कहीं हरियाली की एक रेखा भी न बची थी। सिहर पड़ी मैया भी। बोली—नहीं। धरती मरेगी नहीं। जहाँ-जहाँ बैठ कर मैं रोई हूँ—आँसू की उन धाराओं के आस-पास धरती का प्राण सिमटा रहेगा।...हर वर्ष पौष पूर्णिमा के दिन इन धाराओं में स्नान से पाप धुलेगा। युग-युग के बाद एक-एक प्राणी पाप से मुक्त होगा। तब, फिर सारी धरती पर हरियाली छा जायगी।...धाराओं के आसपास सिमटे हुये प्राण—नये-नये रंगों में उभरेंगे!...

दुलारी दाय ने चरणधूलि ली और मुस्कुरा कर खड़ी हो गई। कोसी मैया खिल-खिला कर हँस पड़ी—पगली ! दुलारी !!...हँसती क्यों है ?

कोसी मैया हँसी—दुलारी के आँचल में नौ मन हीरे झरे। हाँ, कोसी मैया हँसे तो नौ मन हीरा झरे और रोवे तो दस मन मोती ! दुलारीदाय को वरदान मिला—युग-युग तक तुम्हारा नाम रहे। तुम्हारे इलाके का एक प्राणी न भूख से मरेगा, न दुख से रोयेगा। न खेती जरेगी, न असमय में अन्न झरेंगे।...गुनी मानी लोग तुम्हारे आँगन में जन्मेंगे।...कछुआ पीठा जमीन पर तंत्रसाधना करके तुम्हारी संतान—तुम्हारा मान बढ़ायेगी।

आज भी देखिये—दुलारीदाय के आँचल तले पलते जनपद को ! गाँवों को, गाँव के लोगों को। उनकी एक परम्परा है।...परानपुर की बात छोड़िये—यह तो इस अंचल का प्राण ही है। . हाँसा, बिलुनपुर, पान-पत्ती, गीतवास कोठी, महेन्द्रपुर, मधुलता, कँचनार टोली, पलासकों...रानीडूबी !

सिर्फ रानीडूबी गाँव पुराकाल से अपनी बदनामी ढो रहा है—बाकी सभी गाँव किसी न-किसी अंश में अपने नाम की लाज बचा रहे हैं

दुलारीदाय के दोनों बाजुओं में पलते इन सुखी समृद्ध गाँवों का प्राण है—प्राणपुर !

दुलारीदाय के पूरबी 'महार' पर बसा है यह गाँव ! गाँव के पच्छिम-उत्तर कोण में है—बरदिया घाट। जहाँ दुलारी दाय आँचल में दीप लेकर प्रकट हुई थी !...

......अब तो बैमान जमाना आ गया है बाबू साहेब। किसी चीज का न धरम है और न तेज। न कोई देवता, न रहे देव।...जबसे रेलगाड़ी आई, सभी देव-देवी भागे पहाड़ ! एकाध पीर, फकीर साँई रह गये तो वे अब रेलगाड़ी में चढ़ कर दूर-दूर हज, तीरथ करने चले जाते हैं।...किसी की 'सतिया' नहीं बची। लोग बुरे हो गये।...नहीं तो दुलारी दाय के आँचल में लगातार चार साल सूखा पड़े ? अंधेर है !...पहले तो हर साल बरदिया घाट पर 'मानिक दियरा' जलता था किसी न किसी रात में !...पिछले दस साल से वह भी जलना बंद हो गया। कलियुग अब 'समाप्ति' पर है।—

बूढ़े गीतकथाकार की उपर्युक्त 'वाणी' पर आप विशेष ध्यान नहीं दें।—कोसी मैया की वाणी पर भी हँसने की आवश्यकता नहीं। मैया के 'माँ बाप' का नाम ?... जिसका कोई बाप नहीं, बाबा बमभोला उसका बाप। जिसकी कोई माँ नहीं, माता उसकी गौरा पारबती !...

पंडुकी का जित्त् आज भी सोया सपना देख रहा है। उठता ही नहीं।...बन्ध्या रानी माँ का सारा, सुख-ऐश्वर्य छिपा हुआ है सोने के एक कलस में—बिजूबन बिजूखंड में। देवी का 'खांड़ा' कौन उठावे ?...पंखराज घोड़े पर कौन सवार होकर जायगा—कलस लाने ?

हटाइये, परिंदे-पंछियों की कथा ! किन्तु, गीत कथा गायक बूढ़ा भैंसवार सारे युग को 'बैमान' कह रहा है।...एक-एक आदमी पाप मुक्त जिस दिन हो जायगा—सारी धरती हरी-भरी हो जायेगी।...प्राणों के नये-नये रंग उभरेंगे !......

अपढ़, गँवार, बूढ़े भैंसवार के 'जीवन-दर्शन' की कोई महत्ता नहीं। संभव हो तो टेप रेकर्डिंग कर डालिए गीतकथा की। लोकगीतों की फेहरिस्त में इनको थोड़ी जगह मिल जायगी।...कथा की बात नहीं कहता। क्योंकि, परियों की कहानी तंत्रमंत्र और जादू-टोने की बातें सुनकर लोग हँसेंगे। किन्तु इस जिले के विभिन्न अंचलों पर—पिछले तीस साल से जो कथा साहित्य की रचना हो रही है, आप उन्हें न तो 'चिरई चुरमुन' की कहानी कह कर उड़ा सकते हैं और न उन लेखकों को आप बूढ़े भैंसवार जैसा गंवार ही कह सकते हैं।

बंगला कथा साहित्य में 'आरण्यक' [ले० स्व० विभूति भूषण बंदोपाध्याय] की अपनी जगह है। पच्चीस तीस साल पहले—गंगाकोसी संगम के आस-पास की जिन्दगी को अपने पृष्ठों में लपेट कर जब यह किताब निकली तो साहित्य रसिकों ने एक स्वर से प्रशंसा की।...दस साल से श्री सतीनाथ भादुड़ी, 'जागरी' तथा 'ढोढ़ाई चरित-मानस' आदि की रचना करके बंगला पाठकों को एक सर्वथा नवीन रस का आस्वादन करा रहे हैं। पूर्णियाँ की शहरतली गाँठों (urban) की जिन्दगी पर बेजोड़ चीज है। ...हाल की बात है, इसके एक अंचल को हिन्दी के एक उत्साही लेखक ने भी अपनी किताब का 'कथांचल' बनाया है।

और, इसके एक अंचल की पृष्ठभूमि में 'परती : परिकथा' कहने का यह आयोजन ?

"...धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रांतर !"

कछुआ पीठा भूमि पर खड़ा होकर एक नौजवान देख रहा है—अपने कीमती कैमरे की आँखों से—धूसर, वीरान, पतित भूमि...बालूचरों की शृंखला ! हिमालय की चोटी पर सूरज की किरणें चमकती हैं।...अर्धवृत्ताकार होकर चली गई है नार्थ-इस्टर्न रेलवे की एक ब्रांच लाइन ! लाइन के किनारे टेलीग्राफ के खम्भों की पंक्तियाँ ...टेलीग्राफ के तारों पर बैठी हुई हैं पंक्तिबद्ध...किस्म-किस्म की चिड़ियाँ !...सबों का मुँह लाइन की ओर है। ठीक गाड़ी आने के समय परती पर चरती हुई चिड़ियों में एक हल्की चुनचुनाहट होती है और वे टेलीग्राफ के तारों पर जा बैठते हैं। चुपचाप बैठी नहीं रहती—अपनी भाषा में कुछ 'कचर-पचर' बोलती रहती हैं।

युवक कैमरामेन श्री भवेशनाथ इसी इलाके का लड़का है। एम० ए० की परीक्षा देकर आया है —परती के विभिन्न रूपों की स्टडी करता है। कैमरा ही उसकी असली आँख है।...वह मन ही मन सोचता है—तीस साल बस और तीस साल ! इसके बाद तो सारी धरती इन्द्रधनुषी हो जायगी।...तब तक 'कलर फोटोग्राफी, और भी डेवलप करेगी ...

मालगाड़ी जा रही है—कोसी डैम के लिये सामान जा रहे हैं; रोज तीन माल गाड़ी !

श्री भवेशनाथ को बराह क्षेत्र की याद आती है—पिछले दस साल से वह बराह क्षेत्र जाता है। हिन्दुओं का पुरातन तीर्थ तो है ही—भवेश का वह क्या तीर्थ है !... बड़े बड़े टनेल के अन्दर काम होते उसने देखा है—पहाड़ काटने वाले पहाड़ी जवानों के कितने 'क्लोज अप' उसके पास हैं।...अरुण, तिमुर और सुनकोशी-के संगम पर बैठ कर पानी मापने वाले सिल्ट की परीक्षा करने वाले विशेषज्ञों को वह भूल नहीं पाता है— !...प्राणों में घुले हुए रंग धरती पर फैलते क्यों नहीं ? वह रंगीन फोटोग्राफी जानता है !

गाड़ी परानपुर स्टेशन पर कुछ देर रुक कर—खुल जाती है। आश्चर्य ! गाड़ी जाते ही चिड़ियों की टोलियाँ भी फुर्र हो गईं।...किसकी प्रतीक्षा में वे सामूहिक रूप से पंक्तिबद्ध होकर रोज बैठती हैं।...निराश भी नहीं होतीं कभी।

...सुरपति राय 'डॉक्ट्रेट' की तैयारी कर रहे हैं। नदियों के घाटों के नाम, नाम के साथ जुड़ी हुई कहानी नोट करते हैं, गीत सुनते हैं और थिसिस लिखते हैं... रानीडूबी घाट, नदी-दुलारी दाय...। रानी ने अपने वृद्ध राजा को पान में विष देकर खिला दिया और डोली में बैठा कर नवाबी दरबार में भेज दिया। रास्ते में कहारों ने देखा—राजा साहब निष्प्राण पड़े हैं !...कोतवाल साहब ने धोखेबाजी की। बोले—रानी, राजपाट आधा दे दो, नहीं तो भेद खोल दूँगा। रानी के कोमल

हृदय को बड़ी चोट लगी, क्योंकि उसने कोतवाल के प्रेम में पड़कर राजा को विष दिया था।...रात में रानी उठी और गले में घड़ा बाँध कर दुलारीदाय के एक 'कुँड़' में डूब मरी। च्: च्: !!

सुरपति अभी तक तीन ही 'घाट' की कहानियाँ बटोर सका है—सो भी भूली-बिसरी, आधी पूरी कहानी के टुकड़े।...सात घाट का पानी पी चुकने पर सुरपति को भी विश्वास हो जायगा—चिरई चुरमुन।और भैंसवार ही असल कथाकार हो सकते हैं!

आज परानपुर स्टेशन पर सुबह की गाड़ी से उतरी है एक युवती।...(...हिरोइन?) नहीं, वह हिरोइन नहीं। वह सिर्फ़ इरावती है और सिर्फ़ इरावती रहना चाहती है। देखने में हिरोइन जैसी लगती है अवश्य—किन्तु हीरो का दुर्भाग्य। इतनी बड़ी तकदीर लेकर-प्राणपुर गाँव में जन्म लेना संभव नहीं!... 'म्युजिक-डांस-ड्रामा' के काम से इरावती इस जिले में आई थी।...दस साल के बाद वह हीरो के प्रति अचानक थोड़ा सदय हुई और...कटिहार से सीधे प्राणपुर!...

. प्राणपुर स्टेशन पर उतर कर वह शिप्रा को टेलीग्राम देती है—'तुम्हारी आवश्यकता नहीं, जित्तन के घर जा रही हूँ। पत्र जा रहा है।'

और प्राणपुर गाँव के एक उजड़े खंडहर जैसे मकान की एक कोठरी में बैठकर हीरो—यानी जित्तन...अर्थात्-जितेन्द्रनाथ मिश्र जी—एक टक खिड़की से देख रहे हैं—सामने, पोखरे में सुपारी और नारियल के वृक्षों की परछाईयों को!......दाहिनी ओर दीवाल पर 'देगा' की एक तस्वीर की कापी फ्रेम में लटकी है—आध दर्जन अर्धनग्न नर्तकियों की टोली, नृत्यरता नायिकाएँ। स्वस्थ फ्रेंच युवतियों की इन तस्वीरों की कृपा से जित्तन बाबू इधर काफी कुख्यात हो गये हैं?...गाँव के पुराने लाल बुझक्कड़ भिम्मल मामा ने ग्राम पुस्तकालय के 'पठनागार' में घोषणा की थी—'बुद्धिभ्रष्ट होने से आदमी सब कुछ कर सकता है।'...जितेन्द्रनाथ अकेले में भी मुस्कुराते हैं—'पिजारो' 'वैन गॉ' 'रनोआर' 'देगा' आदि को फ्रांस के कला पारखियों ने भी गालियाँ दी थीं—'पागल होने पर आदमी ऐसी ही तस्वीरें बना सकता है।' जितेन्द्रनाथ मुस्कुराते हैं, भिम्मल मामा को उन कला आलोचकों की श्रेणी में बैठा कर देखा जाय या लाल बुझक्कड़ ही समझा जाय?... किन्तु, जितेन्द्रनाथ तो कलाकार नहीं हैं। फिर ऐसी तस्वीरें......!!

—जित्तन! -ओ-हो! तुम डर गये?...सरप्राइज्ड!

—इरावती? तुम?

—इरावती को भूल नहीं सके हो देखती हूँ। अभी भी उसकी तस्वीर तुम्हारी मेज पर मुस्कुरा रही है।...अपनी सूरत तो 'क्यूबिज्म' का नमूना होती जा रही है...। प्रदर्शनी करवा कर देखो एक बार। आजकल कलाकारों को प्रचुर पुरस्कार मिल रहा है।

...और उपर्युक्त दोनों प्राणी पूरे दस वर्ष के बाद मिले हैं।... इस हठात् मिलन के पहले दोनों ने कभी इन क्षणों की कल्पना भी नहीं की होगी।...इस मिलन को एक 'महामिलन' का रूप देकर एक बृहत उपन्यास की समाप्ति की जा सकती थी। किन्तु...कथा का श्री गणेश भी न कर सकी—इनकी मिलन की घड़ी हालाँकि दोनों की आँखें काफी देर तक चमकती रहीं।—

...इस पुराने खण्डहर में घुसी हुई कोठरी की एक ईंट भी विस्मित नहीं हुई। क्योंकि इस कोठरी में ग्रेट ब्रिटेन की एक परम सुन्दरी युवती पूर्व-पश्चिम के दर्शनों पर बहस कर चुकी है—पैंतालिस साल पहले!...उसकी मुस्कुराहट का जादू आज तक कमरे को 'भुतहा' बनाये हुये है।

इसलिये, जित्तन तथा इरावती की जिन्दगी की इस अभूतपूर्व घटना को परिभाषा का *प्रथम पृष्ठ नहीं मिल सकेगा।...दुख है!*

पंडुकी, बूढ़ा भैंसवार,...आदि की परम्परा में नये लोग आये हैं, श्री भवेशनाथ, सुरपति, जितेन्द्र, इरावती। इनसे कहिये...परिकथा प्रारम्भ करने के लिये कोई एक सामने आ जायँ! लेकिन स्मरण रहे! जित्तू अधूरी कहानी के सपने देखता सोया पड़ा है, बंध्या रानी माँ के कलश का उद्धार कैसे हो,...विशाल धरती पर इन्द्रधनुषी जिन्दगी कैसे उतरे, आदि 'चाक्रिकपद्धति' के प्रश्नों के उत्तर दिये बगैर वे कहानी आगे नहीं बढ़ा सकेंगी।

...दाल वाली 'चिरैया' की कहानी है न?...राजा-राजा कोतवाल बुला, कोतवाल ने परवाना भेजे, बढ़ई न खुट्टा चीरे...खुट्टा मेरी दाल है। क्या खाऊँ? क्या पीऊँ? क्या लेकर परदेश जाऊँ?

उसी पद्धति से प्रारंभ किया जाय! क्योंकि 'बिजुबन बिजुखंड में बंध्या रानी की सुख समृद्धि एक 'कलस' में बंद पड़ी है। जित्तू उठे तब तो कुछ हो! जैसा कि आप जान ते हैं, उसके बगैर वहाँ कोई जा नहीं सकता।—

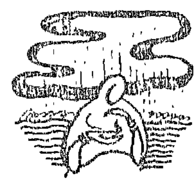
"तुर तुत्तु...उ—

"उठ जित्तू........

दूध और दाँत

मोहन राकेश

पृष्ठभूमि



रहट के चलने और बैलों की घंटियों का शब्द।
साथ एक पुरुष के गले से गीत सुनायी देता है :
मेरी लग्गियाँ तोड़ निभायीं कि मुद्दतां वे बीत गइयाँ !
शाला पुन्नियाँ हुए मोड़ मुहारां !

हल्का-हल्का बादलों का गर्जन और वर्षा का शब्द। गीत का स्वर और ऊँचा उठता है:

अद्धी अद्धी रातीं, सांझ सवेले
तैनू मैं ढूँढा जंगल बेले
मेरा रुठिया मीत मिलायीं कि मुद्दताँ वे बीत गइयाँ !

गीत का स्वर धीरे-धीरे दूर हो जाता है और एक गाय के रँभाने का शब्द सुनाई देता है। बादल ज़ोर से गरजता है और वर्षा तेज़ हो जाती है। फ़िर ढोलक का शब्द उभरता है : ढपक ढप् ढप्! ढपक: ढप् ढप्! ढपक ढप् ढप्! बादलों का गर्जन उस शब्द को छा लेता है।

बादलों का शब्द मंद पड़ने के साथ हवा की ज़ोर साँय-साँय। फिर दूर से उठता हुआ शब्द : "रावी का बाँध टूट गया"......

भागदौड़ और मिश्रित कोलाहल। पशुओं के जोर-जोर से रँभाने का शब्द।

दृश्य १

एक मिट्टी का घर जिसकी छत से रह-रह कर पानी टपक पड़ता है।

ईसर— (बाहर से आता हुआ घबराये हुये स्वर में) राज करनी ! राज करनी ! जल्दी कर। खेतों में घुटने-घुटने पानी भर गया है। जहाँ तक आँख जाती है सब दरिया ही दरिया नज़र आता है। मैं तो कहता हूँ आज परलय आ गयी है, परलय।

राजो— चल, परलय ही आनी है तो आ लेने दे। मैं बाल बच्चों को ले कर कहाँ निकलूँ ? साथ कोई मरद नहीं मानस नहीं। ढोर डंगर किस के भरोसे छोड़ जाऊँ ?

ईसर—ढोर ढंगरों को तू उनके भरोसे छोड़ और निकलने की बात कर। ज़्यादा देर इधर-उधर की सोचेगी तो निकलने का रास्ता नहीं रहेगा। पता है पानी कितनी तेजी से बढ़ रहा है ? मेरे देखते-देखते बसंते का आधा खेत पानी में चला गया है। यहाँ जिन के पक्के मकान हैं, वे भी जान ले कर भाग रहे हैं और तू ऐसे बात कर रही है जैसे जान की हुंडी लिखा कर लायी हो। लाली को कंधे से लगा, संतोखी की उंगली पकड़ और पाशी को साथ ले कर निकल जा।...पाशी रानी !

पाशी—(दूसरे कमरे से आती हुई) हाय ईसर चाचा, पानी ऐसे टपक रहा है जैसे ऊपर छत हो ही नहीं। लाली को सुलाने के लिए भी जरा सी जगह नहीं बची जहाँ पानी न गिर रहा हो। खेस दुलाइयाँ सब भीग गयी हैं। संतोखी ठंड से कांप रहा है, उसे कौन-सा कपड़ा दूँ ?

राजो—हाय मैं मर जाऊँ ! किसी बच्चे को ठंड लग गयी तो क्या होगा ? आगे ही मेरे भागजली के कौन बहुत हैं ? और अभी ईसर चाचा तू कहता है कि इन्हें ले कर घर से निकल जा। बता इस तूफ़ान पानी में मैं इन्हें कहाँ ले जाऊँ ?

ईसर—तू तो पागल हो रही है। इस तूफान पानी में उन्हें ले कर जाएगी नहीं तो क्या दरिया की भेंट कर देगी ? तेरे मेरे पैर तो पानी में सँभल भी सकते हैं, इन बच्चों के पैर कौन संभालेगा ?

राजो—पर चाचा, घर से निकल कर दर बदर...

ईसर—(बात बीच में काट कर) तू दर बदर होने की सोच और मुझे बच्चों की जान की फ़िक्र है। ला पाशी बेटा, कोई रोटी टुक्कड़ पड़ा हो तो कपड़े में बांध ले। साथ लाठी ले ले, कभी रास्ते में जरूरत पड़ जाती है।......जल्दी कर।

पाशी—सबेरे की तो कोई रोटी बची नहीं थी, मैं अब जल्दी से बना लेती हूँ। गेहूँ वाली कोठरी भी चू रही है। हमारा सारा गेहूँ ख़राब हो जायेगा।...... भौजाई, जल्दी से कुछ रोटियाँ बना लूँ ?

राजो—इस मेंह में आग जलेगी कि रोटी बनेगी ? मेंह जरा थमे तो कुछ हो भी।

ईसर—तुम मेंह थमने की इंतजार करो तो रोटी बना खा लोगी ! अब इस सारे झंझट को छोड़ो और यहाँ से चलने की करो...

पाशी—पर चाचा, देख न घर की क्या हालत हो रही है ? छतें और दीवारें सब घुल कर मिट्टी हुई जा रही हैं। छप्पर देख न कैसे नीचे को आ रहा है ? हमारे पीछे घर की देखभाल कौन करेगा ? पास-पड़ोस में भी तो कोई नहीं रहेगा।

गाय के रँभाने का शब्द।

राजो—और राधा और इसके बछड़े को कौन देखेगा ? कल से बारिश की वजह से इसे चराने के लिए भी नहीं छोड़ सकी। यह भूखी यहाँ किसका मुँह देखेगी ?

ईसर—इसकी रखिआ करनेवाला पालनहार है। तू इसकी चिन्ता छोड़। और पीछे मैं तो रहूँगा ही। जहाँ अपने ढोर जमीन की देखभाल करूँगा वहाँ तेरे की भी कर लूँगा। पर तू अब खड़ी बातों में ही वक़्त न गँवाये जा। करतारे ने तेरी बाँह मेरे हाथ में पकड़ायी थी कि चाचा बच्चों के बड़े होने तक इसकी देख-रेख रखना। वह होता तो मुझे तेरे साथ इतनी ज़िद क्यों करनी पड़ती ?

पाशी—चाचा, तू आप यहाँ रहेगा और हमसे जाने को कह रहा है ? हमें जान तुझसे ज़्यादा प्यारी है ?

ईसर—बौरी, मुझे जान प्यारी नहीं ? मगर मुझे यहाँ सौ चीज़ की चिन्ता करनी है। अपनी फ़सल है, तुम्हारी फ़सल है, नन्ते जमादार की फ़सल है। गाय बैल तो जान लेकर भाग भी जायँगे, यह फसल तो यहाँ खड़ी की खड़ी रहेगी। मक्की में दाना पड़ गया है, यह पानी न जाने उसका क्या हाल करता है ?

राजो—अभी गेहूँ को फ़सल के लिए जुताई होनी है, ऊपर से दशहरा और दीवाली आनेवाली है, उसके लिए भी कुछ सामान करना है। संतोखी से मैंने कह रखा है कि इस दीवाली पर मैं उसे बहुत मिट्टी के खिलौने बनाकर दूँगी। तू रहने दे चाचा, जैसे तू रहेगा वैसे ही हम भी रह लेंगे। तू अकेला किस-किस चीज़ की देख-भाल करेगा ?

पड़ोस में मकान गिरने का शब्द। साथ कोलाहल:

···निकल चलो ! निकल चलो भाई, पानी गाँव में आ गया है।

···हाय मैं चर्खा पूनी सब कुछ छोड़ आयी हूँ, तू ही राखनहार है मालिक।

···चलो भाई, पानी पालासिंह के वेहड़े तक पहुँचा है।

···सलवार उठाकर चल। टखने-टखने पानी तो वहाँ भी आ गया है।

लोगों के पानी में चलते हुए गुज़रने का शब्द और क्रमशः दूर पड़ता हुआ मिश्रित कोलाहल।

ईसर—सारे गाँव में भाजल पड़ रही है राजकरनी, और तू कहती है मुझे यहाँ रहने दे। तू समझती है मैं खुशी से तुम जवान जान लड़कियों को अकेली घर से भेज रहा हूँ ? जब जान ही को बन आयी तो इन्सान क्या करे ? चल पाशी, तू लाली को उठा मैं संतोखी को कंधे पर उठाकर तुम्हें कुछ दूर छोड़ आता हूँ।

राजो—पर ठहर, सुन तो चाचा ..

ईसर—इस वक़्त चाचा को कुछ नहीं सुनना। चल पाशी। संतोखी...संतोखी बेटा !

पाशी—वह भी कोने में सिकुड़कर शायद सो गया है।

ईसर—संतोखी, निन्नी आ गई बेटा ? उठ बेटा तुझे घुमाने ले चलूँ।

संतोखी—(निंदियाये स्वर में) चाचा, दशहरे का मेला किस दिन है ?

ईसर—दशहरे के मेले को बेटा अभी बहुत दिन हैं। आज देख बाहर कितना मेंह पड़ रहा है। तू मेंह में नहायेगा ? चल उठ तुझे मेंह में नहलाऊँ। आ-हा ! आ-हा ! कालीआँ इट्टाँ काले रोड़-मींह बरसा दे जोरोंजोर। पाशी, लाली को ले आयी ? चल राज करनी।

संतोपी—माँ, भूख लगी है।

राजो—ईसर चाचा, बच्चा कह रहा है इसे भूख लगी है। रास्ते में इनके खाने-खिलाने का इंतज़ाम नहीं, कुछ नहीं। लाली को पल-पल दूध चाहिए। यह सारा जतन कहाँ से होगा ?

ईसर—जान रहेगी तो सब जतन हो जाएगा। देख घर में भी पानी आ रहा है। चल निकल पाशी !

पाशी—(दरवाजे के पास रुककर) चाचा गाँव में तो सारे पानी ही पानी हो रहा है तू रात कहाँ काटेगा ?

ईसर—रात काटने को बौरी, पीपल के पेड़ थोड़े हैं ? जिस डाल पर बैठ जाओ उसी से टेक लगा लो और पत्तियाँ तोड़कर खाते जाओ।

पाशी—हाय, पीपल की पत्तियाँ ?

ईसर—(ज़रा हँसकर) और क्या तू वहाँ मुझे मक्की की रोटियाँ बनाकर पहुँचाएगी ?

संतोखी—माँ, मुझे भूख लगी है।

राजो—(ज़रा चिढ़े हुए स्वर में) भूख लगी है तो चाचा से रोटी माँग। वही तुझे घर से ले जा रहा है।

ईसर—हाँ बेटे, वह देख वह वहाँ टीला है न ? वह...जहाँ पेड़ आकाश के साथ लगे हुए हैं! तू आँख मूँद ले तो अभी वहाँ पहुँच जाएगा। वहाँ पहुँच जाएगा तो माँ तुझे रोटी देगी। हाँ ? अच्छा तो अब मूँद ले आँख···ऐसे!

बादल का गंभीर गर्जन।

पृष्ठभूमि

वंशी का करुण स्वर। फिर शून्य में गूँजती हुई एक कौए की काँय-काँय। पानी में चलते हुए क़दम और संतोखी की सिसकती आवाज़ "माँ, भूख लगी है—माँ मुझे भूख लगी है!"

दूर से निकट आती हुई हवाई जहाज़ों की गूँज और राजो का स्वगत शब्द : 'रोटियाँ!'

बहुत से कंठों के साथ आवाज़ : "रोटियाँ! रोटियाँ।"

भगदड़ और कोलाहल : "रोटियाँ! रोटियाँ!"

दृश्य २

एक गीले वृक्ष का आसरा। राजो कुनमुनाते हुए लाली को थपथपा रही है। संतोखी उसके घुटने पर सिर रखे सिसक रहा है।

संतोखी—माँ, भूख लगी है। माँ तूने कल से मुझे कुछ नहीं खिलाया, मुझे बहुत भूख लगी है!

राजो—(चुमकार कर) अभी तेरी पाशी बूआ आ रही है बेटा। वह तेरे लिए रोटी लाएगी, लाली के लिए दूध लाएगी। वह देख, वह पंछी देख, देखा ? उसके भूरे और नीले पंख देख कैसे काँप रहे हैं ? और वह देख बगुला, दूध की तरह सफ़ेद, देखा ? इसकी चोंच कितनी बड़ी है ? यह चोंच से क्या पकड़ता है, देख, क्या पकड़ता है ?

संतोखी—माँ, मुझे भूख लगी है...

राजो—वह देख, वह पीपल का पेड़ है न ? हमारे घर का पेड़ बड़ा है या यह बड़ा है ? हमारे घर का पेड़ बड़ा है न ? उसकी पत्तियाँ भी इससे ज्यादा चिकनी और

हरी हैं, हैं न ? तू उस कौए को बुला जो सवेरे हमारे पीपल की डाली पर बैठ कर बोला करता है...आ आ कौए जा जा ! आ जा कौए आ जा ! !

संतोखी—(सिसकियों के बीच) मैं उसे यहाँ नहीं बुलाऊँगा। वह यहाँ आ जाएगा तो हमारे घर के पीपल पर कौन बोलेगा ? ना आ कौए ना आ ...

राजो—अच्छा ना आ कौए ना आ ! संतोखी कहता है तू हमारे घर के पीपल पर ही बोल। ठीक है न ?

संतोखी—नहीं, वह हमारे घर के पीपल पर बोलेगा तो उसे रोटी कौन डालेगा ? वह यहाँ आएगा तो मैं उसे रोटी डालूँगा। आ जा कौए आ जा ! आ जा कौए आ जा !!

पुरुष कण्ठ का धीमा हास्य-स्वर।

पुरुष—(ओट से निकल कर आता हुआ) बच्चा शायद बहुत भूखा है।

राजो—(ज़रा डरे हुए स्वर में) तू कौन है भाई ?

पुरुष—मैं ? मैं भी इंसानों में एक इंसान हूँ ।...नाम पूछो तो मेरा नाम दरशन है। यहाँ पास के ही एक गांव का रहनेवाला हूँ।

राजो—अच्छा तो अपने राह चल। यहाँ क्यों खड़ा हो गया है ?

दरशन—चलते चलते राह ही ने रोक लिया है। मुझे लगता है तेरा बच्चा बहुत भूखा है। तेरे साथ कोई मरद मानस नहीं है ?

राजो—तू मेरे मरद मानस को पूछने वाला कौन है ?

दरशन—मैं पूछने वाला कोई भी नहीं हूँ, और बाढ़ का पानी भी जैसे तुझेइ घर ले आया है वैसे ही मुझे भी ले आया है। मुसीबत में इंसान की परायों से भी साझ हो जाती है। कहे तो मैं बच्चे को रोटी दे दूँ। मेरे पास काफी रोटियाँ हैं।

राजो—चल भाई, हमें किसी की रोटी नहीं चाहिए। हम अपनी रोटी का प्रबन्ध आप कर लेंगे।

संतोखी—(सिसक कर) मां मुझे आधी रोटी ले दे...मुझे...बहुत...भूख...

राजो— (चिढ़ कर) ऐसी भूख लगी है तो कुएँ में जा मर। जान खा गया है भूख लगी है, भूख लगी है। कहा न अभी आती है पारो बूआ, तेरे पेट के चूल्हे के लिए रोटी ले कर...

दरशन—इस तरह कोसने से बच्चे की भूख मिट जाएगी ? तुझे रास्ते में मरद का आसरा भी चाहिए और रोटी भी। मैं दोनों ही चीजें तुझे दे रहा हूँ। पता नहीं इस बाढ़ में पिछले घर मकान रहे कि नहीं रहे। यह भी नहीं पता कि ये भूखें कब तक सहनी पड़ेंगी। रात को दिन का आसरा नहीं, दिन को रात का पता नहीं। तू माने तो मैं तुझे अपनी सारी रोटियाँ दे देता हूँ। सिर्फ एक बार...

राजो— (आवेश से दबे हुए स्वर में) हट जा यहाँ से...जा चला जा...बेशरम... बेहया...

दरशन—चल बेशरम बेहया ही सही।...मैं कहता हूँ, पता नहीं कल आनी भी है य नहीं...मेरी तेरे साथ कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं...तू नहीं मानती तो न सही। भूख को भूख का आसरा कहीं न कहीं मिल ही जाएगा। ले बच्चे के लिए दो रोटियाँ ले ले...

राजो— ले जा, मुझे तेरी रोटियाँ नहीं चाहिएँ। भूख ज्यादा से ज्यादा परान ही तो ले लेगी। ले ले परान।...तू जा अपनी राह चल।

दरशन—(जरा हँस कर) अपनी राह ? इस बाढ़ पानी में अपनी राह कौन सी है ? एक पैर टिब्बे पर पड़ता है तो दूसरा पैर खाई में। जिधर मुँह हो गया उधर राह हो गयी। ले, मैं चल रहा हूँ।...ये दो नमकीन पराठे रख ले। बच्चे की भूख बहल जाएगी।

राजो— नहीं, हमें नहीं चाहियें—ले जा अपने साथ ये अपने नमकीन परांठे। मेरे बच्चे को ये नहीं खाने हैं।

दरशन—तेरी मर्जी। अच्छा नदी-नाव संजोग है। हवा फिर पूरब की चल रही है। यहाँ से दो कोस आगे स्टेशन है। इधर पानी चढ़ने लगे तो उधर चली जाना। कोई न कोई शहर की गाड़ी मिल जाएगी।

तेज हवा का शब्द और वृक्षों की सरसराहट। लाली जोर से रोने लगता है।

राजो— अब तू रो कर मेरी जान ले। मेरी नसों में दूध है कहाँ जो तुझे पिलाऊँ ? ले, पी ले मेरे परान जितने तुझ से पिये जाते हैं...

लाली चुप कर जाता है।

राजो—(सहसा चिहुँक कर) हाय रे ! फिर काट खाया मेरे वैरी। मां की बोटी बोटी

नोंच लेगा क्या ? मुए ने कितने घाव कर दिये हैं। मां का मांस ही क्यों नहीं खा लेता ?...ओह !

संतोखी—मां, पाशी बुआ कब आएगी ?

राजो—क्या जाने कब आएगी ? पहर हो गया उसको गये, न जानें किस तरफ़ निकल गई है ? हवाई जहाज़ कब के निकल गये, लोगों ने रोटियाँ लूट बाँट कर खा लीं और यह जाने किस खोह में जाकर बैठ रही है ?

संतोखी—माँ, मैं जाकर उसे ढूँढ़ लाऊँ ?

राजो—तू और ढूँढने चला जा। पूरब की हवा चल रही है और ऊपर से रात उतर रही है। कहीं अँधेरे में पाँव फिसल गया तो पता भी नहीं चलेगा कि कहाँ गया। तू चुप करके बैठ रह। वह देख पूरब में बादल की नीली परी।

संतोखी—माँ, यह वही परी है जो राजकुमार को सुन्दर राजकुमारी के देश में ले जाती है और वहाँ फिर बाजे बजते हैं और राजकुमारी का राजकुमार के साथ ब्याह हो जाता है...हैं...?

राजो—तुझे नींद आयी हो तो सो जा मेरे बेटे !...सो-जा !

हवा की साँय-साँय।

संतोखी—मां, वह देख उधर, वह बुआ आ रही है। उसने अपनी चुन्नी में कुछ लपेट रखा है न मां ? वह जरूर रोटियाँ लेकर आयी है। हा-हा ! बुआ मेरे लिए रोटियाँ लेकर आयी है, रोटियाँ लेकर आयी है !

राजो—इतनी देर कहाँ लगा दी पाशी ? मेरा तो खून सूख रहा था कि कहाँ रह गयी ? इस झुटपुटे में आप तुझे ढूँढने जाती या इस टटहिये को भेजती ?

संतोखी—बुआ, चुन्नी हटा मैं देखूँ तू क्या लायी है ? रोटियाँ लायी है न ? आ-हा ! रोटियाँ !

रोटी लेकर जल्दी-जल्दी खाने लगता है।

राजो—कहाँ से लायी है तू ये रोटियाँ ? ये जो हवाई जहाजों ने गिरायी थीं, वो हैं ? पर ये तो...ये तो...

पाशी—भौजाई, हवाई जहाजों की रोटियों तक मैं पहुँच ही कहाँ मैं सकी ? बहुत भागी भी पर उन्हें नहीं पा सकी।

राजो—पर ये तो नमकीन पराठे हैं !...ये तुझे किसने दिये हैं ?

पाशी—एक भला आदमी था भौजाई। मैं कई जगह से माँग-माँगकर हार गयी पर मुझे किसी ने कुछ नहीं दिया। उसने मुझे माँगते देखा तो अपने आप ये आठ-दस पराठे निकाल कर दे दिये। मैं उसे···

राजो—अपने आप दे दिये ? तू सच कहती है अपने आप दे दिये ?...वह आदमी कैसा था ? वह लाल साफा बांधे था न, हाथ में बड़ी सी लाठी लिये...?

पाशी—भौजाई, तू ने उसे कहाँ देखा था ? क्या वह ...यहाँ भी...?

राजो—तो तू ने ये उसी से लिये हैं !...वह यहाँ भी आया था। वह यहाँ से होकर ही गया है। मैंने उसे डांटकर यहाँ से भगा दिया था ...और तू ने उस से ये ले लिये ! पाशी, सच कहती है उसने अपने आप तुझे ये दे दिये ? उसने तुझे और कुछ नहीं कहा ?

पाशी—(सिसक कर) भौजाई !

राजो—ओ पाशी !

पाशी—संतोखी कल से भूख से बेचैन था...तुम अपना मुँह देखो कैसा हो रहा है ? मेरा अपना कलेजा भूख के मारे ऊपर को आ रहा था ...मैंने बहुत ढूँढा कि कहीं कुछ मिल जाये...कहीं से लाली के लिये दो बूंद दूध भी नहीं मिला। जिधर जाओ उधर उजड़े हुये खेत, जिधर जाओ उधर मरे हुये पशु...ऐसा लगता है कभी यहाँ गाँव घर थे ही नहीं। जब मैं थक हार कर लौट रही थी वह मुझे रास्ते में मिल गया। उसके पास इतनी सी रोटियाँ थीं... (सिसकती रहती है)

राजो—चुप रह पाशी...मुझे और मत सुना। ये रोटियाँ खाकर तू समझती है पेट को शान्ति मिलेगी ? ये रोटियाँ जहर की तरह अंतड़ियों को जलाएँगी, पाशी। घर से निकलते हुए मैंने यह नहीं सोचा था कि ऐसा भी हो सकता है, यह भी देखना पड़ सकता है।

बच्चा कुनमुनाता है, फिर रोने लगता है।

राजो—ले, ले, तू छिली हुई छातियों को और छील ले ! एक पेट खाये जा रहा है और एक तू पेट का जाया ...

बच्चा चुप हो जाता है।

पाशी—ओह ! कितनी जगह इसने तुम्हें दांत से काटा है।

बादल का गम्भीर गर्जन।

पाशी—भौजाई, अभी और बारिश आ रही है।...अब क्या होगा?

राजो—क्या जाने क्या होगा? तूफान पर और तूफान आएगा और क्या होगा?

संतोखी—माँ, वह नीली परी आसमान से कहाँ चली गई?

राजो—नीली परी?... नीली परी को अँधेरा खा गया बेटा ...वह अँधेरे के पेट में चली गई। (चिहुँक कर) हाय रे फिर काट लिया, तू ने भाग जले! राच्छस, मां को ही खा लेगा?

फिर बादल का गम्भीर गर्जन।

पृष्टभूमि

रेल की पटरियों पर पड़ती हुई औजारों की चोटें। मिलिट्री दस्ते के जूतों की आवाज जो क्रमशः दूर होती जाती है। कुछ व्यक्तियों के कराहने की मिली जुली आवाज और उसके बीच एक व्यक्ति का निंदियाया हुआ स्वर: 'दूध वाला! गर्म दूध वाला'...

दृश्य ३

रात। टूटे हुए स्टेशन के जंगले के पास जमा लोगों में राजो, पाशी और संतोखी। राजो बाहों में सिर डाले सिसक रही है।

पाशी—चुप करो भौजाई। इस तरह रोने से वह मिल तो नहीं जायगा।

राजो—तू मेरा गला घोट दे पाशी! मैं हत्यारिन हूँ। मैंने अपने हाथ से उसे मरने के लिए छोड़ दिया है ...उस नन्हीं सी जान को जिसके दाँत भूख से तीखे हो गये थे।...अब तक वह सारी जमीन पानी के नीचे चली गई होगी और उसके साथ वह भी ...

संतोखी—मां लाली पानी के साथ बह कर घर नहीं पहुँच जायगा? वहाँ ईसर चाचा उसे देख लेगा तो अपने साथ उठा कर पेड़ की डाल पर ले जायगा ...

राजो—इसे उधर सुला दे पाशी! यह ऐसी बातें करके और मेरी जान नोंचता है।...(फिर सिसक कर) मेरी छाती के घाव दुख रहे हैं पाशी, मगर मुझे लगता है कि लाली वहाँ और दांत काटे तो इन घावों में ठंड पड़ जायगी। ...हाय! मैं हत्यारिन अब तक जिन्दा कैसे हूँ?

कुछ दूरी पर दूध वाले की आवाज सुनाई देती है : 'दूध वाला ! गर्म दूध वाला !'

राजो—इसे चुप करा दे पाशी, मुझसे दूध का नाम नहीं सुना जाता। उस वक्त मुझे दूध के कुछ कतरे ही मिल जाते तो उसका रोना बन्द हो जाता और मैं उस तरह झल्ला कर उसे छोड़ न आती। पाशी, गाड़ी आ जाये तो तू संतोखी को लेकर चली जाना। जहाँ गाड़ी ले जायेगी वहाँ खाने-दाने का परबन्ध तो होगा ही और मैं उस पानी में ही डूब मरूँगी जिस पानी में मेरा लाली चला गया है।

पाशी—ऐसी बात क्यों करती हो भौजाई ? तुम रह जाओगी और मैं संतोखी के साथ चली जाऊँगी ? तुम समझती हो कि तुम्हारे कहने से ही तुम्हारी बात मान ली जाएगी ?...अभी पता है और क्या क्या बीतने वाली है ? रेल की पटरियाँ टूटी हुई हैं। गाड़ी न जाने कब तक और न आये। यहाँ रेल-पेल में कौन किसी का बनता है ? एक बाढ़ में लाली को छोड़ दिया, अब इस बाढ़ में हमें छोड़ जाना —बहुत अच्छा करोगी !

राजो—तू भी ताने दे ले पाशी, किसी तरफ से कोई करार न रह जाए। तू बता जब पानी उतरेगा तो मैं गाँव में कौन सा मुँह लेकर जाऊँगी ? ईसर चाचा मेरी गोद खाली देखेगा तो क्या कहेगा ?

पाशी—वहाँ का भी क्या पता क्या हाल हुआ ? गाँव जा कर ही पता चलेगा कि ईसर चाचा के साथ क्या बीती ? वह पीपल की डाल भी बची या नहीं जिस पर बैठ कर वह पिप्पलियाँ खाने की बात करता था।

राजो—मैं कहती हूँ उसने हमें घर से क्यों इस तरह भेजा ? हम भी वहीं रह कर पत्तियाँ चबा लेते तो क्या बुरा था ? गाँव में घर भी पता है रहा है कि नहीं। राधा और उसके बछड़े के साथ न जाने क्या बीती होगी ?

दूर एक बच्चे के रोने का शब्द।

राजो—किसी का बच्चा रो रहा है।...परसों मेरा लाली भी इसी तरह रो रहा था।... इस बच्चे को भी शायद भूख लगी है।

फिर बच्चे के रोने का शब्द।

राजो—सुन पाशी, यह बच्चा बिलकुल लाली की तरह ही नहीं रो रहा ? बिल्कुल वही आवाज नहीं है ? मुझे लगता है यह उसी की आवाज है। ठहर, मैं देख कर आती हूँ...

पाशी—नहीं भौजाई, तुम्हारा वहम है। यह लाली की आवाज नहीं है। लाली कहाँ है, जो उस के रोने की आवाज आयेगी ?

राजो—नहीं बिल्कुल उसी की आवाज थी। तू एक बार मुझे देख आने दे...

पाशी—ठहरो, देखना ही है तो मैं देख आती हूँ। तुम्हें तो अँधेरे में हर बच्चा लाली दिखाई देगा।

राजो—नहीं नहीं पाशी, मुझमें इतना धीरज नहीं है। संतोखी को आँख लग रही है, तू इसे थपथपा। मैं अभी देखकर आती हूँ। माँ हूँ तो क्या...बिल्कुल अंधी तो नहीं हूँ।

पाशी संतोखी को थपथपाने लगती है : 'छो-जा। छंतोखी लाजा छो-जा।'

नेपथ्य में

(दूर एक अधेड़ स्त्री की आवाज सुनाई देती है : हट हट चुड़ैल। बच्चे उठाती फिरती है ? बेहया, कमजात...

राजो की आवाज़ : यह बच्चा मेरा है बहन...इसका नाम लाली है....

अधेड़ स्त्री की आवाज : हट, बड़ी आयी नाम बतानेवाली ! भाग दूर हो यहाँ से।

राजो की आवाज : बहन मैं कह रही हूँ यह बच्चा मेरा है, मेरा है। तुम किसी तरह मानोगी भी ?)

पाशी—(स्वगत) वही बात हुई ? भौजाई को यह क्या पागलपन सवार हो गया है ? (इस बीच अधेड़ स्त्री की आवाज़ सुनायी देती रहती है : हाँ हाँ मानूँगी, मानूँगी क्यों नहीं ? कल से कहते हैं लोगों के चार पाँच बच्चे यहाँ से उठाये गये हैं। यह सब तुम्हीं लोगों की करनी है और किसकी है ? अभी मैंने कुछ नहीं कहा, चुपचाप यहाँ से चली जा, नहीं तो मिलिट्री वाले सिपाही को बुलाकर पकड़वा दूँगी तो कर्मों को रोएगी। रांड कहीं की !)

पाशी—भौजाई, इधर आओ, क्या कर रही हो वहाँ ?

राजो—(पास आती हुई) तू चलकर देख ले पाशी, वह लाली ही है। वह उसे छाती में छिपाये हुए है, मेरी तरफ़ देखने भी नहीं देती।

पाशी—बैठ जाओ भौजाई। इस तरह अधीर होने से कुछ बनेगा ? कल से देख ही रही हो यहाँ से लोगों के बच्चे उठाये जा रहे हैं। कहीं हमारा नाम धरा गया तो मुसीबत में और मुसीबत पड़ेगी।

राजो—तू भी समझती है कि मैं अपने बच्चे को नहीं पहचानती ? उसके वही घुँघराले बाल हैं, वही आँखें हैं और वही रोने की आवाज है। तू इतना तो सोच कि मैं मां होकर दूसरी मां के बच्चे को अपना बताने लगूँगी ? तू उठ मेरे साथ चलकर देख वह लाली है या नहीं।

पाशी—भौजाई, पल भर बैठकर मेरी बात तो सुन लो। तुम देखती नहीं, वे लोग हम से भी ज्यादा गिरी हुई हालत में हैं ! वे औरत मरद दोनों एक ही फटी हुई धोती फैला कर पड़े हुए हैं। उनको क्या चाव होगा कि वे इस मुसीबत में दूसरे के बच्चे को सँभालते फिरें ? यहाँ किसी को अपनी जान का होश तो है नहीं।

राजो—तू बात ही कर रही है, एक बार अपनी आँख से देख तो ले। उठ, चल मेरे साथ।

पाशी—तुम बैठो, मैं अभी अकेली जा कर देख आती हूँ। तुम्हारे जाने पर तुम्हें देखते ही वह फिर झगड़ा शुरू कर देगी।

पाशी उठ कर जाता है। राजो झुक कर संतोखी का माथा चूमती है।

राजो—सो गया मेरे हीरे !...अभी तेरी बुआ लाली को ला रही है।...तू उठ कर देखेगा और उसे प्यार करेगा न !...वह आ गयी, तेरी बुआ आ गयी।

संतोखी कुनमुना कर करवट बदलता है।

राजो—सोया रह, सोया रह, मैं वारी।

पाशी आती है।

राजो—देख आयी न ? अब तो यकीन हो गया कि मैं सच कहती थी ? वह कौन है बच्चे की, जो उसे छाती से लगाये बैठी है ? देख लिया...वह लाली ही है न !...बोलती क्यों नहीं ?

पाशी—भौजाई, तुम मेरी बात मानो, अधीर नहीं होना...

राजो—तू बता वह लाली है या नहीं ?

पाशी—भौजाई तुम इस तरह अधीर हो उठोगी तो लोग सौ चोरियाँ, सौ अपराध हमारे सिर मढ़ देंगे। यहाँ कोई अपने गाँव का जानने पहचानने वाला भी नहीं है। तुम जरा मन को सँभाल कर रहो तो...

राजो—मैं, जो पूछती हूँ पहले वह बता, कि वह लाली है या नहीं ?

पाशी—भौजाई, मैंने उसे अच्छी तरह पास से देखा है। वह हमारा लाली ही है।

राजो—तो फिर तू मुझे क्यों रोकती है ?...मैं लाली का रोना नहीं पहचानती ? मैं अभी उस रांड का सिर नोचती हूँ...

पाशी—भौजाई, हाथ जोड़ कर कहती हूँ, इस वक्त मेरी बात मान लो। आधी रात हो चुकी है। दो चार दस लोग जागते होंगे, बाकी सब सो रहे हैं। इस वक्त उसने हो हल्ला किया तो लोग बात समझें पूछेंगे नहीं, उल्टे हमें ही चोर बना कर पकड़ लेंगे। तुम सबेरे तक किसी तरह हौसला रख लो। दिन चढ़ते ही हम लोगों से बात कर लेंगी और हमारा लाली हमें मिल जाएगा।

राजो—दिन चढ़ने तक मैं चुप बैठी रहूँ ? मेरी आँख के सामने मेरे बच्चे को कोई और लिये सोयी रहे और मैं बैठ कर ताकती रहूँ ? मैं उस चुड़ैल की छाती न जला दूँ ?

पाशी—भौजाई, तुम उसे चुड़ैल क्यों समझती हो ? हम लाली को यही सोच कर छोड़ आयी थीं न कि कोई न कोई उसे दया करके उठा लेगा—कोई जो हमारी तरह निरासरे न होगा। तब हमें यह तो नहीं मालूम था कि वह सारी जमीन भी पानी के नीचे आ जाएगी ?...ये लोग हम से भी ख़स्ताहाल हैं फिर भी ये उसे उठा लाये हैं। अब तभी वह और उसे तुम्हारे हाथ में नहीं देना चाहती थी, इसीलिए न कि वह तुम्हें उसकी माँ नहीं समझती ? वह तो यही सोचती होगी न कि मां अपने बच्चे को इस तरह कैसे छोड़ कर आ सकती है ?

राजो—(रुआँसे स्वर में) मैं तो आप ही कहती हूँ कि मैं मां नहीं कसाइन हूँ...मेरी करनी का मुझे फल मिलता तो बच्चा बाढ़ में बह गया होता। अब मुझे बताओ मैं क्या करूँ ? मुझसे उसे देख कर रहा नहीं जाता। यह देखो, यहाँ छू कर देखो...

पाशी—यह तो दूध है !......तुम्हारी कमीज़ दूध से गीली हो रही है !

राजो—मेरे यहाँ पर जैसे कोई उबाल आ रहा है। जैसे कोई चीज फट पड़ना चाहती है। तू बता मैं इस उबाल को किस तरह सँभालूँ ? मेरा रोयाँ रोयाँ दर्द कर रहा है।

पाशी—सुबह तक जैसे भी हो सके अपने को रोके रखो। वहाँ एक आदमी कह रहा था कि सुबह तक पटरी ठीक हो जाएगी और शायद एक गाड़ी हमें शहर ले जाने के लिए आए। यह न हो कि सुबह हो भी नहीं और हमें हथकड़ियाँ लग जाएँ। सवेरे जरूर लाली भी हमें मिल जाएगा और हम शहर भी चले जाएँगे।...वहाँ कहते हैं सरकार की तरफ़ से सब को खाना और रहने की जगह मिलेगी...

राजो—मुझे रहने खाने की बात नहीं सूझती पाशी। मेरा बच्चा जब तक मुझे नहीं मिलता मैं न बैठ सकती हूँ सोच समझ सकती हूँ। मुझे लाली चाहिए लाली, बस!

पाशी—लाली कहीं गया नहीं, यहाँ पास ह ै तो है। यहाँ बैठी हुई तुम वह फटी हुई धोती देख रही हो जिसमें लिपट कर वह सोया हुआ है। सुबह होते ही...

राजो—तेरे जितना मेरा कलेजा नहीं है। ...मुझे लगता है कि वह अब सो गई है। ...मैं चुपके से जाकर लाली को उठा लाती हूँ। फिर जो तू कहेगी वह मैं मान लूँगी।

पाशी—भौजाई!

राजो—अब तू बोल नहीं। मैं बहुत धीमे पाँव जा रही हूँ।

चल देती है।

पाशी—भौजाई सुनो तो सही ...

राजो—अब तू चुप रह ...

कुछ क्षण निःस्तब्धता।

पाशी—हाय अगर वह जाग गई तो....?...लाली शायद गाढ़ी नींद में सोया है।...वह...वह...नहीं। वह...हाँ; ...अब क्या होगा? अगर कहीं शोर और मच गया तो? हाय राम!

राजो—(दबे स्वर में) देख मैं इसे ले आई हूँ। बच्चा छाती के साथ लगते ही कैसे चिपक गया है? यह भी तो माँ के शरीर की गर्मी पहचानता है।... मेरा लाल

उसे मुँह से पैरों तक चूमने लगती है।

पाशी—अब इसे जगाओ नहीं, सोया रहने दो।

राजो—सोया रहने दूँ ? देखती नहीं सोये सोये भी इस के होंठ कैसे हिल रहे हैं? मैं इसे थोड़ा दूध दे दूँ ।

पाशी—नहीं भौजाई, अभी रहने दो। इस वक्त तो हम असलियत में चोर हैं। इतना प्यार करने से वह जाग जायेगा। तुम इसे सोया रहने दो और जैसे भी हो थोड़ी देर के लिये आप भी सो जाओ।

राजो—मगर इस के होंठ जो दूध के लिये हिल रहे हैं। दूध पीते पीते इसकी नींद और भी गहरी हो जायेगी।...ओह।

बच्चा कुनमुनाता है।

पाशी—भौजाई, अब और रहने दो। देखो उसकी नींद खुल रही है।

राजो—पी ले, पी ले। तेरी मां कसाइन है न बेटे? है न कसाइन ?

सहसा बच्चा रो उठता है।

पाशी—हाय राम! यह क्या किया भौजाई ?

(दूर अधेड़ स्त्री की आवाज: बच्चे को कौन ले गया यहाँ से?...हाय, हमारा बच्चा किसी ने चुरा लिया...)

राजो—(दबे स्वर में) चल जल्दी से यहाँ से निकल चलें। संतोखी को तू बाहों में उठा ले। जल्दी चल...पटरी पार करके उधर खम्भे की तरफ़ को निकल चलते हैं। हाँ हाँ···सँभाल ले इसे, चल...

(इस बीच अधेड़ स्त्री की आवाज सुनायी देती रहती है: मैंने कहा, उठ कर देख तो सही।...जरूर वही डायन उसे उठा कर ले गयी है। मैं पहले ही डर रही थी कि कहीं मेरी आँख लग गयी तो चुड़ैल उसे ले जाएगी। पराया बेटा, इतने जोखम से बचाकर लाये और यह राच्छसी उठाकर चली गयी।

आस-पास शोर बढ़ता है:

···क्या हुआ है?

···किसका बच्चा उठाया गया?

···इन लोगों ने अच्छा मौका ढूँढ़ा है?

···उधर देखो लाइनों की तरफ...

···उधर तो आगे पानी ही पानी है।

...उधर नहीं, इधर पगडंडी की तरफ़ देखो

···उधर कोई नहीं है।

...कल से पाँच बच्चे उठाये गये हैं।
...कैसा अँधेर आया है!
...उधर तो नहीं, लाइनों के पार?
...उधर जाकर किसी को मरना है?
...तोपी, नन्दी, किधर हो बेटे इधर रहो।
...हे भगवान्!

सहसा शोर काफ़ी बढ़कर धीरे-धीरे मन्द पड़ जाता है।

पृष्ठभूमि :

दूर रेल के आने का शब्द।

पानी में चलते हुए पैरों का शब्द।

दृश्य ४

बाढ़ के घुटने-घुटने पानी में लाली को उठाये हुए राजो और संतोखी का प्रवेश।

पाशी—हम स्टेशन से आधा कोस तो आ गये होंगे, है न भौजाई?

राजो—कितना भी आ गये हों, अब यहाँ कोई मुझसे मेरे बच्चे को छीनने नहीं आएगा।

पाशी—मेरा ख्याल है दिन निकलने वाला है। पूरब में हल्का हल्का उजाला नहीं दिखायी दे रहा?

राजो—हाँ, लगता है आज सूरज निकलेगा। आज पूरब में बादल नहीं है।...कितने दिनों के बाद आज सूरज निकलेगा! ओह!

पाशी—भौजाई, स्टेशन पर गाड़ी आ गयी है। हम लोग इस गाड़ी से तो जा नहीं सकते। इस गाड़ी से यह भीड़ चली जाएगी तो हम फिर स्टेशन को लौट चलेंगे। गाड़ी चलने लगी है तो कल भी कोई न कोई गाड़ी जरूर आएगी।

राजो—देख, यहाँ पानी उस दिन से कम नहीं हो गया? उस दिन इन पेड़ों के इतने इतने तने कहाँ दिखायी दे रहे थे? पानी उतर रहा है...

पाशी—हाँ, पानी तो उतर रहा है...

दूर गाड़ी की सीटी और गाड़ी के आने का शब्द।

पाशी—यह गाड़ी तो स्टेशन से चल दी है। अब हम लोग स्टेशन की तरफ़ जा सकते हैं। चलो भाभी, लौट चलें। अब आगे पता नहीं और कितना गहरा पानी है।

राजो—पानी ज्यादा गहरा नहीं है । और अब तो पानी उतर ही रहा है । चल पाशी, हम लोग स्टेशन की तरफ न चल कर अब अपने गाँव की तरफ चलें ।

पाशी—गाँव की तरफ ? क्या कहती हो भाजाई ? इस पानी में गाँव की तरफ ? जहाँ पता नहीं कोई ठौर ठिकाना बचा भी है या नहीं ।...वहाँ अनाज और फसल सभी कुछ तो बह गया होगा। किसी तरह वहाँ पहुँच भी जाएँ तो भूखे रह कर कितने दिन कटेंगे ?

राजो—मगर दूसरों के आसरे रोटी खाने के लिए घर जमीन छोड़ कर भी तो पड़े रहेंगे। मक्की और बाजरे की फ़सल बर्बाद हो गयी लेकिन जा कर गेहूँ की बुवाई भी तो करनी होगी ।...लाली को वापस पाकर पाशी, मैं सोचती हूँ और भी तो कितनी ही चीजें हैं जिन्हें हम निरदय बन कर छोड़ आये हैं...घर, गाय, बैल और जमीन । वे भले ही रोयें बोलेंगे नहीं लेकिन मेरा उनसे दूर जाने का हिया नहीं पड़ता...

संतोखी—(सिर उठा कर) और माँ, हमारा ईसर चाचा भी तो वहाँ है, हमारा पीपल का पेड़ भी वहाँ है और पीपल पर हमारा कौवा भी बोल रहा होगा...

पाशी—तू भी जाग गया दटहिरो...!

राजो—क्यों बेटे, अपने घर चलेगा न ? पीपल पर बैठ कर तेरा कौवा जोर जोर से तुझे पुकार रहा होगा—आ जा तोखी, आजा ! आ जा तोखी, आ जा ?

संतोखी—वह लाला को भी पुकार रहा होगा, तुम्हें भी और बुआ को भी । बुआ, घर चलो न ।...मैं ईसर चाचा के कंधे पर बैठ कर दशहरे का मेला देखने जाऊँगा ।

राजो—चल पाशी, मेरी अच्छी बहन । संतोखी बेटा, तू अपने कौए को आवाज दे, आया कौए, आया !

संतोखी—(उचक कर) आया कौए, आया !...आया कौए, आया !

क्रमश: यह आवाज धीमी पड़ती है, स्टेज पर प्रकाश बदलता है और पुरुष कंठ से गीत की आवाज सुनायी देती है:

मेरी लग्गियां तोड़ निभाईं, कि मुद्दतां बे बीत गइयां !
शाला पुन्नियां, हुए मोड़ मुहारां !
शाला पुन्नियां, हुए मोड़ मुहारां !!

धीरे धीरे परदा गिरता है

न्यूज़रील

शिवकुटी लाल वर्मा

रील खुल रही है; अस्पष्ट, धुँधली रील खुल रही है। नदी से निकलते हुये सूर्य को 'वैकुअम' में तैरते अदृश्य जहाजों ने ग्रस डाला !

कितनी बड़ी सफलता !

वृक्ष पत्थर के पुल बांधकर जोड़ दिये गये।

पर्दे फट रहे हैं; दृश्य गहरे होते जा रहे हैं—
चन्द्रमा के सौंदर्य में झुर्रियाँ पड़ गयीं
अमृत भरा घड़ा बिना तोते के पिंजड़े सा उजड़ा पड़ा है।
भूरी चट्टानों में कसमसाता जीवन का काव्य !

फूलों के महल में जानेवाली एक नन्हीं पगडंडी उन्हीं चट्टानों पर बार-बार अपना सर धुनती है,

सांस्कृतिक अभिरुचियों की कलात्मक चेतना ? सोडा भरी बोतलों की खोखली हँसी बजती है !
आदर्शों की खाल ओढ़े ये कौन बाज़ हंसों पर झपट पड़ना चाहते हैं ?

गिरते हुये काले पर्दे !
मन्दिर का देवता निष्प्राण हो रहा है,
उसके मुख पर सुगन्धित कपूर की ज्योति पड़ने के पूर्व ही आरती बुझ गयी ?

व्यापक पड़ते दृश्यों में संकोच का विस्तार...
व्यक्तिवादी अहं की भग्न समाधि पर सामाजिक एकता की काई जग रही है...
धूल भरी दूरबीनों में से मस्तिष्क की गहराई में बुझते ज्वालामुखी, आँधी चलने के बाद आसमान सरीखे दिख रहे हैं...

पर इन असम्बद्ध चित्रों में कौन-सा रंग समन्वय भर रहा है ? क्या मैं भी इस रील का पात्र हूँ या इसका अध्येता मात्र ?

प्लेटफार्म

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

सीटी हुई,
कुछ देर इंजिन
खड़ा सूँ सूँ करता रहा,
अन्त में आवाज क्रमशः बढ़ती गयी
एक झटके के साथ गाड़ी चली-

बहुत देर तक
तेज़ होते हुए इंजिन की आवाज़
आती रही...आती रही...आती रही,
और फिर, धीरे धीरे,
घटती हुई......खो गयी।

प्रगति का इतना ही
इतिहास मैं जानता हूँ।
क्योंकि हर बार अन्त में
मैं.........महज मैं
एक सूना प्लेटफ़ार्म,
नर्जन खामोश पड़ा रह गया हूँ,
यही कहने के लिए—
कि एक ट्रेन आयी थी
रुकी थी
चली गयी;
शायद फिर आयेगी
रुकेगी
चली जायेगी;
क्रम यह लगा रहा है,
क्रम यह लगा रहेगा,
लेकिन हर क्षण स्वागत
हर दूसरे क्षण प्रतीक्षा ने
कुछ मुझको ऐसा कर दिया है
कि लगता है
मैं ही गतिवान हूँ
गाड़ियाँ जड़ और बेलौस खड़ी हुई हैं
मैं ही महज़
आता हूँ...जाता हूँ...आता हूँ...जाता हूँ
मैं — मैं सूना प्लेटफार्म।

दरवाजों की पलकें आधी मुंद गयी हैं,
पटरियाँ लम्बी शहतीर सी पसरी हैं,
पुल जाने कब से औंधा पड़ा हुआ है,
बोझा लादने की दो पहिए वाली गाड़ी तक
अपनी पीठ खोल कोने में दुबक गयी है,
दोनों भुजाएँ फैलाए
लकवे के मरीज सी

खाली बेंचें कितनी गहरी नींद में हैं,
रोशनी तक
आँखें खोलकर सो रही हैं,
लेकिन मुझे जागना है,
क्योंकि आधी रात को
कोई मालगाड़ी
नींद में झूमती, हचकोले खाती
शायद आकर ठहर जाय,
सोते हुए उसके अनगिन डिब्बों में से
शायद कोई खुले,
शायद कुछ ऐसा मिले
जिसे कल सुबह होने पर
दूसरों को देना हो।

जिसे चुकाए बिना
कोई मेरा नहीं हो सका,
और जिसे चुकाकर
हर एक ने यह समझा
कि कुछ क्षणों के लिए
उसने मुझे खरीद लिया है।

कैसी विडम्बना है
कि वे जो गतिशील हैं
उनके विश्राम के क्षणों का भी मूल्य
मेरी जड़ आत्मा के नाम पर लगता है।

मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में
एक बात सीखी थी
कि हिमालय सा भी अनन्त बोझ
अपनी पसलियों पर लाद कर
निश्चिन्त सो सकूँ,
किन्तु जाने क्यों
आज एक छोटे से पीले बेज़बान कागज़ ने
जो कहीं से
मेरी पसलियों पर आ गिरा था
मेरा दम घोट दिया।
क्योंकि वह
इस बात का गवाह था
कि मैं भी बिका हूँ,
मेरी भी एक क़ीमत है,

ले जाओ—
लजाती शरमाती
सजी हुई वधुओं को,
किलकते उछलते
फूलों से बच्चों को,
सीटियाँ बजाते
झूमकर चलते युवकों को,
मेरी पलकों पर से
ले जाओ,
शायद घिरती आँसुओं की बूँदें टूट जायँ

ले जाओ—
अन्न की भारी भारी बोरियों को,
कपड़ों की कसी हुई
बेडौल गाँठों को,
पुस्तकों के

नरम लकड़ी वाले बक्सों को
मेरी पसलियों पर से
ले जाओ,
शायद दिल की ये धड़कनें कम हो जाएँ।

ले जाओ यत्रों को, मशीनों को
खोए वैज्ञानिकों को,
कवियों को, दार्शनिकों को
थके राजनीतिज्ञों को,
निश्छल सरल संतों को
मेरे हर अंग प्रत्यंग पर से
ले जाओ।
शायद खिंचती रगों का दर्द कम हो जाय।

क्योंकि कल
यदि मैंने सुना
कहीं मेरे आसपास
सुख है, शान्ति है,
सृजन है, निर्माण है
प्रगति है, विकास है,
तो मैं अपनी
इस निरर्थक आत्मा को भी
एक अर्थ दे लूँगा।
अनुभव करूँगा
इस सब के साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था।

नाटक

अनंतकुमार पाषाण

टीकठाक 'मेक-अप' कर डालो,
अगनित नयन रोशनी के खिल गये, ज्योति के ज्वार उठे हैं;
दर्शकगण भी जान बचा कर
बाहर की चलती-फिरती औ, हँसती-रोती
गिरगट-जैसी, हाव-भाव से
खोये यौवन की क्षति पूरी करने वाली
दुनिया से आये हैं यों बनने गवाह इस
स्वप्नद्वीप की स्वर्णकथा के—
आज हमारे अमर प्रणय का नाटक होगा
प्रथम बार ही दृष्टि-मंच पर !—

दूर कहीं कटहल के बागों पार खेत सरसों के हँसते,
दूर किसी सुन्दर उपत्यका
की छाया में नील कमल पाने को लोलुप
किसी पथिक के पाँव अचानक अनजाने दलदल में धँसते,
आगे और, जहाँ अलसी के सजल खेत में
टिहुँक टिटहरी चिल्लाती है,
आगे और, कहीं निर्मल सरिता के
तट पर एक महल है जिसके
छज्जे पर सौ दीप जलाये राह देखती
राजकुमारी अपने जनम-जनम से बिछुड़े
प्रणयी की, जो चढ़ा अश्व पर
उसे लिवा ले जाने को आएगा जिस दिन,
जंगल-जंगल गूँजेगा आतिशबाजी से
नदी प्रवाहित दीपों से छलछला उठेगी।

तुम ही हो वह राजकुमारी ! मुकुट पहिन लो !!
लाओ ठीक तुम्हारी बेंदी कर दूँ ! जल्दी करो !! हँसो मत !!!
पर्दा उठने ही वाला है !
दर्शक आतुर हैं नाटक को बेपर्दा कर
अपना दिल बहला लेने को !
देखो-- पार्ट भूल मत जाना--
यह नाटक अन्तिम प्रयास है
कल्पित प्रणय-शक्ति में मानव की आस्था को
पुनः प्रतिष्ठित कर देने का;
जब दिन-गूँगा झींख-झींख कर मर जायेगा,
तब मैं मुकुट पहिन गत्ते का
बनकर राजकुमार तेज तगड़े बादामी
घोड़े पर चढ़कर आऊँगा,
और कहूँगा--
'चलो सुन्दरी, चलकर रानी बनो हृदय की
और क्षितिज तक फैले मेरे विशद राज्य की !'

●

दर्शक ताली बजा-बजाकर
चले गये अपने-अपने घर !
'फुटलाइट्स' बुझीं, सपने को
तोड़ दिया पर्दे ने गिरकर !
खाली मंच, हॉल भी खाली, खाली, खाली

एक खोखला
सा-ढकोसला,

सिगरेटों की खाली डिबियें,
मूँगफली के सूखे छिलके,
और पान की तरल पीक के धब्बे पीछे छूट गये हैं।
और किराये की पोशाकें उतर चुकी हैं,
गत्ते के सब राजमुकुट हैं पड़े उपेक्षित;--

चलो, बचत्तर सिंग के होटल पर हम चलकर
छह आने की 'मटन प्लेट', दो-दो तंदूरी
लेकर खा लें।
छह आने की प्लेट बहुत होगी दोनों को,
तीन-तीन आने दे लेंगे!

बहुत दिनों के बाद याद आई है फिर से
जैसे कोई बूढ़ी-सी फलवाली आकर
रोज पूछ जाये, फिर सहसा
तीन महीने तक न पता उसका मिल पाये;
फिर जब आये, तब बतलाये—
"जरा गाँव मैं चली गई थी! लो अंजीर बड़े ताज़े हैं!"
वैसे ही फिर बूढ़ी फेरी वाली मेरी
याद गाँव हो कर आयी है!

...इसी बचत्तर सिंग के होटल
में हम-तुमने शहजादे औ' शहजादी का
नाटक करके छह आने की
मटन-प्लेट मिल कर खायी थी!
और जरा-सा शक होने पर
बेटर को दो आने दे कर जब पूछा था,
तब हमको मालूम हुआ था—
गोश्त किसी कुत्ते का हमने खा डाला था!

और उदास हो गया था मैं,
और निरंतर हँसती चली गयीं थीं तुम तब

रास्ता तय हुआ

उमाकांत मालवीय

'दो आने में चौक चलो पहुँचा दूँ बाबू'
रह रह कर इक्कावाला आवाज लगाता,
जेब टटोली तो दो पैसे
केवल हाथ लगे बेचारे,
मन मारे मैं आगे आया।

याद पड़ा तब सगा सहोदर,
'एकला चलो' गीत मनचाहा,
लगा कि जैसे अपना सगा मिला हो कोई,
बेगानों की इस बस्ती में,
रवि ठाकुर की आत्मा को चिरशान्ति मिले
हे प्रभु अविनाशी !

आगे थोड़ी ही दूरी पर सड़क किनारे,
ताँगे पर बजता था फिल्मी गीत सलोना,
मंत्रमुग्ध सा मैं पीछे हो लिया उसी के,
किन्तु बड़ा दुर्भाग्य !
मुड़ गया ताँगा वह दूसरी सड़क पर !!

चौराहे का पुलिस देख कर,
लगा कि मानव अब भी पशु है,
और, उसे खतरा है तो केवल मनुष्य से
अतः नियंत्रित किया गया
हर कार्य मनुज का।

पार्क और विद्यालय लम्बे,
बिजलीघर, स्टेशन, खम्भे,
सभी सुनाते रहे कहानी
मनु बेटों की,
जययात्रा की।......
(तभी मनुजता का स्वर्णिम यशमयी पताका
पर कलंक के छींटे सी
दिख पड़ी भिखारिन !)

धीरे धीरे विज्ञापन कुछ पढ़ता हुआ
बढ़ा मैं आगे
कुछ शब्दों के नये अर्थ भी जान सका मैं
निर्मल माने 'अच्छी चाय' अमृत की घूँटी,
औ' कपूर के माने जूते, अच्छे, सुन्दर !

एक शिवालय देखा तो
वह याद पड़ा विषपान शंभु का,
और दूर यूनान देश की मिट्टी में
मैं लगा खोजने, महामनुज को
जिसने विष पी लिया सभी अंधानुकरण का

तर्क-बुद्धि को दी स्वतंत्रता रूढ़िबन्ध से,
और व्यक्ति की चिर-स्वतन्त्र-सत्ता वेदी पर
विष पीकर बलिदान हो गया,
धीर पुरुष सुकरात सिरफिरा !

सड़क छोड़, आया गलियों में...
मिला मदारी,
बंदर बाँध नचाता था वह,
हँसता और हँसाता था वह,
(पूर्वज हैं ये ऐसा बतलाते हैं डार्विन)
शीश झुकाओ
ये सब तो हैं अपने पूर्वज
जिनके गले पड़ी है रस्सी
नाच रहे हैं !

सफर तय हुआ ।
किन्तु शेष रह गये कार्य ये,
इक्का वाला,—
'एकला चलो' गीत मनचाहा—
फिल्मी गीत व ताँगे वाला—
चौराहे का पुलिस निराला—
पार्क और विद्यालय लम्बे—
पक्की सड़क और वे खम्भे—
और राह में मिली भिखारिन—
बिजलीघर, शिवमंदिर पावन—
विज्ञापन के ढङ्ग निराले—
साइनबोर्ड व पीले काले—
बन्दर और मदारी बाँका —
डमरू स्वर, कटु किन्तु अनोखा
इन सब ने है साथ दिया एकान्त पथिक का ।

मैं कृतज्ञ हूँ । उन सब का आभार मानता—
धन्यवाद है; उनको मेरा नमस्कार है ।

सीमाओं का गीत

परमानन्द श्रीवास्तव

उतने ही डग हैं बस उतनी ही राह है
उन्हीं-उन्हीं आँखों में वही वही दाह है
अपने में खोना है, अपने में पाना है
बिन्दु छोड़ आए जो, वहीं लौट जाना है !

वह रात

वृन्दावनलाल वर्मा

वह रात मुझे कभी नहीं भूली—

सोलह अप्रैल सन् उन्नीस सौ सत्ताईस की बात है। दिन में कुछ लू चली थी, परन्तु संध्या के उपरान्त ठंडक हो गई। मैं संध्या के पहले ही बेतवा के किनारे एक पथरीले गड्ढे में जा बैठा था। वहाँ होकर तेंदुआ, सुअर इत्यादि जंगली जानवरों के आने जाने की पगडण्डी थी। यह स्थान झांसी से पूर्वोत्तर में लगभग २२ मील की दूरी पर है।

रात चाँदनी थी। सूर्यास्त होते ही पूर्व की धुन्ध के काफी ऊपर क्षितिज में चन्द्रमा की बाँक जड़ी हुई सी प्रतीत हुई। उस पर से ध्यान निकल कर नदी उस पार खड़े ऊँचे और आड़े तिरछे पहाड़ों की उपत्यका पर गया जहाँ भरके और जंगल थे। जंगली जानवरों को इन्हीं में से कहीं से आना था। उधर से इधर और उधर से उधर दृष्टि दौड़ाते थाहते घंटा डेढ़ घंटा हो गया। बेतवा की धार टूट चुकी थी। दूर दूर तक फैले हुये गहरे दहों में मछलियों के उछलने मचलने और दहों के किनारे पानी के पक्षियों की चहल-पहल के रव कभी कभी नदी के उस सुनसान को हिला डुला देते थे। जंगली जानवरों की बाट जोहते जोहते आँखें पथराने लगीं। ऊपर देखा कि चन्द्रमा की वह बाँक कुछ बड़ी हो गई है। बड़ी उजली और प्रकाशमान।

जहाँ मैं बैठा था वहाँ से पूर्व-दक्षिण की ओर के पहाड़ों पर ध्यान गया। लम्बे और ऊँचे पहाड़ों के जमघट पर एक ठौर कुछ अधिक ऊँचा दिखाई पड़ा। उपत्यका और इस ठौर की ऊँचाई के बीच में कुहासे या धुन्ध की एक लम्बी पतली चादर सी फैली थी। लगता था जैसे चाँदनी की शीतलता पाकर पहाड़ पहाड़ियाँ ऊँघने लगे हों और उनके ऊपर की वह ऊँचाई रखवाली कर रही हो, पहरा लगा रही हो!

यह ऊँचा ठौर कुंडार का किला था—गढ़ कुंडार।

आँखें, कल्पना, ध्यान और धारणा उस ऊँचाई पर सिर ताने गढ़ कुंडार पर जा ठहरीं, मुग्ध सी, ठगी गई सी!

न जाने कितनी शताब्दियों के इतिहास की अस्पष्ट धूमिल रेखाएं उभर उभर उभर कर बिखरने लगीं : इस गढ़ ने महावीर और बुद्ध के युग देखे हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के, शुङ्गों और गुप्तों के, चंदेलों के और खंगारों एवं बुन्देलों के युग देखे हैं; पृथ्वीराज चौहान का सामन्त खेतसिंह खंगार कुंडार का सूबेदार था। पृथ्वीराज के पीछे वह स्वतन्त्र हो गया। फिर ? फिर—क्या होता रहा होगा इस गढ़ में जिसमें अब सुनसान का आतंक छाया हुआ है ?

सूरवीरी, नृत्य-गान, आमोद-प्रमोद, राजनीतिक कुचक्र, युद्ध और रक्तपात, प्रेम की कोमलतम झाँकियों के साथ अत्याचार और अनाचार इत्यादि चलते रहते होंगे। जनता—छोटे कहलाने वाले लोगों का क्या हाल रहा होगा ? बुन्देलखण्डी सुन्दरियों का तत्कालीन जीवन में क्या भाग रहा होगा ? उनका इसमें क्या स्थान रहा होगा ? खंगारों का अन्त जिस प्रकार हुआ उसका एक बड़ा कारण एक राजकन्या का सौंदर्य भी था। मैंने इतिहास में पढ़ा था। नीच कर्म करने वाले भी रहे होंगे और आत्मत्याग करने वाले ऊँचे व्यक्ति भी। आज भी तो ये दोनों वर्ग हैं। तो उस काल की सचाइयों में आज की कुछ समस्याएं क्यों न पिरो दी जायँ ? लिखोगे ? है हिम्मत ? आँखें गढ़ कुंडार से उतर कर गढ़े में आ गईं और उन्होंने फूली हुई छाती को देखा जैसे कह रही हो—हाँ हाँ, हिम्मत है।

उसी समय मैंने प्रण किया कि गढ़ कुंडार उपन्यास लिखूँगा। शिकार-विकार सब भूल गया, रात कुछ बेचैनी से कटी। गढ़ कुंडार उपन्यास की रूपरेखाओं का जाल बुनता रहा—और शायद बिगाड़ता भी रहा। इतिहास पढ़ा ही था, अधिक अनुसन्धान पर थोड़ा सा ही परिश्रम अपेक्षित था। दूसरे दिन नहा धोकर जैसे ही अवकाश मिला, गढ़ कुंडार के १७ पृष्ठ लिख डाले। उस दिन तारीख सत्रह अप्रैल थी।

सत्रह जून की दोपहर को गढ़ कुंडार पूरा कर लिया—पूरे साठ दिन लगे थे। इन दिनों पेट का धन्धा वकालत भी करता रहता था।

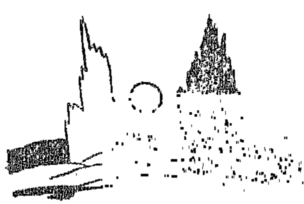
उसी दिन संध्या समय उसी गड्ढे में अपने उपन्यास की पांडुलिपि लिये जा बैठा। इकबाल करना पड़ेगा कि पांडुलिपि के साथ सुगन्धित फूलों की मालाएं भी रख ली थीं। एक तरफ यह सब, दूसरी तरफ बन्दूक टिकी थी।

जब चन्द्रमा क्षितिज के ऊपर चढ़ आया, मैंने उसके सहारे गढ़ कुंडार के आसपास और अपने आसपास जो कुछ देखा उससे आनन्दविभोर हो गया। उसकी स्मृति आज भी आनन्द प्रदान करती है। पांडुलिपि और पांडुलिपि से चिपके फूलों पर बार बार हाथ जाने लगा।

किसी ने भीतर से पुकार लगाई—अरे यह तो तुम्हारे उस संकल्प की पूर्ति की पहली क़िश्त है—उसकी जिस पर तुमने अपने जीवन का दाँव लगा दिया है—साहित्य और कला के द्वारा समाज और व्यक्ति की सेवा करूँगा माता और मातृभूमि का ऋण चुकाऊँगा। माता की याद आते ही आँखें गीली हो गईं।

ऐसा और अनेक बार हुआ जब जब अपने मन का लिख लिया और पांडु-लिपि के साथ दो चार फूलों को जोड़ दिया।

परन्तु मेरे सिवाय उन अनुभवों को और कौन जानता है?



लाल इमारतों का नगर

शिवप्रसाद सिंह

विरहणी मारवणी ने सावन के दिनों में काले बादलों की छाँह में सोई हरी हरी नीली धरती और घर घर में आनन्दोत्सव मनाती ग्रामीण युवतियों को देख कर कहा था कि मारू देश सावन में ही सबसे अधिक सुहाना मालूम होता है :

घर नीली, धण दूबरी घरि गहगही गमारि
मारूदेस सुहामणउ सावन साभीदार

किन्तु उस सुहाने सावन में उस कृषगात्री विरह-दहिता का 'साभीदार' न आया, आई तीखे शीत से हड्डियों तक को कँपा देने वाली वे रातें जिनकी शीतलता से अथाह नीले समुद्रों के भीतर श्वेत सर्द सीपियों के सम्पुट में पड़े हुये स्वाति बूँदें तक जम कर मोती हो जाती हैं। आप चाहें विरहणी मारवणी के इस दर्द से एक बार भी न सिहरें; किन्तु सीप, समुद्र, स्वाति-बूँद और मोती के संयोग से तो काँप अवश्य ही जायँगे —ऐसी ही रातों में उसे यदि अपने कौमार्य की सुरक्षा में संदेह हो गया हो तो क्या आश्चर्य ?

जिणि रितु मोती नीपजइ, सीप समुद्राँ माँहि
तिण रितु ढोला आयेउ इम कौमार न जाइ

ज़माना गुज़रा, ऋतुएं बदली, राजवाड़े बने-बिगड़े, दुनिया सर्द से गर्म और गर्म से सर्द हुई पर मारूदेश की ये तुषार मण्डित रातें तनिक भी कमी-बेशी को स्वीकार न कर सकीं। और भाग्य के पथ प्रदर्शन को क्या कहें, जिसने इस भयंकर रितु में, सुबह ३।। बजे मुझे जयपुर के जंक्शन पर उतार दिया। आगरा से आनेवाली इस गाड़ी में रास्ते भर बन्द डिब्बे और ठसाठस भरे यात्रियों की साँसों की गर्मी से एयर कन्डीशन कमरे का जो आनन्द उठाया था, वह एकाएक चूर-चूर हो गया! सारे बदन के शाल से ढँके होने पर भी दन्तवीणोपदेशी वायु ने जो कँपकँपी जगाई वह आठ बजे के बाद धूप में आने पर ही उतर सकी।

स्वच्छ दर्पण की तरह पारदर्शी आकाश में फैली हुई जाड़े की चटख धूप, इस रेशमी चँदोवे के नीचे फैली धनुषाकार पहाड़ियाँ जो भूरे मटमैले कगार की तरह

धूमिल और अँधेरी मालूम होतीं, इसी के बीच बसा है यह लाल इमारतों का नगर जयपुर। विकच कमल की पंखुरियों की तरह उर्ध्वमुखी गुम्बज, छतों की कोरों पर फिसल-फिसल कर उठने वाली पिघली चाँदी की तरह धूप की परत, काली धारा की तरह मोड़ खाती तारकोली सड़कें, आस-पास बिखरे हुये क़द्दावर दरख़्त, यही है राजस्थान की राजधानी जयपुर।

लम्बी सीधी और औसत से ज्यादा चौड़ी सड़कें बनारस की विश्नाथ-गली के सौन्दर्य प्रेमियों को आश्चर्य की वस्तु मालूम हो सकती हैं, तीन हाथ के चौड़े रास्ते पर शरीर के स्पर्श का सुख जयपुर को इन चौड़ी सड़कों पर नहीं मिलेगा; किन्तु इन सड़कों पर निरन्तर लहर की तरह ढुलक कर चलते हुये पगड़ वाले गन्दे ग्रामीण, गन्ने बेचती हुई लहँगेवालियाँ, गन्दे फटे कपड़ों में सरकते अपाहिज, मोटरकारों और नाना प्रकार के रंग बिरंगे, सजे हुये ताँगों-इक्कों का एक अजीब रेला-पेला दशाश्वमेध की भीड़ से कम आकर्षक नहीं मालूम होता। वैसी ही गन्दगी, वैसी ही दौड़-धूप, जैसे सारी दुनिया भागी चली जा रही है।

छींट की पगड़ी को सभाँलते हुये रिक्शे को पटरी में टिका कर रिक्शे वाला झपट कर मेरे पास आया, कानों की ललरी को सोने की बालियाँ जकड़े थीं, चेचकी चेहरे के बीच काँचल आँखें, एक जीवन्त इंसान था, हमारे यू० पी० के रिक्शे वालों की तरह गिरा हुआ, डूबे मन और दबी हुई आत्मा का पुतला नहीं।

"कहीं घूमणों है सेठ जी?" उसने पूछा।

धोती कुर्ते में रहने वाले सभी सेठ हैं, यदि कुर्ता कहीं खद्दर का या मोटिया का हुआ तो, मोटी तिजोरी का अनुमान सहज सँभाव्य है।

साँगानेरी गेट। एक खित्ते से दूसरे खित्ते में प्रवेश करने का द्वार। जो अब तक देखा है वही इच्छा है, या जो आ रहा है वह? साँगानेरी गेट समाधि पुरुष की तरह अचल खड़ा दोनों तरफ की दुनिया को स्थितिप्रज्ञ की तरह निहारता रहता है। उसके लिये यह और वह दोनों अपना है, वह सब का स्वागत करता है, एक ही तरह से। हजारों की संख्या में भूरे मटमैले जंगली कबूतर, जो इस विशाल द्वार के छज्जों में, वातायनों में, गुम्बज की दरारों और संधों में अपना घर किये हैं, एक स्वर के साथ फड़फड़ा कर उड़ते हैं, रंगीन पतङ्गों की तरह नीले आसमान में खिले हुये ये पखेरू हर क्षण जाने किस सूत की ताकत से खिंचकर इसी छज्जे पर लौट आते हैं, सुबह शाम छोरे-छोरियाँ चावल छींट आते हैं, दाने डाल आते हैं, और साँगानेरी

गेट के ये स्वागत परिन्दे अपनी मस्तानी गुटरगूँ से इस सुनसान फाटक को आबाद किये रहते हैं।

चौड़ा रास्ता। जी हाँ, यह जयपुर का मशहूर चौराहा है। यहाँ नदी की विशाल धारा की तरह चौड़ी-चौड़ी चार सड़कें मिलती हैं—बीच में एक बहुत बड़ा दूबों से ढका हुआ चबूतरा है जो चारों सड़कों को अपनी-अपनी सीमाओं में बांधता है। मिलन को नियमित बनाने वाले इस टापूनुमा चबूतरे पर अजीबो-गरीब किस्म के लोग जमे हुये दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ फूल हाट छोटी-बड़ी बीसियों टोकरियों में कई तरह के फूलों की मालायें सजाये फूल-विक्रेता, आदमी कम, औरतें ज्यादा। गंदी कुछ काली-काली मालिनें, गाढ़े रङ्गों में रङ्गी ओढ़नियों और छींट के लहँगों में लिपटीं। गेंदे के फूलों की टोकरियाँ ज्यादा थीं। पीले-लाल रंग के गेंदे के फूलों की मीठी गंध की इस चहारदीवारी के बगल में हजामत बनाने के लिए बैठे नाइयों की लम्बी कतार, बालों को आकार देतीं कैंचियों की चहक, खल्वाट सिर पर मौजों में फिसलते छूरे की रंगत देखते आगे बढ़िये तो हथेलियों, अगूँठे आदि के छापों के काले-भूरे नक्शे फैलाये, गणित के लिए छोटी स्लेट और पेंसिल लिए मोटे थुलथुल ज्योतिषी जी, जो हाथ की रेखाओं से ज्यादा आँख की रेखाओं के अभ्यस्त मालूम होते थे, नजर पुष्प-गंध की डोर पकड़कर पिच्छल रास्ते में दौड़ ही जाती थी। ज्योतिष जी की बगल में नानक और अन्य सिक्ख धर्म-गुरुओं के चित्र बेचते सरदार जी, बगल में एक झुंड गन्नेवालियाँ, पैसे के भाव गन्ने लुटाने को आतुर, झगड़ती और चिल्लाती हुई। पास में खाली जगह देखकर बैठे हुए थके-थकाये कुछ लोग, संभवतः अदालती काम से आये हुए हैं ये ग्रामीण, जो अपने खाने की गठरी खोलकर निर्द्वन्द्व भाव से पेट पूजा में मग्न—यह तमाम मेला आपको प्रतिदिन इसी चबूतरे पर दिखाई पड़ सकता है। इस चबूतरे के सामने मोड़ पर जयपुर का मशहूर हवा-महल है जिसके हजारों वातायन बाहर की हवा का स्वागत करने को तैयार हैं, किन्तु महलों में आज तक इस हवा से किसी को स्वास्थ्य लाभ हुआ है या नहीं, ये तो राजवैद्य लोग ही बताएँ।

अकेले घूमने में समय की लीक लम्बी लग सकती है; किन्तु मन की दौड़ की गति नापना कहाँ सम्भव है। आदर्श नगर से आगे चलने पर एक छोटी-सी पहाड़ी दिखाई पड़ती है—मोती डूँगरी। सुडौल, नुकीली, उन्नत। भूरी पहाड़ी पर रानी का महल बना है। सोचा था राजस्थानी रजवाड़े नहीं रहे। शायद इस भव्य डूँगरी को तथा ऊपर के उस महल को देख सकेंगे। महल से ज्यादा आकर्षण था, जमीन पर बिछे हुए उस प्राकृतिक वैभव का रूप, जिसे पहाड़ी की चोटी से झाँककर देखने का कुछ और मजा

होता। डीडवाणे के पास निरंजनी स्वामी हरिदास को जिस पहाड़ी पर ज्ञान प्राप्त हुआ था, उसे अमृत डूंगरी कहते हैं। जमीन से थोड़ी ऊँचाई पर आकर मन शायद तटस्थ हो जाता है। जीवन का सन्तुलन समतल पर नहीं मालूम होता, जागतिक सम्बन्धों से थोड़ा खिंचकर ही उर्ध्वमुखी प्रज्ञा का स्वरूप पहचाना जा सकता हैं। किन्तु यहाँ तो न मन में विरक्ति थी, न संसार असार मालूम होता था इच्छा थी, इस सुडौल डूंगरी को 'नयन तिरपित भेल' की अवस्था तक देखने की, नीचे से देखने की, ऊपर से देखने की। उस दिन हल्के हल्के बादल आ गए थे। मामूली दूधिया बादल, सूखी छाली की तरह आसमान में चिपके हुए। प्राचीन जमाने में एक दिन ऐसे ही जब काली-काली सुडौल पहाड़ी के ऊपर आसाढ़ी बादल झुमर आये थे, एक बटोही उन्हें देखकर चिल्लाता हुआ भागा—बापरे, जो बादल इतने बड़े पहाड़ को निगल जाने के लिये झुका चला आ रहा है, वह भला मेरी छोटी-सी 'धन' को कैसे छोड़ेगा।

अब्भा लग्गा डूंगरिहिं पहिउ रउन्तुउ जाइ
जे एहा गिरि गिलण मणु सो कि धणह धणाइ

किन्तु यह है मोती डूँगरी जिसकी नुकीली चोटी आसमान को भेदती सीना ताने खड़ी है। और बेचारे बादल सिमटकर ऊपर चिपक गए हैं। इस सौन्दर्य-प्रमत्ता डूँगरी पर साधारण जन का आरोहन वर्ज्य है।

मुझे निराश लौटा देखकर रिक्शा वाला बोला; 'हम तो पहले कह्या कि ऊपर जाणों मुश्किल है। 'महाराणी' सा का महल है।'

मैं रिक्शे वाले की ओर देखता रह गया, कुछ बोल न सका। उसकी आँखों में हमारी पराजय का कोई मूल्य न था, वही निश्छल कांचल आंखें, उसने कभी सोचा भी न होगा कि इस डूँगरी पर राणी' सा का महल क्यों है, दीन की बालिका की तरह अकेले में खड़ी इस अभागी डूँगरी के मस्तक पर बेबसी का यह राजमुकुट क्यों? पेड़ों—झुरमुटों के बीच से थोड़ा ऊपर उठकर अपने अस्तित्व का बोध करने वाली इस पहाड़ी के लिए इतनी बड़ी सज़ा किस लिए? हजारों पहाड़ियों की तरह हवा की लहर पर, खेजड़ी के लहराते हुए पौधों की छांह में एक क्षण विश्राम करने की तकदीर भी इससे क्यों छीन ली गई। मेरा मन न जाने क्यों बड़ा खिन्न हो गया था। रिक्शे पर बैठकर चला तो मन में जाने कितना उबाल भरा था। प्रकृति के अलंघ्य दुर्गम गह्वरों में मानवीय चरण की प्रथम छाप को कौन पुष्पार्चित न करेगा। आकाश-स्पर्शी हिम-शिखरों की उन्नत चोटियों पर मानवीय साहस की पताकायें किसके मन में गर्व की भावना नहीं भरतीं, किन्तु जाने क्यों इस छोटी सी डूँगरी के सिर पर रखे ये वैभव-पुंज मुझे बेबस के सिर बँधे सेहरे से भिन्न न मालूम हुए।

शाम हो आई थी। रिक्शे वाले को विदा करके पैदल चल पड़ा। आगे जयपुर के म्यूज़ियम की मशहूर इमारत खड़ी है, चारों तरफ बहुत ही करीने से सजाया हुआ बगीचा है। मिर्जा इस्माइल रोड से इस म्यूज़ियम तक जाने वाला रास्ता, पत्थर के चौकोर टुकड़ों से जटित, जिसके दोनों तरफ कन्दीलों वाले लैम्प पोस्ट, मखमली दूब की हरी रविशें, बीच बीच में वृत्ताकार या तिकोनी क्यारियों में वैजन्ती के पौधे, जिनके लम्बोतरे गोकर्ण की तरह आकार वाले हरे पत्तों के बीच एकाध लाल फूल झांकने लगे थे। यह सम्भवतः जयपुर की ही विशेषता है कि शाम के समय रङ्ग बिरङ्गी पगड़ियों वाले नागरिक टोलियों में बट कर इस मखमली फर्श पर ताश खेलते दिखाई पड़ते हैं। प्राचीन आपानक गोष्ठियों की यह एक नई किस्म है हालांकि इसमें स्वर्ण-चषक में भरी कम्बोजी सुरा मैरेय नहीं चलती, शीशे के ग्लास में या मिट्टी के कसोरे में इक्षु-रस का वितरण होता है। गन्ने पेरने की छोटी मशीन लादे, रङ्ग बिरंगी बोतलों से ठेले को सजाये, इस तरह 'सोम विक्रेता' इस मैदान में शाम को घूमते दिखाई पड़ेंगे। अलबर्ट हाल अपने भित्त चित्रों के लिये मशहूर है। प्राचीन अजन्ता शैली के चित्रों की नकल पर कई प्रकार के छवि-अंकन अत्यन्त कुशलता से चित्रित है। इन चित्रों में कुछ प्रसिद्ध योरोपीय कला के नमूने पुनः प्रस्तुत हैं, जिनमें सूसा (Susa) के प्राचीन राजवंशों के महलों के वातायन में बनी कटावदार आकृतियों के चित्र बड़े मनोहर हैं। मैं यहाँ एक ऐसे ही चित्र का जिक्र करना चाहता हूँ एक चित्र है श्येन सिंह। प्राचीन सूसा के राजा आर्टिक्सिस के महल के वातायन के कटावों में इस सिंह की छवि उभरती थी। सिंह है पङ्खदार। 'प्रलय की छाया' की अन्तिम पंक्तियों में इसी प्रकार के श्येन सिंह का चित्रण है। अन्तक शरभ के काले काले पङ्ख गिरते हैं अन्धतम से। मृत्यु के भयावने श्येन सिंह के काले पङ्ख झड़ रहे हैं, और प्रलय की इस भयंकर छाया में रूपगर्विता रानी अपनी अन्तिम सांसें तोड़ रही है। भयंकर रक्तपिपासु सिंह के परदार और अप्रतिहत गति होने की यह मानवी कल्पना भी अजीब है।

बनारस वालों को जयपुर में जिस सबसे बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ता है, वह पान की दूकान ढूँढ़ना। ऐसा नहीं कि दुकानें नहीं मिलती, मिलती हैं पर मन माफ़िक दुकान पाना वाकई मुश्किल है। लम्बे चौड़े तख़्ते पर पचासों पत्ते सूख रहे हैं, जिन पर चूने और कत्थे का लेप लगा है। ये पूरे पत्ते बिल्कुल कत्थई कागज़ की तरह मालूम होते हैं। कई बार मन को समझाया, भाई देश देश की चाल है, किन्तु वह समझ न सका और उस कागजी पान को मुँह से लगाना गवारा न हुआ। एक दुकान में आधे पत्ते पर कत्था चूना लगाने को कहा तो पनवाड़ी ने घूर कर

देखा, परम्परा-विरोधी को सामने खड़ा देख वह जल भुन रहा ही था कि मैंने चम्मच भर सुपाड़ी की जगह दो एक टुकड़े रखने को कह कर दूसरा आक्रमण किया, चिढ़ कर बोला : पत्तो खाओगे है क्या ? मैं क्या उत्तर देता, बुकनी मना की, सौंफ की चुटकी रोकी, किसी कदर पान का रूप बना तो एक नया किस्सा आ गया। एक सज्जन उस पग्गड़धारी धार्मिक पनवाड़ी से बोले : भाई कीमाम है ?

पनवाड़ी के गले की रुद्राक्ष कण्ठी खिड़की, गर्दन को फुला करो, आँखें लाल कर के बोला : साहब यह हिन्दू की दूकान है ?

ग्राहक सकबकाया, तब तक उखड़े स्वर में पनवाड़ी बड़बड़ाया, 'पान की दूकान पर कवाब सवाब मांग रहे हैं, म्लेच्छ ।'

अब समझ में जो बात आई तो हँसी रोकना मुश्किल हो गया हालाँकि मैं इस घटना से जयपुर के सभी पनवाड़ियों की बुद्धि पर अविश्वास का कारण नहीं समझता ।

दूसरे दिन आठ बजे होटल के दरवाजे पर आया तो देखा कल का परिचित रिक्शा वाला खड़ा है, वही पगड़ी, वही चेचकी चेहरा, वही चंचल आँखें ।

बोला—आमेर जाओगे न सेठ जी ।

बैठा। जयपुर के पुराने राजवंश की गौरव-गाथा को छाती से लिपटाये खड़े इन खंडहरों को देखने की लालसा पहले से थी। जयपुर की गुलाबी पत्थरियों में भूले भ्रमरों को शायद ये कंटकित डालें अब याद नहीं आतीं। शहर से पाँच मील दूर, पहाड़ी पर बसे आलीशान आमेर के भग्नावशेष, टूटी दीवारें, कटे कबन्ध की तरह खड़े द्वार, मैली काई से धूमिल गन्दी दीवालें—जिनके भीतर एक विचित्र प्रकार की गन्ध का आभास होता है। विन्ध्याचल की पहाड़ियों की तरह काली छोटी पहाड़ी जिस पर कुछ बनकटे पौधे, ज्यादातर बबूल की तरह का खेजड़ा का पौधा, कुछ जंगली घासें, कटीली झाड़ियाँ...एक अजीब प्रकार का सुनसान वातावरण चारों ओर छाया हुआ है। नीरस, हरियाली हीन मटमैले पौधों से ढकी पहाड़ी की तलहटी में भेड़ें, गायें चरती हुई दिख पड़ीं—अन्यथा एक दम घनघोर सन्नाटा। जैन मन्दिरों की नग्न मूर्तियाँ, टूटे मन्दिरोंकी खण्डित पाषाण प्रतिमायें—काई लगी शिलाओं पर जैसे अतीत अपने भद्दे पैरों के निशान बनाता गया है। गणेश, चण्डी आदि के टूटे मन्दिर दिखाई पड़ते हैं। इन खँडहरों में घूमते समय एक अज्ञात भय, एक अजीब किस्म की सिहरन पैदा हो जाती है। सीढ़ियों पर चढ़ते वक्त लगता है कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की तिलस्मी सीढ़ी की तरह यह भी जमीन के अन्दर धँस न

शुरू कर दें। अँधेरे कोने से कभी कोई चमगादड़ पंख फड़फड़ाता उड़ता, जैसे पूरे सन्नाटे को डैनों से झकझोर कर जगा रहा है। आमेर का यह टूटा मन्दिर मुझे विचित्र यादों से भर गया। काली-चण्डी प्रतिमा जो सिन्दूर से रंगी हुई, वैसे गणेश की सिन्दूरी प्रतिमाएं भी दिखाई पड़ीं, किन्तु इस प्रतिमा के पीछे कुछ विचित्र सन्नाटा, बीभत्स सन्नाटा जैसा छाया हुआ था। एक जमाना था जब राजपूताना के ये पहाड़ी नगर तांत्रिक साधना के गढ़ थे। इस प्रतिमा को देख कर मेरे मन में सोये सारे काल्पनिक दृश्य नाचने लगे। प्रतिमा के पार्श्व का कंकाल दीप, भैरवी चक्रों से रँगे हुये चौक, भीषण रूप के वे अघोर तांत्रिक—सब जैसे मेरी आँखों के सामने खड़े हो गये थे। मेरे मन पर एक क्षण के लिये इस कल्पना में भी भय का आधिपत्य छा गया।

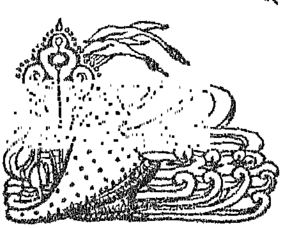
मैं घूमते घूमते थक चुका था। एक खेजड़ी के पेड़ के पास आकर खड़ा हो गया। सूखा सूखा यह पेड़, इससे अधिक चारों ओर और कुछ भी न था, पीला दर्द भरा वह देश! मैं मन मारे इस उजाड़ प्रान्त को देखता रहा। मुझे लगा जैसे भग्न मन्दिर की किसी संध से कोई सिद्ध कापालिक मेरे सामने आकर खड़ा हो गया है। लम्बी श्वेत दाढ़ी, कुंचित भवें, सहास आकर बोला : "क्यों बेटे, क्या देखता है। इधर आ, इधर। हाँ वीर तेरी तो कुन्डलिनी जाग्रत है।" और फिर वह अपने अंगूठे से मेरी भवों के बीच के भाग को छू देता है।

देखता हूँ कि आकाश काले काले बादलों से भर गया है बादलों के आगे पिंगल वर्ण की धूलि दौड़ रही है, उसके आगे छोटे-छोटे लाल चंचु के पक्षियों का दल खेलता हुआ भागा जा रहा है।

हवा के थपेड़ों से जयपुर के गुलाबी मकानों पर लगे बदरंग अंग्रेजी पोस्टर फड़-फड़ा कर उड़ रहे हैं, सड़कें जलवृष्टि से धुल कर साफ हो गई हैं, अपाहिजों का कहीं नामोनिशान नहीं, मोती डूंगरी की छाती पर से राणी सा के महल को उतार कर किसी ने जमीन पर रख दिया है, आमेर के भग्नावशेष कितने सुन्दर और प्रसन्न लगते हैं। खेजड़ी के झुलसे पेड़ मुस्करा रहे हैं।

"क्या यह सच है बाबा?" मैं पूछता हूँ।

"भविष्य बतायेगा!" बाबा का कंकाल पिघल कर धूप में विलीन हो जाता है।



लखनऊ

नर्मदेश्वर प्रसाद

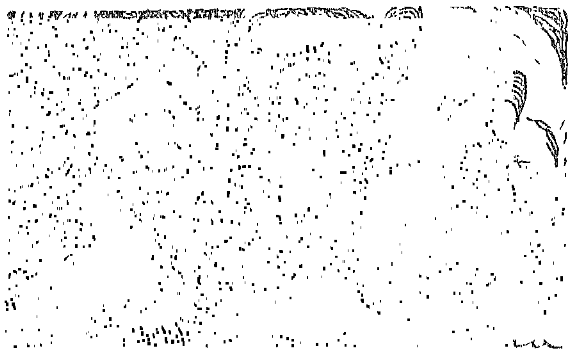
लखनऊ; अप्रील का सूर्यास्त संपूर्णतया बोलता है
बोलती हैं मद्धिम स्वर में गम्भीरता से इमामबाड़े की मीनारें
जिसके ऊपर उठी हुई, दुबली, शौर्यवान् शक्ल के सामने
सड़कें बारिश से जवान होती हैं
कुचले हुये गुलाबों के चढ़ते हुए एकड़
आसमान के कोनों से लिपट जाते हैं
झुक जाते और समो जाते हैं
नील लाल में झुटपुटे के
(जो हल्के-हल्के उतरता है
अपनी आँखों में खतरनाक पहला सितारा
खूबसूरती से सँजोये हुए)

लोग बढ़ते हैं, प्यार करते हैं, जल्दीबाज़ी से
आहिस्ता-आहिस्ता आते हुये अँधेरे में
और देखते हैं (नया चाँद
लँगड़े भिखमंगे रंगों की फटी जेबों में
सहसा चाँदी भर देता है)

यहाँ और वहाँ टहलती हुई भरकम सुस्त तवायफ
रात, बहस करती है
चन्द मकानों से

दो कविताएँ

भुवनेश्वर



रुथ के लिए

मगन मन पङ्ख झड़ जाते हैं यदि
और देखने वाली आँखें झप जाती हैं
शाहीं के अन्दर पानी नहीं रहता
उस अमृत जल को पी के भी जो
आँसुओं का धार है

दूसरे पहर की चमक में यदि
अगली रात की झलक है
और रात की कोख भी सूनी
जैसे मछुवे का झाबा

ये सारा मातम है यदि इसीलिए
कि मर जायँ पर सच ही सच बताएँ
तो मर जाना ही बेहतर उसे बताकर
कान में रुथ के।

आँखों की धुंध में

आँखों की धुन्ध में उड़ती सी
अफ़वाह का एक अजब मजाक़ है
यह — पिघलते हुए दिल और
नगाई हुई रोटी का

हीरा तो खान में एक
प्यारा सा फ़साना है
किसी पत्थर-दिल और
नम आँखों वाली रोटी का

ग़रीबी के पछोड़ में
ग़म के दानों की रुत है
सब्र का बँधा हुआ मुँह
खुल जायगा कल के अख़बारों में
बस और कुछ नहीं



शमशेर बहादुर सिंह
द्वारा रूपान्तरित

उजाला : अँधेरा

कीर्ति चौधरी

●

जगह-जगह लगी रोशनियाँ कौंधी और बुझ गईं। एकाएक अँधेरा फैल गया। कभी-कभी बिजली को क्या हो जाता है? जलती रहेगी...जलती रहेगी...और लो बुझ गई। अँधियारा भी ऐसा कि हाथ को हाथ नहीं सूझ पड़ता। बड़ी विचित्र अनुभूति हो रही है अकेले एक कोने में बैठे हुए। जैसे जीवित संसार से कट कर कहीं अजनबी जगह आ गई हूँ। जी होता है थोड़ी देर और अँधेरा रहे...ऐसा ही घुप अँधेरा कि हाथ को हाथ न सूझे। हम यों ही अकेले में निरुद्देश्य बैठे रहें। पर अँधियारा मुझे सहे तो सहे, किसी को यों सहज सहन नहीं होता। ढूँढ-ढूँढ कर जगह-जगह छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जला दी गई हैं। प्रकाश के नन्हें प्रहरियों ने अपना वृत्त प्रकाशित कर लिया है। पर अँधियारा तो अभी भी है। मैंने अपने को उसमें समेट लिया है। बिजली गये काफी देर हो चुकी है। बिजलीघर को आदमी भी गया है। अभी तक नहीं लौटा। हे भगवान्! बिजली कब आएगी! इन मोमबत्तियों में कुछ सुझाई भी तो नहीं पड़ता—कोई कह रहा है। मेरी तरह सब अकर्मण्य तो नहीं हैं न!

....आदमी शायद लौट आया है। सारे शहर की बिजली चली गई है। बन रही है। जाने कितनी देर लगे। मैंने आराम से साँस ले कर कुर्सी पर सर टेक दिया है। अभी देर तक अँधियारे में जी सकना होगा। उजाला राह देता है और ऐसा घुप...निस्वन...अंधकार...—मन भटकने लगता है...

जाने कब की भूली बिसरी पगडंडी है......ऐसे ही जलते-जलते बिजलियाँ बुझ गई हैं।

"यह क्या! अँधेरा कैसे हो गया।...मोमबत्ती भी नहीं। कुछ सूझे तब तो..."

"रुको मैं जाता हूँ। मेन-स्विच देख लूँ"—आवाज़ आगे बढ़ती है।

"ऊँह, इधर तो मैं बैठी हूँ। दिखता भी नहीं!"

"अरे...चुप...अँधियारा क्या बोलने के लिए है! कौन नहीं दिखता? जिसके लिए अँधियारा किया गया है, उसे आँखें चीन्हती हैं...? निर्बुद्धि!"

करुणामय को भाता है, तम के पर्दे में आना। ओ नभ की दीपावलियो तुम क्षण भर को बुझ जाना...।

...एक पल...! उजाला फिर हो जाता है। तन की सिहरन कम नहीं होती, अँधकार के बाद जो प्रकाश का देश है वह मुझे प्रिय है। और तुम्हारा दिया अँधियारा भी मुझे बहुत प्रिय है...।

यह मेरी मेज पर मोमबत्ती कौन रख गया है। आलोक की पतली लजीली रेखा लरज रही है। अब बुझी... तब बुझी...। नहीं, बुझेगी नहीं, अभी स्नेह बाकी है।

"सुनो, दीपक को आँचल की ओट कर लो। स्नेह छाया तले पलता रहेगा—"

ऐसी बातें क्या सब कर लेते हैं? कब की हैं, आज भी गूँज जाती हैं—

"आँचल की ओट का दीपक को मोह भी है? रीतते ही नेह तोड़ लेगा।"

स्नेह का आश्वासन दे दो। कभी न रीतेगा। देकर देखो···शब्द जैसे अंदर तक छू आते हैं। वाणी का स्पर्श अंग-अंग कँपा देता है। बोल कंठ तक आकर रुंध जाते हैं। नहीं, बोलते नहीं···ऐसे क्षणों को चुपचाप पिया जाता है···गूंगे का गुड़···ऐसी तृप्ति क्या बार-बार होती है? माटी के दीपक के लिए तो बाजार है। मन की हाट कहाँ लगती है? बताओ तो वह दीपक फिर जल सकेगा जिसका स्नेह रीत गया है। रीतना क्या होता है अंतर्यामी! रीतना···यह मोमबत्ती ऐसे क्यों काँप रही है? मेरी पलकें इतनी भारी क्यों हो गई हैं? बाहर की हलचल को क्या हुआ? सब सो गए हैं शायद। बिजली अभी भी नहीं आई। लगता है अब रात भर नहीं आएगी। ऐसे ही अनबोले अंधियारे के नागपाश मुझे रात भर जकड़े रहेंगे···अनबोले···निःशब्द जो मुझे डसते रहेंगे। यह कैसी छायाएँ मेरे कमरे में डोल रही हैं। मैं उठकर भागना चाहती हूँ। पर कोई मुझे जकड़े है। मेरे कमरे की सजावट दिखाई क्यों नहीं पड़ती। मेरे फूलों से भरे गुलदान, तारीख बताने वाला मेरा कैलेंडर, फाइल, पेपरवेट सब कहाँ गये। तुम कौन हो! हटो मुझे सोने दो। मेरी पलकें मुंदी जाती हैं। अंधियारा तो मुझे प्रिय है! सपने मेरे द्वार आए हैं। सपने···

बहुत उजाला है जैसे आकाश में नीहारिका-पथ खिल गया हो। राह स्पष्ट दीखती है। आगे घना कांतार है। वहाँ की राह बड़ी दुर्गम है सुनो, इसे क्या कोई सहज ही पार कर पाया है। पर बरसती चाँदनी में भींगते वन का आमंत्रण शत-शत रूपों में मुझे खींचता है। एक सम्मोहन से बँधे पैर आगे बढ़ते हैं। रात तेजी से घटती है। सुख

की निस्सीमता क्या कुछ और होती है। तंत्री नाद कवित्त रस, सरस रास रति रंग, अन-बूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।···अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।····कौन बूड़ा है ? कोई तो नहीं। मैं तो यहाँ किनारे पर हूँ, मंझधार में तो जाया भी नहीं गया। पूरनमासी का बड़ा सा गोल चाँद तो अभी भी खिला है पर उजाला कहाँ गया ? फीका निष्प्रभ सुबह का चाँद। राह भूल-भूल जाती है। यह कैसे क्या हो गया ! मैं कहाँ आ गई हूँ ? और तुम···मेरा शुक्र तारा ! मैं तो अज्ञानी हूँ। मेरा मार्गदर्शक तारा मुझे दे दो। हिश, माँगने से ही क्या सब मिल जाता है। देगा कौन ! समर्थ ही कौन है !

···कृष्ण द्वारिकाधीश हैं। महाभारत की युद्धभूमि, कुरुक्षेत्र में पति-पुत्रों के बीच विलाप करती गांधारी शाप देती हैं— जाओ, इसी भाँति यदुकुल का नाश होगा। कृष्ण हँस कर झेल लेते हैं। हँसकर झेलना भी क्या कम सुखद होता है ?

···भागो हटो···अरे···हे रुक्मणीपति ! आजानबाहु यह कैसा अंधियारा है ? यदुवंशियों के प्रकाश को राहु ग्रसे लेता है। कहाँ है तुम्हारा सुदर्शन चक्र ! कौन बचाएगा ? गांधारी का शाप प्रतिफलित हो रहा है। अपराजेय कृष्ण हैं, विश्व भर के उजियाले का स्वामी चक्र है···पूरनमासी का बड़ा गोल प्रभाती का चाँद, सब तो है। पर अंधियारा जो घिरने को ही आया है, उसको क्या करोगे ? तुम क्या करोगे। राहें मुड़ती भी तो हैं। यह काले तक्षक···नहीं, मुझे रोशनी दो। राह बतलाओ। मेरा दम घुटता है। मैं···अकेले···

"उठो, क्या सपना देख रही हो !"

ऊँ···हाँ···नहीं···क्यों···बिजली आ गई। कब आई।

अभी तो। नौकर को पावर हाउस भेजा था। जेल में ड्रामा हो रहा है न ! मिस्त्री तो सब वहीं गए थे। आए तो बनी। तुम नींद में डर गई थीं ! सपना होगा···सो जाओ ठीक से।

नहीं, अब पढ़ूँगी। पर्दा ठीक कर दो। हाँ.. !

सिरहाने चालीस पावर का बल्ब जल रहा है। सितम्बर की चौदह तारीख। कागज, कलम, पेपरवेट सब मेज पर सजे हैं। कैसा स्वप्न था ! एक फीकी और निष्प्रभ हंसी मैं हँसती हूँ। कहाँ, कुछ भी तो नहीं। यह कलम अभी तक खुला पड़ा है, मैं क्या लिख रही थी। कितना स्पष्ट प्रकाश है। हे भगवान ! एक पावर हाउस तुम भी बना दो। जीवन में अंधियारा छाए तो नौकर को भेजकर इत्तला कर दी जाए। मिस्त्री कहीं अटके हों तो तब तक अंधियारा भी प्यारा लगे। फिर बिजली जले, उजाला फैले तो काम शुरू हो। मोमबत्ती का प्रकाश एकाएक खो जाता है तो बहुत भटकना पड़ता है। धत् पागल !

दो कविताएं

विजयदेव नारायण साही

ज्वर की गाँठ

ज्वर की गाँठ
मत तोड़ो।
अपनी तपन
तिल तिल जान कर
सन्तोष होता है।
एक भ्रम है यही
जो
इस व्यर्थ जीने को
बड़ा सा अर्थ देता है।
जीने के लिये
सामर्थ्य देता है।

अयाचित झोंका

हो गया कम्पित शरद् के शांत झीने ताल-सा
तन
आह! करुणा का अयाचित एक झोंका
सांत्वना की तरह, मन की सतह पर लहरा गया,
कहाँ से उपजा?
कहाँ को गया?



नदी-तट, साँझ और मेरा प्रश्न

प्रयागनारायण त्रिपाठी

आ...देखो...नदी का तट बहुत सुन्दर है
बहुत सुन्दर...

(किन्तु यह तो नहीं है उस प्रश्नका उत्तर
जो मैंने किया था
जो कुरेदे जा रहा है प्रतिक्षण
मन की अतल गहराइयों को)

आ...देखो...झुक रही है साँझ
आओ, इस शिला पर दो घड़ी बैठें
निहारें अनगिनत
इन टूटती-जुड़ती लहरियों को
निहारें पार की उस रेत को
जो धार के सान्निध्य में भी बहुत प्यासी है
उन झुरमुटों को
जो अँधेरे से लिपट कर सो गए हैं
उस क्षितिज को
जो सँभाले गोद में सन्ध्या-नखत दो-चार
चुप, झँवरा रहा है।'

(किन्तु यह भी नहीं—
यह भी नहीं है उस प्रश्न का उत्तर
जो चाँपे हुये है हृदय को
तट की शिला-सा)

'देखो...चुक गई यह साँझ कितनी शीघ्र
गहराया अँधेरा
रात घिरने लगी...निर्जन...भयावह...
निस्तब्ध

आओ...अब उठें...वापस चलें
एकान्त है, वन है, नदी का तीर है
दुर्दान्त कोई पशु न हमको सूँघ ले
गा घुप अँधेरे में कहीं
घर लौटने के रास्तों को ही नहीं हम
भूल जाएँ
इसलिए...आओ... उठें....
वापस चलें हम

(आह...मेरा प्रश्न...
जिसका मिलगता ही रहा उत्तर
किन्तु जो है ग्रस चुका अस्तित्व को संपूर्ण
जैसे अँधेरे ने नदी, झुरमुट, क्षितिज,
अम्बर ।)

जिसे किसी ने न सुना

कुंवर नारायण

●

मैं जानता हूं कि तुम धनाढ्य हो
और मैं एक भिखमङ्गे का सवाल हूँ :
हजारों चुप्पियाँ, हजारों आवाजें,
यही कहती हैं कि "आगे बढ़ो...यहाँ
क्या है..."
और मैं मानो
अज्ञात दिशा में नये दरवाजों की ओर
एक नाउम्मीद चाल हूँ :

मेरी बेअसर पुकारें
किसी हमदर्द को ढूँढ़ती ही रहीं;
बार बार यही लगा
कि जिसे कोई नहीं जानता
तुम वो पता हो,
और जिसे किसी ने न सुना
मैं वो हाल हूँ !

नीरद दिनों

अनाम

●

काम के दिवस बीते
काम की रातें मगर
सोये दिनों के ख्वाब में
या करवटों की रात के बल
देख लूँ कुछ देह के भी फूल
संजोये वक्ष की नीली नसों में

नीली हरी
सावन भरी
वाटिका के फूल
पर नहीं क्या अजब
उड़कर तुम्हारे पास जायें
और उर्वरा रस से कसी
गुम्बदों और घाटियों की
छाँव शीतल ओट में
फिर खिले यह घाव
कुछ नीरद दिनों

अवरोही मनःस्थिति

हरिमोहन

●

गुलाबी शरमाए गाल सदृश साँझ—
तीसी की क्यारी से उड़ती है नीली
सुरभि-रागिनी

फूट रहा फौवारा
करते किल्लोल
कुलबुल कुल
कुलबुल कुल, बत्तख के जोड़े
निगोड़े कबूतर
गुटरूँ गूँ गुटरूँ गूँ कर कर
लिपटते झिपटते हैं

निर्मोही मूरत किसी की
पुखराज की अँगूठी में
तैर तैर जाती है
आती है दूर से धीरे-धीरे
अवरोही प्यानो की सिम्फनी

"शाम गहरी शाम
काले बादलों के
धुएँ होकर लाल
जम जाते क्षितिज पर
चहचहाते पक्षियों का झुण्ड
होता शान्त
निःस्वर
आओ प्रिय आओ
मत जाओ सुनो लौटो
लौटो ओ प्राण
चूम रहा अन्धकार धरती को

नीड़ों में मिलते हुए पंख
फड़फड़ करते
बेले की कलियाँ सब
हाथों तुम्हारे गुँथी
बिखर रहीं झर झर झर
झरर झरर झर

निर्मोही न जाओ
न जाओ निरमोही
निर.........
नि।"

बेहोश रागिनी
कोमल अँगुलियों से
तड़फ तड़फ
सो गई सिम्फनी

तीसी की क्यारी से उड़ती पर,
नीली सुरभि-रागिनी।



सिम्फनी

शान्ता सिन्हा

रात न कभी-खत्म होती है, न पुरानी। मेरे ऊपर वही तारों से आबाद आसमान की छत है और वही गोल चाँद की माया जो हम दोनों को घेरे रहती थी, अपनी सुफेद बाहों के सहारे। और वही है हमारा सेक्स-विहीन प्रेम जो मेरे मन में काले सन्नाटे में सपनों की परछाईं की तरह खड़ा है। अब न बहस का वक्त है, न खामोशी का। हर चीज मेरे लिये एक रेफरेन्स है। फिर भी कितना अर्थहीन, निर्जीव। और यह है मेरा शरीर जिसकी सतह पर तुम सब रहस्यों के जानते हुए भी कभी नहीं गुजरे। तुम्हारे पास सभी चाभियाँ थीं लेकिन न तुमने मांगी थीं, न मैंने दी थीं। मेरा शरीर, इसके बावजूद अपना नहीं था, न जाने किसका है, समन्दर में कांपती हुई परछाईं की तरह।

तुम्हारा प्यार एक फैन्टेस्टिक सिफनी है। मेरा चेहरा उसके आवरण से ढक जाता है, इतना कि मैं अपने चारों ओर सिर्फ तुम्हें ही देखती हूँ और वे अजीब शक्लें जिन्हें पहचानना मुश्किल है। मैं समझती हूँ या तो मैं ऐबनार्मल हूँ या तुम या फिर यह मौसम; सब कुछ जिन्हें आँखें देखती हैं।

एक सजे-सजाये डाइनिंग-हाल में मैं हूँ जो अभी-अभी वीरान हुआ है, जो खाली दिमाग की तरह रिक्त है, जहाँ उजड़ी हुई कुर्सियों का बेतरतीब मजमा है। जहाँ फूल हैं जूठे, स्वादहीन, जैसे मेरे वे सपने जो मैंने तुम्हारे साथ देखे थे, गुलाबों के बाग़ में, वास्तविकता के रेगिस्तान से कोसों दूर।

हम रीति, रिवाज, संस्कृति की कब्र पर चल रहे थे। रात के जङ्गल से हो कर गुजर रहे थे। हम नई सुबह के मुन्तजिर थे। हमारे हाथ जुड़े थे क्योंकि हमने किताबें पढ़ी थीं, हर देश, जमाने की सभ्यता और संस्कृति को समझने की कोशिश की थी। इन्सान अगर भाषा-विज्ञान, आर्ट, मैथ और संस्कृति का 'डमी' है तो कुछ असत्य नहीं लेकिन हमने अब महसूस किया कि यह सब असत्य है और स्थान ही सब से बड़ी सच्चाई है। तुम्हारा दिमाग तो एक स्पंज है जब जो चाहा निचोड़ लिया। मैं, लेकिन अब प्रतिध्वनि के पीछे दौड़ती हूँ जो वृत्ताकार ड्राइंग-

रूम की ठोस दीवारों से टकरा कर वापिस लौट आती है। यही एक आवाज़ बाक़ी है। यही एक सत्य है। यह रात और दिन, ये मौसमी चक्कर, सब अपना अस्तित्व खो बैठते हैं, जैसे तुममें मैं।

बाहर जो कुछ नजर आता है तुम हो और अपने खामोश कमरे में मैं। खिड़कियों के बग़ैर कमरा अंधेरा है, आवाजों की कोई गुन्जाइश नहीं। हम दोनों के बीच एक लंबी चुप्पी का सफर है। हमने इसे तोड़ने की कोशिश एक जमाने में की थी। तारों भरे आसमान के नीचे, गोल चांद की माया में......अभी भी रात है और तारों से आबाद आसमान। और वही गोल चांद की माया जो हम दोनों को बाँधे रहती थी, अपने हसीन बाहों के सहारे बातें न कभी खत्म होती हैं न, पुरानी।

सितम्बर की एक रात में हलकी बारिश के बावजूद मैं, तुम और अनीता एक संगीत का प्रोग्राम सुनने गये थे। सरोद पर मालकोस! फिर जयजयवंती। हम संगीत की सीढ़ियों पर चढ़े और उतरे; कई बार संगीत ने सब को शब्दहीन और पंगु बना दिया था। दरवाज़े और खिड़कियों के बाहर हर चीज़ पत्थर की तरह निश्चल थी। कमरे के फर्नीचर-गद्दीदार कुर्सियाँ, सोफा यहाँ तक कि वह सरोद, सब चट्टान बन गये थे और आदमी स्टेच्यूज़। संगीत का झरना उनसे होकर, उनके बीच तेज रफ़्तार से बह रहा था।

फिर हम बाहर आये, तुम्हारे ओठों पर नये चुने हुए गीतों की प्रतिध्वनि थी। अनीता पहले ही घर चली गई थी। मैं और तुम साथ चल रहे थे, पास-पास, और रात कितनी वीरान थी। कहीं कोई व्यवधान नहीं था सिवा इसके कि तुम कुछ सोच रहे थे।

'उस दिन अगर तुम मेरा हाथ पकड़ लेते तो क्या होता?' मैंने कहा था कई दिन बाद।

'यह मेरी आदत नहीं है।' तुमने बच्चे की तरह कहा था! 'मेरे पास आओ, मैं तुम्हें अपने विचारों से भर दूँगा।' तुमने कहा एक क्राईसिस के मौके पर। मैं तुम्हारे पास आई और तुम्हें सुनती रही जैसे सूखी धरती पानी को सोख लेती है।

फिर हम दोनों ने कई फिल्म देखे साथ, कॉफी-हाउस, 'वालाज़' में नई दुनियाँ, नये ज़माने के सपने देखे, प्रोग्राम बनाया भविष्य का। घर में अनीता के फोटोग्राफ से बातें कीं तुमने, और अनीता के अभाव में उसे प्यार किया, तसल्ली दी।

तुम मुझे बहा ले गये जैसे सूखी रेत को पानी बहा ले जाता है। लेकिन हम

जानते थे हमारी फसल के लिये मिट्टी अभी पकी नहीं है। और अब कोई सवाल बाकी नहीं है, मेरा हाथ तुमसे अलग है, सपने जुदा हैं।

तुम्हारे मकान के लॉन में, लाल पृष्ठभूमि में हम बैठे थे। 'तुम्हारे जाने के बाद सिर्फ एक चीज बच जाती है।' तुमने कहा था। 'तुम्हारी आँखें जो सब से पीछे जाती हैं।' सामने खड़े दरख्त पर साँझ झुकी, वीरान घर आबाद हुआ। डर, शक और प्यार के आवरण के अलावा मेरे चारों ओर कुछ नहीं। कभी न कभी कमरा मुझे खाली कर देना पड़ेगा? साँझ गरम है, स्थिर। मेरे अँधेरे गलियारों पर, लेकिन, तुम्हारे कदमों की आवाज है। 'तुम उदास नजर आती हो—' तुमने मुझे पढ़ते हुए कहा था।

In order to arrive at having pleasure in every thing
Desire to have pleasure in nothing
In order to arrive at possesing every thing
Desire to possess nothing............ .

जीने के लिये मरना जरूरी है। तुम्हारी हँसी खिली हुई चमकीली धूप है जिसे मेरी काली आँखों का बादल ढंक लेता है। हर तरह की बातें हमने की लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर, बग़ैर हिचक और शर्म के क्योंकि हमारा मन शीशे की तरह था, साफ और निश्छल। हम जानते थे कि हम गलत नहीं थे।

'मैं 'लुनीन' और गीता दोनों को पढ़ता हूँ, and yet they are the same thing to me.' तुम्हारी फिलासफी, तुम्हारा सिद्धांत।

'एस्केप' तुम्हारे लिये हार है लेकिन मेरे लिये जिन्दा रहने का एक बहाना। हम दोनों सच्चाई के प्रति 'फेथफुल' हैं लेकिन कितना फर्क? पुराने कपड़ों की तरह परेशानी और मायूसी तुम्हारे चेहरे पर टिक नहीं पाती। तुम्हारी आदत हँसने की है और तुम सिर्फ एक ही बार दुख और आँसू से जीते जा सकते हो। अब मेरे पास कुछ नहीं है, मैंने अपने दरवाजे बन्द कर दिये हैं। मेरा घर, मेरा कमरा, मेरी अपनी दुनियाँ है। तुम्हारा कमरा, अनीता का घर मैंने खाली कर दिया है। तुम्हारा प्रयोगवादी प्रेम रीति-रिवाज की भूल-भूलैया में गुम हो गया। तुम्हारा प्रयोग असफल हो गया। तुम मेरी तसवीर अपने अजीज़ लोगों को देते हो लेकिन एक दिन वे भी अर्थहीन लाइनें और रंग बन कर रह जायँगी। हमारा प्रेम समय के जिस्म पर सुफेद, खौफनाक धब्बे की तरह है, जिसकी बाहें मुझे लपेटती आ रही हैं। मैं अजाने रास्ते में घूमती हूँ, मेरे पास सिर्फ तुम्हारी जलाई हुई लौ है। और कोई रोशनी नहीं क्योंकि मेन-स्विच तुमने ऑफ कर दिया है। बातें कभी पुरानी नहीं

होतीं। वही है मेरा सेक्स-विहीन प्रेम जो मेरे मन के सन्नाटे में सपनों की परछाईं की तरह खड़ा है।

समय क्या है? एक विराट शून्य? एक अर्थहीन फैलाव? सब गलत। समय स्मृतियों का बाँध है जिसमें कई स्पिल-वेज हैं।

अपने बंद दरवाजे के भीतर मैं तुम्हें पेन्ट करती हूँ, मनचाहे रङ्गों से। रात मेरी नहीं है, दीवार पर लगा है तुम्हारा बड़ा फोटोग्राफ। जो कुछ मेरा है वह है यह खामोशी। नींद तुम हो और मैं अपने बालों में तुम्हारी उंगलियों का स्पर्श महसूस करती हूँ, मैं अपनी आँखों से तुम्हें छूती हूँ, तुम्हारा चुम्बन लेती हूँ। हम एक अनन्त आलिंगन में बँध जाते हैं और वही फैन्टेस्टिक सिम्फनी!

एक शाम को तुमने और अनीता ने मुझे चाय पर बुलाया। हम लोग सब चुप थे क्योंकि हम एक दूसरे को समझ रहे थे, समझ चुके थे लेकिन इसके बावजूद तुम जिन्दा और ताज़ा महसूस कर रहे थे।

'तुम बेहद खामोश हो, जैसे आसमान में उगे तारे। जिन्दा रहना भी एक आर्ट है जिसे हम में से बहुत कम ही लोग जानते हैं।' तुमने पुरानी शिकायत की।

मैंने रेडिओ ऑन कर दिया था और तुम्हारी बात बेतरतीब आवाजों में गुम हो गई। मैं यथासाध्य साँझ को पीने की कोशिश कर रही थी। मेरे चारों ओर हर चीज़ नई थी, बेजान जैसे पत्थर। मेरी आँखों के आगे पश्चिमी आसमान दूर-दूर तक लाल हुआ, फिर हलका सुफ़ेद, फिर नीला। चिड़ियों के पंख नीम के दरख्त पर मुड़े, तुम और फिर वही लम्बी चुप्पी। बहुत परेशान नजर आ रही हो, मुझे अफसोस है। तुमने जितना मुमकिन था समझाया—

'Why not have a few regerets in life' तुमने उस परिच्छेद को बन्द करते हुए कहा। मेरे ईर्द-गिर्द हर चीज़ मर गई थी। वह रात, तारे, चाँद, मैं, तुम यहाँ तक कि रेडिओ का निरर्थक ऑर्केस्ट्रा। वह एक एबनॉर्मल परिस्थिति थी जिसमें हम सभी ऐबनॉर्मल हो गये थे।

तुम्हारे कमरे में दो, तीन टूटी हुई प्रतिमायें हैं, सभी अनीता की गिरायी हुई। तुमने टूटे हुए हिस्सों को अपने आफिस-बक्स में रख छोड़ा है। और मुझे लगता है किसी ने मेरी हत्या कर दी है। मैं अब बेहद थक गई हूँ क्योंकि मेरे पास अब कुछ करने के लिये नहीं है, तुम्हारी बातें निरर्थक हैं, तुम मुझे कभी समझा नहीं सकते, न मुझे कोई समझा सकता है। मेरा हाथ तुमसे जुदा है। तुम पानी में जमी हुई चट्टान की तरह दृढ़ हो।

मैं तुम्हारी प्रयोगवादी कविताओं की एकाध पंक्तियों को कभी-कभी गुनगुनाती हूँ—

घर गया जल,···स्मृतियाँ झांकें तो कैसे ?···तुम्हारी कविताओं पर जहाँ-तहाँ मेरे दस्तख़त हैं। बस यहीं तक।

तुम मुझे अब शेखर के साथ देखना पसन्द करते हो, मेरी तसवीरें उसे देते हो। यह इश्तहार अब क्यों ? हम दोनों जानते हैं कि यह नामुमकिन नहीं है, लेकिन मेरे लिये यह कम से कम मुश्किल है, क्योंकि उस तरह से सोचना मैंने बन्द कर दिया है। तुम शेखर की बात करते हो। मेरे सामने एक अजीबोग़रीब दुनिया है और उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं, क्योंकि यह मेरी अपनी नहीं है। तुमने एक ज़माने में मुझसे कर्ज लिया था जो अब लौटाने की कोशिश करते हो। कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो कभी लौटाई नहीं जातीं, मैंने सूद के साथ तुम्हें बरी कर दिया है।

और फिर वह अन्तहीन, अर्थहीन इन्तजार ! आर्केस्ट्रा शून्य में बजता रहा; न नाचने वाले थे, न सुनने वाले। मैंने फिलहाल ऊपर उठने की कोशिश की आध्यात्मिक स्तर पर। अँधेरे के उस मोटे परदे पर खुदे अक्षरों पर—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।

अमल करने की कोशिश की, ईश्वर, धर्म, युक्ति ! लेकिन मैंने फिर सोचा कि यह रास्ता भी गलत है, टेढ़ा है कम से कम मेरे लिये, तुम्हारे लिये। बातें न कभी होती हैं न पुरानी। यह वही गोल चांद की माया है जो अब पुराने घर के दरवाजे को खोलती है ! जहाँ पद-चिह्नों के अलावा कुछ नहीं है और है उस फेन्टेस्टिक सिम्फनी की प्रतिध्वनि !

बाहर हवा हलकी है और सूरज चमकीला। मेरी खिड़कियाँ दीवारों के फ्रेम में सुन्दर लैन्डस्केप की तरह बन गई है। मैं बाहर जाना चाहती हूँ, घूमना चाहती हूँ। यह भी मेरे लिये मुक्ति का एक तरीका है।.........हर मिनट कोई न कोई गाड़ी मेरी बगल से गुजरती है, मेरा दम घुट रहा है। मेरे कदम नई मोड़ पर हैं, तुम्हारी बातों की लम्बी सड़क खत्म हो गई है।.........मैं नदी किनारे पार्क में बैठ जाती हूँ, ताजी और ठण्डी हवा की सतह पर ! मेरी फेंकी हुई कंकड़ियाँ पानी में अनगिनत वृत्त बनाती हैं, सुफेद चादर पर पड़ी सिकुड़न की तरह। मैं सोचती हूँ वह क्या है जिसे मैंने हासिल किया ? मैं क्यों हूँ; इन्सान क्यों है ? और फिर यह दुनियाँ ? एक बेकार हरकत, बेमानी कोशिश। हासिल करने और खोने का सवाल क्या ? एक वक़्त आता है जब हार और जीत दोनों एक हो जाते हैं जैसे तुम और शेखर !

मैं और नलिनी तुमसे एक रेस्तरां में मिले। नलिनी उदास रहना जानती ही नहीं थी। तुमने उसके लिए 'एग सैन्डविचेज' का ऑर्डर दिया, क्योंकि वह खाना पसन्द करती थी। तुम अपनी नई ट्रिप की बातें सुना रहे थे, जिन्हें नलिनी खामोशी के साथ सुनने की कोशिश कर रही थी और नहीं उसकी पुरानी निश्छल हँसी और मशीन की तरह बोलने की आदत।

'मैं तुम्हें पसन्द करता हूँ नलिनी, क्योंकि तुम जिन्दगी को उत्साहित करती हो। तुममें हिम्मत है हजार समस्याओं के बावजूद मुस्कराने की। यह एक बड़ी चीज है कम से कम मेरे लिये। मेरी जिन्दगी का मकसद जानती हो नलिनी क्या है? दूसरों को खुश करना। क्या तुम रंजू को हँसना सिखा सकती हो नीलू?'

नलिनी अपना सिर हिला देती है तुम्हें सहयोग देने के लिये। तुम दोनों हँसते हो। मैं तुम्हारे मकसद को दुहरा देती हूँ—हाँ दूसरों को खुश करना।

तुम्हारे लिये गुलाब और राख एक ही चीज है। तुम्हारा तर्क समन्दर की गहराई है जिसमें मैं डूब जाती हूँ, लोहे की तरह तुमसे आजाद होना नामुमकिन है। तुम न समय से जीते जा सकते हो, न जगह से।

कुछ देर बाद नलिनी चली गई थी। तुमने फिर काफी का आर्डर दिया और हमने खामोशी को पीने की कोशिश की। तुम्हारी आँखों में वासना और लालसा के अलावा हर चीज नजर आती है। तुम्हारा खून बर्फ की तरह ठण्डा है, इस गरमी के बावजूद। और यह गर्म कॉफी है जो तुम्हारे ललाट पर फैले हुए पसीने को पैद करती है। जिससे तुम बार-बार अपने रूमाल से पोंछ लेने की कोशिश करते हो।... उस दिन भी रात आग की तरह गरम थी, वह आग हमारी ही जलाई हुई थी। हम एक दूसरे की साँसों के अलावा कुछ सुन नहीं पा रहे थे। तुमने स्विच ऑफ कर दिया था और हम बच्चे की तरह सो गये थे—चुपचाप, परियों की कहानी के सपनों में लीन। हम बुझे हुए बल्ब की तरह थे, तुमने वासना का स्विच ऑफ कर दिया था।...इस तरह से भी तुम्हें जीतना मुश्किल है। मैंने उस दिन महसूस किया था, क्योंकि तुम एहसान कभी नहीं ले सकते। तुम दूसरों को जीतने के लिये पैदा हुए हो, किसी से जीते नहीं जा सकते।......वेटर ट्रे के साथ आता है। मेरे हाथ कॉफी पॉट में व्यस्त हो जाते हैं।

'एक चीज को ले मशगूल रहना जिन्दगी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है, जब दुनिया में बहुत सी समानान्तर चीजें हैं। और फिर ट्रैजिडी भी, अगर तुम इसे ट्रैजिडी ही कहोगी, एक जमाने में कॉमिक बन कर रह जाती हैं।

न किसी इंसान को प्रेडिक्ट किया जा सकता है न किसी परिस्थिति को।'

आसमान की धूल से भरी पृष्ठभूमि में दूर-दूर में उगे हुए दरख्त, बिजली के खम्भे, मकान सब 'सिलहुट' बन गये थे, ख़ामोश, नंगे! तुम्हारी बातों के अलावा और कोई रोशनी वहाँ नहीं थी। भीड़ का हलका शोर-गुल उसी फेंटेस्टिक सिम्फनी के बैकग्राउंड संगीत की तरह था, जहाँ ये वर्दीदार वेटर ही नाचने वाले थे।

'मैं तुम्हें अपने अलावा हर चीज दे सकता हूँ, न शारीरिक रिश्ता मेरे लिये कोई अहमियत ही रखता है। फिर भी, एक दुनियाँ का अस्तित्व हमारे लिये अब तक बाकी है। एक नये कमरे का दरवाजा, जिसे हम दोनों खोल सकते हैं। और अगर हम एक दूसरे को समझते हैं, यह हजार बार मुमकिन है।'

तुमने आध्यात्मिक रिश्ते और प्रेम पर देर तक बातें कीं। तुम्हारा चेहरा हल्का गुलाबी था। तुम्हारी बातें मेरे ऊपर नींद का नशा लाती हैं और मैं सो जाती हूँ।

"तुम लोगे मेरा हाथ," मैंने सपने में कहा।

"अगर तुम अपना हाथ मुझे दो तो मेरे लिये अब कोई वजह नहीं कि उसे छोड़ दूँ। डर की कोई बात नहीं है क्योंकि यह धागा लोहे की तरह ठोस और मजबूत है।"

घर आने से पहले हमने शेखर की बातें कीं। मैं तुम्हारी नजरों के पार जाती हूँ—मेरे सामने एक खूबसूरत कमरा है, जहाँ टेबिल पर लगा है शेखर का लाइफ-साइज पोर्ट्रेट। आसमान वही है, और वही गोल चाँद।

एक रात को हम दोनों (शेखर) ने तुम्हारे और अनीता के साथ 'बालाज़'—में डिनर लिया। वह साल के आखिरी महीने की आखिरी तारीख थी शायद! लेकिन रात क्या वही थी? या वही बालाज़—था? मैं? तुम? अनीता? संगीत कुहासे की तरह हम सब को लपेट लेता है। मैं अपना हाथ इसे साफ करने के लिये फैलाती हूँ, लेकिन यह सूखे पत्ते की तरह नीचे गिर जाता है। अनीता का चेहरा तुम्हारे असर से गुलाबी है, तुम्हारे सीने के दरख्त में उसका घर सुरक्षित है।

"फिश-मायोनीज", तुमने सलाह दी। शेखर ने आइसक्रीम का आर्डर दिया। तुम हमेशा की तरह पुराने किस्से, कहानियाँ और जोक्स में मशगूल थे।

"शो नौ बजे शुरू हो जाता है, हमें जल्दी चलना चाहिये।" शेखर ने याद दिलाई बात।

मेरा हाथ शेखर की उँगलियों के स्पर्श से भारी है। और मैं सोचती हूँ, ट्रैजिडी भी एक जमाने में कॉमिक बनकर रह जाती है। क्या यही आखिरी कदम है? रात का परदा हम दोनों के बीच फैल जाता है। वही रात, वही गोल चाँद! बातें कभी खत्म नहीं होतीं।

तथापि

नरेश मेहता

विपिन की ओर से—

लगते अषाढ़ की साँझ अतिरिक्त लला उठी थी और जिसके साक्षी रूप में क्षितिज पर्यन्ता गंगा कगार काटती बिछी थी। विपिन कभी प्रयाग में था; आज नहीं तो क्या हुआ, था तो!! प्रकाशक, लेखक एवं निन्दकों से भरे इस साहित्यिक नगर में सहज मनुष्य भी रहते हैं यह उसने तभी जाना था जब उसका परिचय स्टेनलीरोड के रायपरिवार से मुकुल ने करवाया था। मुकुल, "बुक काटेज" में मैनेजर है। विपिन एक दिन काटेज की शेल्फों में "बलाका" खोज रहा था जिसे उसने मुकुल की सहायता से पाया था और तभी से दोनों में प्रगाढ़ आया। रायपरिवार से मुकुल ने वपिन का परिचय कब, कितने दिनों बाद एवं किन परिस्थितियों में करवाया यह सब अनावश्यक है, जो आवश्यक है वह यही कि विपिन पारुल के निकट आ गया था। राय परिवार की पारुल शान्त एवं स्वप्ननिष्ठा है, जिसे अतिरिक्त भी कहा जा सकता है। इस परिचय के उपरान्त उसे प्रयाग से जाना पड़ा था—और कहाँ कहाँ नहीं!! तथापि वह नियमित अन्तराल से आता जाता रहा है—कदाचित आगे भी।

जब वह सुपरिचित सिविल लाइन के फाटक से बाहर निकला तो पहला प्रश्न यही सामने आया कि दो दिनों का मेहमान बनने के लिये मुकुल के पास पहले जाये अथवा पारुल को पहले मिलता जाये। इसी उधेड़बुन में रिक्शेवाले को बिना खास पता दिये यह चला जा रहा था। सहसा उसने पाया कि उसका चश्मा कहीं छूट गया है। रिक्शेवाले ने याद कराया कि उस मोड़ तक तो था जहाँ सिगरेटें खरीदी गयीं थीं। भीगी दूबों में जब चश्मा खोजा जा रहा था तब झींगुर झन्ना रहे थे। अब वह चश्मा पहनकर भी निर्णय नहीं कर पा रहा था कि पहले मुकुल अथवा पारुल र इतनी रात में पारुल क्या सोचेगी? चाहे वह न भी सोचे किन्तु घर के अन्यजन? विपिन ने स्टेनलीरोड की पुलिस लाइन के सामने अपने को अन्तिम निर्णय के लिये तैया कर लिया था क्योंकि सिर पर बादलों की गड़गड़ाहट लिये रिक्शा कुछ ही क्षणों में पारुल

के बँगले के सामने से गुजर जायेगा—और बिचारे रिक्शेवाले को क्या मालूम हो पाएगा कि उक्त बँगले के सामने धीमा हो जाये, ताकि यह अनिर्णीत मन का यात्री कदाचित् यहाँ उतर ही जाये। किन्तु विपिन ने निर्णय ले ही लिया था कि पारुल को सूचित करता हुआ ही जाएगा कि—वह आगया है, उसे पारुल से आवश्यक कहना है और कल साँझ जब वह कहेगी तब विस्तृत होकर आएगा। इस बार प्रयाग में उसे दूसरा कुछ नहीं करना है।

जिस बेला उसने पारुल के घर की साँकल कुटी, मेघ हल्के रिस रहे थे। बाहरी फाटक के पास रिक्शे की चिमनी तथा रिक्शेवाले की बीड़ी अँधेरे में चमक रहीं थीं। उस विशाल अहाते के अन्य घरों से चीखना-चिल्लाना आ रहा था। पारुल-आँगन के पके कटहल ने दीवार पार से ही झाँकते हुये पता नहीं कैसा-कैसा किया।

—कौन ?? अलाप लेता पारुलकण्ठ फूटा।

—मैं !! विपिन ने अपने को "मैं" बनाते हुये कहा। विपिन ने जैसे अपने को "मैं" बना ही तो लिया था।

आँगन के ईंटपथ पर चट्टियाँ सट सट कर उठी थीं, किन्तु पल्ले एकदम ही नहीं खोले गये थे। एक बार फिर आश्वस्तता के हेतु "मैं" की व्यक्ति-वाच्यता पूछी गयी थी और हठात्—अरे आप !!, का आश्चर्य, उपरान्त स्वागत हुआ था। भीगे ईंटपथ के दोनों ओर क्यारियों में ऊदे नीले कर्णफूल से झूम रहे थे। दोपहर की फैलायी गई शान्तिपुरी तार पर दुबारा सूखने की प्रतीक्षा में फैली थी। केल, फलवती हो कर कोने में दुबकी मौन थी। रजनीगंधा को ऐसा कुबेला में—जब कि परिवार के अन्य उत्तरपाड़ा गये हों—आगन्तुक का आना सुहाया नहीं। विचित्र गन्धों भरा छोटा सा आँगन बरामदे की बत्ती में तह किए कपड़े सा बिछा था। चौकी से "आनन्द बाजार पत्रिका" हटाते हुए—बोशुन—आदेश को विपिन सहसा समझ सका कि यह अभिधा है अथवा व्यंजना। अन्दर के कमरे में तानपूरा रखते हुए पारुल ने पूछा—

—सहसा कहाँ से विपिनबाबू !—

—काशी से—

—कब आये ?

—अभी आया नहीं पूरा, सामान लिये रिक्शा फाटक पर मेरी बाट में है।—

—सच !! तो लिवा लाइये ना, क्या यह भी कहना होगा ?—

—माँ कहाँ है ?—

—उत्तरपाड़े से बड़दा आये थे, माँ को कलकत्ते लिवा ले गये हैं, शायद आपरेशन होगा।—

—और टिल्लू !!—विपिन जानता था कि पारुल की छोटी बहिन टिल्लू शुरू से ही बड़दा के पास रहती है, और अब तो धीरे-धीरे समूचा रायपरिवार ही कलकत्ते के अपने क्लाइवरो वाले 'वृन्दाधाम' में पहुँच गया था। यहाँ तो अब पारुल ही शेष थी जो स्थानीय 'बंग महिला समाज' में संगीत अध्यापती है।

—ये सब तो पीछे पूछ लीजिएगा, मुकुल के यहाँ न उतरिएगा ?—

—हाँ, भला यहाँ कैसे......।—

—सो तो है ही, लेकिन इन ठण्डे कपड़ों में जड़िया नहीं जाइएगा ?—

—नहीं पारुल ! अभी सीधे मुकुल के यहाँ ही जा रहा हूँ, यही कहने आया था कि अब चलूँ, कल कब मिलना होगा ?—विपिन उठते हुये बोला।

—आप जाइएगा भी, कल मिलना भी होगा, किन्तु यों तो अभी जाना नहीं हो सकेगा। किसी होटल की चाय के स्थान पर यहाँ से पी कर जाना ऐसा बुरा नहीं होगा।—

और ईंट की झँझरियों वाले खाबारघर के पीछे से चाय की खटरपटर सुनाई दी। हवा से झकझोरित पेड़ों द्वारा गिरायी गयी बूँदों से भागते जब मुकुल को उसने खटखटाया तब दस बजे को पच्चीस मिनट हो चुके थे।

तीसरे पहर जब विपिन वहाँ पहुँचा तो पारुल का मुख तँबिया रहा था। बहिरे से तभी लौटी थी और कदाचित् पसीना सुखाया जा रहा था। कल जब वह चलने लगा था तो पारुल ने दरवाजा छेंकते हुये आग्रह किया था कि उसे ऐसा क्या कहना है, वह क्या है, जो आवश्यक है, अभी ही क्यों नहीं कह दिया जाता ? कदाचित् इसीलिए तीसरे पहर की यह मीटिंग गम्भीर हुई जा रही थी। बड़े भँवरे की भाँति टेबिलफैन गुन्ना रहा था। दाहिने हाथ की छोटी खिड़की से पका कटहल, दूसरे की बातें सुनने वाले व्यक्ति की भाँति लग रहा था। विपिन आज बहुत कुछ कहने आया था किन्तु वह वृत्त के सूत्र को नहीं पकड़ पा रहा था कि जहाँ से आरम्भ किया जा सके। कारण कि वह जानता था कि आज तक के ही नहीं वरन् इस क्षण तक के "विपिन बाबू" भी भला ऐसी बातें कह सकते हैं ?—पारुल यही न सोचेगी ? परन्तु क्या ऐसी बात है यह कि जिसे पारुल ने स्वयं भी कभी न सोचा होगा ? क्या वह ऐसी निस्पृह है !!

—पारुल ! मैं जानता हूँ कि ऐसी बातें यों नहीं कही जाती हैं और फिर इस प्रकार......।—

—आप क्या कहना चाहते हैं विपिन बाबू ! पहेलियाँ न बूझिये । देखिए, रात सो न सकी हूँ, और आज क्लास में भी तीव्र मध्यम के स्थान पर शुद्ध मध्यम बताकर हँसी करवा चुकी हूँ ।—

—पता नहीं तुम क्या सोचो, किन्तु कहना मेरे लिए आवश्यक है पारू !, लेकिन यदि तुम इस प्रकार सुनोगी तो मुझे लगेगा कि मैंने कहकर भारी भूल की ।—

—नहीं हँसी नहीं कर रही विपिन बाबू !—

—पारू ! मैं...मैं...मुझे बहुत पूर्व ही स्पष्ट कर देना चाहिए था कि मैं तुम्हें...।—

और पारुल, सिर झुकाए नाखूनों से कुर्सी का वार्निश खुरचते हुए अपने में सन्तुष्ट मुर्गी सी आत्मस्थ बनी थी । पीठ पर के फैले बालों में से दो चार मुँह के पास लहराते हुये तिरस्करणी बनाये थे ।

—बोलो पारू ! मैंने कहकर भूल की है ना ? पारू ! पारू !!—

और विपिन ने देखा कि पारुलनयन रुके हुए सहसा क्षण भर देख कर कहीं खो गये, अपने में ही, अदेखे से । माथे पर बूँदें झलमला गयीं । क्या यह वही पारुल है जिसे उसने मन ही मन आत्मीय स्वीकारा था ? किसी को आत्मीय स्वीकारने पर वेदना ही होती है ? पारुलपरिवार ने बिना उसका नाम धाम पूछे ही सहज ले लिया था । जहाँ चाहते हुए भी अधिक नहीं जा पाता था । कई बार द्वारे से ही लौट आया है, तो कई बार सड़क के उस मोड़ से ही लौट आया है कि जहाँ से पारुलघर दिखलायी पड़ता था । स्वयं को ही इस विषय में वह समझा नहीं पाता था कि क्यों नहीं वह नियमित जाता ? अन्दर आते समय भी धड़कते फाटक बन्द किया जाता जैसे वह कोई चोरी करने आया हो । कोई क्या कहेगा यदि इस प्रकार हमेशा आते देखे तो ? जैसे लोगों का कहना अपने में बहुत महत् सत्य रखता हो । विपिन को इस क्षण ऐसे कथनों की क्षुद्रता दिखलायी दी । वह तब भी जानता था कि पारुल के निकट अधिक समय जाने का अर्थ होगा—सब कुछ सम्भव । और आज यह सब सुनकर तब क्या यही पारुल इतनी निस्पृह बनी रह सकती थी ?

—पारू ! मैंने ही भूल की, बिना किसी समय नैकट्य की भूमिका के इस प्रकार का कथन मात्र प्रलाप समझा जायगा, क्षमा करना पारुल !—

विपिन के उठने के पूर्व ही पारुल उठ गयी और भीतर चली गयी ।

इस जाने को विपिन क्या समझें ? क्या यह कि—जी आपकी बात का यही उत्तर है। अथवा यह कि—आप बैठें तो...।

और विपिन बाबू अपनी बात में यह तक भूल गये कि कुमारी पारुल राय का आतिथ्य, कहावत की सीमा का था।

—आप तो एक ही चम्मच न लेते हैं ?— उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चाय एवं मिष्टी टेबल पर रख दिये गए थे। एक कप अपने लिए बनाते हुये बोली—

—आप में तो किंचित् परिवर्तन हुआ नहीं देखती हूँ।—

—जैसे !!

—यही कि हर बात को जब तक नहीं कहा जाये तब तक...।—

और विपिन ने कप ओठों से लगाया।

—जानते हैं विपिन बाबू ! बंगाली बनने की एक ही शर्त है।—

—सन्देश खाना, है न ?—

—तो आपको तो फार्मूला भी याद है।—

—किन्तु तुम नहीं खाओगी ?—

—यही तो पुरुषों में दोष होता है कि वे सभी बातों में स्त्री को भी पुरुषवत् आचरण करते देखना चाहते हैं।—

—मैं समझा नहीं पारु ! क्या मिठाई...।—

—हाँऽऽ मिठाई भी...और यही कि जो बात आपने अभी थोड़े पूर्व कितने सहज रूप में कही थी और उसी सहज भाव से उत्तर भी चाहा था।—

—तो क्या......।—

—आप में यह सहज उदारता है विपिन बाबू ! भला भूल कैसी ? मैं तो यह सोच रही हूँ कि इसे सौभाग्य कहूँ अथवा दुर्भाग्य !! नहीं विपिन बाबू ! सहजता से तो दुर्भाग्य ही मिलता है, सौभाग्य के लिए क्या कुछ न करना होता है। मैं जानती थी, सब जानती थी, आरम्भ से ही जानती थी, क्योंकि आकर्षण, फेन की भाँति तिर आता है ऊपर, और उस तिरे फेन को फिर किसी घाट तो लगना ही होता है। झूठ है विपिन बाबू ?—

बेला झुक आयी थी। क्लर्कों का रेला बह गया था और सड़कें फिर से आश्वस्त हो धुल पुँछ गयी थीं। सड़कें उलाँघते, खेत फलाँगते पारुल एवं विपिन गङ्गा किनारे चले जा रहे थे। बाँयें हाथ, कोण में द्रोपदी घाट पर खड़ी नाव का मस्तूल आकाशे उग आया था। रह रहकर कच्ची कगारें गङ्गा में टूट-टूटकर गिरते

छुप्प बोल जाती। आकाश इस भलफल बेला में रोरिक के चित्र सा लग रहा था। दाहिने, फाफामऊ पुल से दूर इञ्जिन का काला धुँआ उठ रहा था।

—पारू! याद है गंज में एक बार दुर्गापूजा पर हम सहसा मिल गये थे।—

—हाँ, इतने दिनों बाद उसकी अनुगूँज?—

विपिन कुहनियों के बल चित्त लेटा दूब नोंच रहा था। पारुल, क्षितिज में प्रतिमा सी खिंच आयी थी। उसके जूड़े में आकर एक सोने का मेघफूल लग गया था।

—क्या सोच रही हो पारू!—

विपिन ने देखा कि हरी दूबों में पारुल के लाल जूते खरगोशों से दुबके थे।

—विपिनबाबू! क्या हो सकता है अब ?! द्वारे आये सौभाग्य को भी लौटाना ही होगा, यही होना होगा। एक सीमा के बाद सब समाप्त हो जाता है, सब समाप्त हो जाता है।—

वह अपने में बुदबुदा रही थी—जैसे बुलबुले बोलते हैं।

पारू!!

—और विपिन ने उसका हाथ पकड़कर उसे भी बैठाल लिया। आवेश में दृष्टि पैनी हो जाती है, नाक तीखी और ओठ थरथरा जाते हैं।

—निश्चय ही आपकी बात बिना भूमिका के है, किन्तु असंगत नहीं। कहिए क्या उत्तर दूँ? जानते हैं वाग्दत्ता के लिए सारी गतियाँ मर चुकी होती हैं, मेरे लिए भी, विपिन बाबू! मेरे लिए भी। आपके इस सोने से सत्य की मात्र पूजा कर सकती हूँ किन्तु क्या किसी भी दिन अपने इस तन पर धार सकूँगी?! विपिन! तुमने आज अनजाने ही मेरी नारी को जाने कैसी लज्जा दे दी, मन तक सजा दिया तथापि......।

फिर वही बुलबुले बोल रहे हैं।

—चाहा था, सम्पूर्ण स्वत्व से चाहा था विपिन! गंज में वह चौधरी की दूकान के पास—बाद में भाभी ने मजाक भी किया था किन्तु विपिन बापू! हम अनागत बनकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं, कदापि नहीं! और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजन।

बुलबुले ऊबचूब कर रहे हैं, भँवर आजाने के कारण।

—आश्वस्त होओ पारू! तुमने जब स्वयं एक बन्धन बरा है, उसे तुम तोड़ फेंको यह तो कह सकता हूँ परन्तु उसके लिए बाध्य नहीं कर सकता; कारण कि ऐसी बाध्यता, कभी विद्रोह भी कर सकती है। चलो पारू! हम न तो आज के पूर्व कभी थे ही, न हैं ही। कारण कि हमें तो होना है; यह होना ही हमारी संगति है, शृंखला है।

—कदाचित।—

किसी मन्दिर के शंख घड़ियाल सुनायी पड़ रहे थे और सग में कुत्ते भी।

"बुक काटेज" में बैठा हुआ विपिन समय काट रहा था। आज उसे लौट जाना था। कल पारुल से भी तो यही कहा था, किन्तु मुकुल ने व्यर्थ ही रोक लिया था। पारुल को इसकी सूचना दे या न दे वह इसी उलझन में था कि मुकुल ने बताया कि पारुल का फोन आया है।

—हाँ पारुल रुक जाना पड़ा, स्टेशन न आने की बात तो पहले से ही तय थी और अब तो मैं ही......।

वह आज नहीं गया इसीलिए इस बेला फिर पारुलद्वार लगी उसकी नेमप्लेट बाँचता खड़ा है।

आज दोनों को ही ठीक ऐसी ही लाज थी जैसी कि दो के मन जब प्रतिअनावृत हो जाते हैं और तब जो होता है। तटस्थता, खिंचाव में परिणत होती है। आज दोनों में से ही एक दूसरे के लिए कुछ कट गया था, खो गया था और जिसे वे अपने में खोजते बैठे रहे। आज उनके बीच बोलने के लिए कुछ भी तो शेष नहीं था, जो शेष था वह था—सौजन्य!!

—कोई विशेष काज आ गया जो नहीं जा सके?—

—नहीं विशेष तो कुछ नहीं, पर चला ही जाना चाहिए था।—

—क्या कल नहीं, ठहर सकते?—

—शायद नहीं, किन्तु क्यों?—

—ऐसे ही, किन्तु आज आपको चला ही जाना चाहिए था।

और उठकर पारुल जाने को हुई कि विपिन ने टोका—

—पारुल! अब चाय की व्यावहारिकता रहने दो। विश्वास रखो कि आज कोई ऐसी बात नहीं होगी। केवल एक बात और पूछनी है तथा जिसका उत्तर दो ही ऐसा आग्रह चाहते हुए भी नहीं करूँगा।

और पारुल की गुड़हल आँखों में अव्यक्त विवशता रङ्ग उठी।—

—बात पूछने के पूर्व एक बात और बतानी होगी कि क्या तुम कल और आज रोती रही हो?—और विपिन उसे रोके उसके पूर्व ही वह उठ गयी।

सूजी हुई आँखों को धोकर वह अन्यमनस्क सी लौट आयी है।

—पारू! तुम अपनी ओर से कल सब प्रवाहित कर चुकी हो। तुम असंपृक्त, तुम्हें क्या कहूँ? और क्यों? किन्तु पारू! तुम्हारी इस विवशता का कोई कारण नहीं है। तुम्हें तुम्हारा मिथ्यात्व घेरे है। एक ओर पटल के चिर नैकट्य को भी नहीं

छोड़ सकतीं तथा दूसरी ओर विपिन से कहती हो कि मेरा यह भाग्य कि तुमने मुझे चाहा—कुछ नहीं पारू ! यह अपने प्रति तुम्हारा छल है साथ ही दूसरों के प्रति भी ।

अँगुलियों में मुँह लुका वह फूट पड़ी है ।

—सच मानो मैं आज ऐसी बात नहीं कहना चाहता था पर...।—

विपिन ने आवेश में अपनी दोनों हथेलियों में पारुल की अँगुलियाँ समेट लीं —मुझे तुम्हें पाना ही होगा पारू !—

और यह कहता हुआ विपिन पर्दा ठेलता हुआ बाहर निकला । पारुल कहती ही रही—नहीं, ऐसा नहीं हो सकेगा विपिन बाबू ! सुनिए !—

लेकिन पारूल का सुनिए—सेतु नहीं बन सका ।—

पारुल की ओर से—



पिछली बार जेठ में जब विपिन आया था तब भी सहसा ही आया था और तब वह हुमसती पसीने पसीने पहुँची थी। एक दम पारुल को देखकर विपिन बाबू को आश्चर्य होगा यह वह जानती थी, और हुआ भी वही। प्रसन्न जलभरी आँखों से विपिन ने पारुल देखी थी और संतोष की झाँई वाले नयनों से पारुल ने विपिन निहारा था। दोनों के कण्ठ भर आये थे। तब पारुल ने ही वस्तुस्थिति सम्हाली थी।—

—अभी तुरन्त कलकत्ते से लौटी हूँ। जाकर कपड़े बदल सीधे कालेज जाना है।

और आज साँझ वह सीधे घर ही लौटी थी क्योंकि उसे नवद्वीप से आये गौड़ीय संकीर्तन समाज का कीर्तन सुनने जाना है। जिस बेला वह नित्य का रियाज कर रही थी तभी उसने दो एक बार से साँकल सुनी,—शायद हवा से बज उठी हो या फिर पड़ोसी के किसी शैतान बच्चे ने बजायी हो।—नहीं, "पारुल जी" की परिचित डाक जो सुनाई दी । ऐसे तो विपिन बाबू ही डाकते रहे हैं । तारों पर झटके से हथेलियाँ रख, पुकारना सुना। यह तो निश्चित ही विपिन बाबू ही हैं, किन्तु इस कुबेला ? कहाँ से ? तभी न पल्ले खोलने के पहले पूछा गया था—

—कौन ??

—मैं !!

उत्तर में जब पारुल ने "मैं" सुना तो बरबस मन हँस पड़ा कि वाह रे "मैं"—जैसे इनके अलावा अन्य कोई "मैं" हो ही नहीं सकता। इन विपिन बाबू को पता नहीं कब औचित्य आएगा। और आयेगा भी कि नहीं क्या जाने। पारुल को अच्छा लगा कि उतरते जेठ के बाद लगते आषाढ़—इतने जल्द फिर विपिन बाबू आये—लेकिन पड़ोसी यदि जान जाये कि इसी रात में रायबाड़ी में कोई—होगा।

'आनन्द बाजार पत्रिका' हटाते हुये—बोशुन—कह वह तानपूरा रखने चली गयी। दबी दृष्टि से ही समझ गयी कि अभी सीधे ट्रेन से आ रहे हैं। एकदम सीधे बिना कहीं टिके यहाँ आने का प्रयोजन?? क्या इस बार रुकेंगे नहीं? किन्तु परेशान क्यों हैं? टिल्लू के बारे में क्यों पूछ रहे हैं? जैसे जानते न हों कि वह बड़दा के पास ही रहती है। ये आज ऐसे क्यों हैं?

जरा सा ठहरने के बारे में पूछा नहीं कि किस उतावली से उठ खड़े हुए। क्या ये नहीं जानते कि बिना मुँह जूठा किये कभी यहाँ से जाना हुआ है? और ऐसे ही चले गये तो पारुल को बड़ा पुण्यलाभ होगा न!! इन्हें न तो स्वयं ही कुछ मालूम है और लाख तोते की भाँति पढ़ा भी दो तो क्या, कल देख लेना फिर वही अपने मिट्टी के माधो। किन्तु वह भी कैसी है कि माँ के जाते ही क्या मजाल जो घर में कुछ भी खाने का रखा रहे। बस—एक कप चाय पिला कर ही तो भेजना होगा। वह भली प्रकार जानती है कि इन महाशय ने रास्ते में क्या कुछ खाया होगा। हर स्टेशन सोचा होगा कि—ये खा लिया जाये, वह खा लिया जाये—और पुकारना गले में फँसा का फँसा लिये पूरी यात्रा कर डालने वाला व्यक्ति जिसके मत्थे भी पड़ेगा—किन्तु यदि उसके मत्थे ही पड़ने को हो तो!! क्या वह स्वीकार न लेगी?—छोड़ो।

आज नहीं कल विस्तृत होकर आयेंगे तभी कहेंगे—आवश्यक कहना है। दरवाजा छेंककर भी पूछा—पर चले गये। पल्ले बन्द कर टूटी सी बिस्तरे लौटी। जहाँ विपिन बाबू बैठे थे चादर में सलवटें भर उठीं थीं, गहरी हथेलियाँ फेर सल तोड़ कुहनी के बल लेट गयी।

उसे ज्ञात है कि क्या कहने वाले हैं। जिस बात की उसे प्रतीक्षा थी वही न कहेंगे। पिछली बार जेठ में जब आये, तब माँ से कैसे खुल गये थे अचानक ही—माँ ने भी कैसी भेद भरी दृष्टि से देखा था उसकी ओर। वह तो अच्छा हुआ कि

वह पान लाने उठ गयी थी। यह भी कोई बात हुई—कहाँ तो मुँह में जीभ ही नहीं और कहाँ एकदम दामाद के जैसे...वाह रे विपिन बाबू !! उस बार भी पारुल डर रही थी कि विपिन बाबू अवश्य ही उससे कुछ कहेंगे—किन्तु फिर वही चुप्पी !! जबकि इसके विपरीत पटल पिछले पखवारे गोहाटी से ज्वाइन करके आया और माँ, बड़दा तथा उससे सब कुछ कह गया।

पानी तिरछा था, बरामदे में बौछार आ रही थी। चादर का एक सिरा हल्के भींज गया था तथा उसका जूड़ा फुहारों से भर उठा था। कुहनी गद्दे में गड़ी-गड़ी सुन्न हो गयी थी। चौंक के जब स्वस्थ हुई तो देखा कि वास्तव के विपिन बाबू को गये तो दो घण्टे हो गये हैं। पीढ़ा समेट, चीजें बटोर खम्भे से सटी खड़ी रही ! जाने कहाँ से विपिन बाबू की एक बात कौंध गयी—

—पारुल ! मुझे ढँका सिर ही सुहाता है।—

और बत्ती बुता भींगते अंधेरे में अजाने ही दूसरे हाथ ने चूड़ियाँ खनकाते हुये पारुल का सिर ढँक दिया।

पङ्खे के सामने बैठ वह जूड़ा खोले पसीना सुखा रही थी। मुँह धो चुकी थी किन्तु मुँह फिर भी ताँबिया रहा था। रात रतजगा किया था। इसलिये पलकें और भी भारी हो आयी थीं। आज क्लास में भी तीव्र मध्यम के स्थान पर शुद्ध मध्यम बताकर हँसी भी करवा चुकी थी। दिन, फटे दूध सा दिन भर लगता रहा। यदि सामाजिकता एवं औचित्य का ध्यान न होता तो सवेरे ही विपिन बाबू से मिल आती, जैसा पिछला बार किया था।

कैसे शुमसुम हो उसी स्थान पर, अपनी सुपरिचित मुद्रा में मुट्ठी पर ठोड़ी टिका आकर बैठ गए। उसने दबे से विपिन बाबू को पूरा बाँच लिया था कि...किन्तु इनका क्या ठीक। ये कहते हैं—इनकी बातों पर गम्भीर होने के स्थान पर हँसी कर रही हूँ—ना बाबा !! भले ही इन्हें वह प्राप्त न कर सके किन्तु क्या इन पर हँसा जा सकता है ?

—पारू ! मैं...मैं...मुझे बहुत पूर्व ही स्पष्ट कर देना चाहिए था कि मैं... तुम्हें...।—

किन्तु विपिन बाबू ! कैसे स्पष्ट किया जा सकता था ? आपका दुस्साहस ही है जो इतना भी कह गए। माना कि पारुल पर आपका अत्यधिक विश्वास है, तथापि विपिन बाबू ! दो के बीच के निःशब्द को शब्दबद्ध बनने में कितने मेघ सींचे जाते हैं मालूम है ?? और क्या ऐसा होने दिया गया ? मुकुल के साथ उस दिन पहली भेंट हुई,

उसके बाद फिर अनायास ही 'कॉरल क्लब' के पास मिल गए थे। गिनिए, विपिन बाबू! एक हाथ की अँगुलियों पर आपका आना गिना जा सकता है। पारुल को तो यही लगा था कि विपिन बाबू उसके प्रति उदासीन हैं। समय-समय पर जो निकटता दिखलायी भी पड़ती थी वह सौजन्य से अधिक क्या कहाएगी? सौजन्य, प्रेम है विपिन बाबू?

—बोलो पारू! मैंने यह कह कर भूल की है ना? पारू! पारू!!—

भूल कैसे कहे वह? गंज में उस साँझ वह स्वयं दौड़कर मिली थी। दो एक बार मान भी किया था विपिन बाबू! परन्तु प्रत्युत्तर में क्या? यही न कि छठे छमासे दस मिनट के लिए हुआ आ गये, और इसी आधार पर आज आप...। भला किसी भी नारी को कैसे विश्वास आयेगा? पारुल के लिए भी क्या इतना ही सहज समझते हैं जितना आसान स्वयं के लिये है? कहिए क्या कहूँ?? विपिन बाबू! पुरुष मन जीता है किन्तु नारी को तो तन जीना होता है। गङ्गा वह नहीं जाती किन्तु विपिन बाबू का मन और दुख जाएगा यही सोच कर चल पड़ी। सुनसान सड़क पर कितनी बार मन में आया कि कह दे कि—ले चलो विपिन बाबू! मुझे यहाँ से और समाप्त कर दो, क्योंकि आपको प्राप्त होने से तो रही—परन्तु पारुल जैसी के लिये क्या ऐसा कह सकना आसान था?

गङ्गा किनारे पहुँचते ही उसे अपना उत्तरपाड़ा याद आया। पूरब और यही गङ्गा पद्मा होकर बहती है। सामने के पोखर में वह और पटल बंसी डाले बैठे रहते। कुमुदनी भरे पोखरों में ताड़ और केले झुके से झाँकते। पटल और पारुलघर के बीच की पुलिया के दोनों ओर लाल पीली कदलियाँ कतार में सजी रहतीं। तब पटल कलकत्ते चला गया और पारुल भी शेष परिवार के साथ रहने प्रयाग आ गयी थी। पिछले आश्विन में ही पटल इंगलैंड से फिशरीज में डाक्टरेट करके लौटा है तो पारुल को भूला थोड़े ही। यहाँ आया, रहा, सबको बड़ा अच्छा भी लगा था। एक दिन वह और पटल बातें कर रहे थे तब विपिन बाबू भी आ गये थे। उसके बाद विपिन बाबू को प्रयाग से चला ही जाना पड़ा। कहीं दक्षिण से एक बार स्वल्प सा पत्र भी आया था जिसका उसने कितने हुमस कर उत्तर भी दिया था—यह ठीक है कि वह संयत था, पर उससे क्या। फिर कहीं कुछ नहीं, और अब...।

विपिन ने जब पारुल को हाथ पकड़कर बैठाला, वह अपने में तिरोहित थी। वह देख रही थी कि विपिन बाबू फेनयुक्त समुद्र की मानी उफना रहे हैं। उसे बचपन से ज्ञात है, उसे ही क्या किसी भी नारी को ज्ञात होता है कि ज्वार में ऊपर तिर आने-वाला फेन, न तो सच का ही समुद्र है और न ज्वार का आत्ममुखी वेग ही समुद्र

की गति है। ज्वार तो तटों पर फेन लीप भर जाता है, सीपें, इस घटना की साक्षीरूप होकर पड़ी रह जाती हैं, और पीछे छूट जाने वालों में होते हैं कुछ कंगूरे वाले वर्णीशङ्ख—क्या ये समुद्र की स्थिति होते हैं ?? जबकि लौट गया हुआ जल, वह दूर लपेटे खाता फिर ज्वार बनने को होता है—

—...हम अनागत होकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं, कदापि नहीं !! और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजनहीन !!...।

वह नहीं जानती कि वह क्या बोल गयी है। जो जानती है वह यही कि लौटते ज्वार के सङ्ग जिस प्रकार तटस्थ तट, जाता नहीं वरन् जाने का आभास देता है—बस वैसी ही वह भी रही है। उसे चेत तब हुआ जब विपिन ने कहा—

—चला पारू ! हम न तो पहले थे ही और न हैं ही, हमें तो होना है, यह होना ही हमारी सङ्गति है, शृंखला है।—

जब विपिन, द्वारे छोड़ गया तो वह पुकार कर पूछना चाहती रही कि—क्या सच ही कल चले जाइएगा ?—किन्तु विपिन देखते-देखते सामने के अँधेरे में धँसता ही चला गया था।

फोन वह नहीं करना चाहती थी—कर बैठी यह बात दूसरी है। जाने के पूर्व बातें करना चाहती है—किन्तु कैसी बातें ?? दुहराया कुछ जाता नहीं, और आज को कल से सूत्रित भले ही कर दिया जाए किन्तु उसकी संज्ञा नहीं बदली जा सकती।

दोनों को बोलना खोजना पड़ रहा था—क्योंकि बोलना चुक चुका था, और अब जो कुछ भी बोलना होगा वह मात्र सौजन्य का ही निभाव होगा। पूछा कि—पारुल कल और आज क्या रोयी है ? गुड़हल सी आँखें लिये उसे उठ जाना पड़ा। क्या यही पूछने को वे रुके ? अब कहते हैं कि पारुल स्वयं के साथ ही छल नहीं कर रही है वरन् पटल एवं विपिन के साथ भी। उसका पारुल के पास कोई उत्तर नहीं, जाइए विपिन बाबू ! जहाँ छल न हो, जहाँ जीवन की सङ्गति दिखे। पारुल क्या दे सकती थी—प्रयोजनहीनता ही न ??

हथेलियों में अंजुली लेते हुये विपिनबाबू के हाथों ने क्या कुछ न कह दिया—परस्पर की अँजुलियाँ ही प्रतिगति हैं, प्रतिनियति हैं पारुल !!

—नहीं विपिन बाबू ! सो नहीं होने का, सुनिए—

हथेलियों के स्पर्शभरी अँजुलियों को शेष लिए पारुल फूट पड़ी।

सेतुहीन समय के दोनों ओर, वे—

कवि-प्रिया

मालती परुलकर

२० वर्ष के बाद मैं अपने को मौन न रख पाई। उनके प्रश्न में भरी विरक्ति के तीखेपन पर मैं रो पड़ी। पानी बरसने के बाद आकाश निरभ्र होता है। यदि वे पहले बरस जाते तो बरसों तक ऐसी मूक-घुटन मुझे सहनी न पड़ती।

मेरा विवाह ७ साल की कच्ची अबोध उम्र में हुआ था। वे मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे!...वे बातें अब बड़ी दूर दूर बीती हुई सी दिखती हैं। तब से हमारे जीवन साथ साथ बह रहे हैं। ममता के स्निग्ध धागों से बँधे हुए हैं। दिखाई दें-ऐसे संघर्ष नहीं है, असंतोष नहीं है। पिछले १२ सालों में मैं तीन शिशुओं का माँ बनी! वैवाहिक सुख की परिपूर्ति बच्चों द्वारा होती है, ऐसा कहा जाता है किन्तु मुझे मालूम नहीं कि यह कहाँ तक सत्य है? मेरी और उनकी निकटता का माध्यम शारीरिक आकर्षण था। उनके श्वासों में मेरे श्वास गुँथे—किन्तु हमारी वेदनाएं मौन नहीं—बिल्कुल मौन! मैं उनसे और वे मुझसे अपनी अपूर्णता के घाव छिपाते रहे, यही सोचकर कि हम एक दूसरे को समझ न सकेंगे।

वे लेखक हैं—कवि हैं—मैं उनके गौरव से गौरवान्वित होती हूँ—अल्हड़पन की आयु में भी होती थी! उनके गौरव ने ही मुझे अबोली किया—मौन किया! मुझे मेरी शिक्षाहीनता महसूस होने लगी— और मेरी शब्दहीनता उन्हें मेरी भावहीनता—व्यक्तित्वशून्यता लगने लगी! उनकी आँखें अपने लिए एक भावपूर्ण व्यक्तित्वमयी 'मीत' (यह उन्हीं की कविताओं का शब्द है) खोजने लगी—दिन के पीछे दिन—और वर्ष के पीछे वर्ष बीतते चले गये।

विवाह के बाद भी ६ साल तक मैं माँ के घर थी! दिवाली दशहरे के मौके पर मेरे ससुराल के एक संबंधी २०-२५ दिन के लिये मुझे उनके गाँव ले जाते थे।

वे माह भर के लिए नदी और अमराई से घिरे हमारे गाँव आते थे तो दिन भर खेत खलिहानों में घूमते थे! मेरी सहेलियाँ—पड़ोस की स्त्रियाँ उन्हें मेरे नाम से, मुझे उनके नाम से चिढ़ाने लगी, तब हमें आपस में आत्मीयता का एक अखंड खिंचाव

सर्वप्रथम अनुभव हुआ था ! उस वक्त वे अंग्रेजी के पहले दूसरे दर्जे में होंगें ! मुझे और माँ को वे अंग्रेजी ऐसी शान से बताते थे कि क्या कहूँ !

मौका पाकर वे सदैव ही मुझसे कहते थे, "दादा, अम्मा सब लोग कहते हैं, तुम मेरी दुलहन हो ! you are my wife ! हाँ ! अंग्रेजी में वाइफ कहते हैं ।"

मुझे इसका प्रणयरम्य अर्थ उन दिनों कहाँ मालूम था ? किन्तु फिर भी मैं लज्जा में डूब जाती थी......और बड़ी स्त्रियों के माफिक घूँघट ओढ़ लेती थी ।

शैशव के वे भोलेभाले दिन—कौमार्य के अधखिले कमल के कम्पन जैसे वे माह बीतें जा रहे थे ! हरसाल मैं उनकी राह देखती थी ! हरसाल वे एक दर्जा पास करके ऊपरी दर्जे का ज्ञान पाते थे ! अंग्रेजी बोलते थे—देश विदेश की बातें जानते थे । फायनल होने पर वे आगरा चले गये—शहर में पढ़ने के लिये !—मुझसे दूर, मेरी देहाती आँखों से दूर !

उस गर्मियों में वे गाँव आये तो सरल कहानियों की किताबें तथा प्रेमचन्द के उपन्यास लाकर दे गये । मुझे पढ़ने में रूचि उत्पन्न हुई । गाँव की स्त्रियाँ को—जो घाट पर जाते वक्त मुझे पढ़ती देखती थीं—मेरे ये मर्द जैसे लक्षण पसन्द नहीं थे ! किन्तु उनका आदेश था और प्रेमचन्द की देहाती जीवन वाली कहानियाँ बड़ी रोचक थी ।

तब भी मेरी संवेदना शक्ति बहुत पैनी थी । शब्दों के अर्थ मैं ठीक से समझ नहीं सकती थी पर भावों की रसात्मकता मेरे मन को पकड़ लेती थी ।

उन्हें स्कूल छोड़ने में एक ही वर्ष की देर थी ! मैं बड़ी हो रही थी ! मेरा गोरा रंग—सघन केश मुझे ही प्यारे लगने लगे थे । पाँवों में मेंहदी लगती थी तो मेरी आँखें उन्हें देखने को विकल हो उठती थी ! वे मुझसे कोसों दूर थे पर उनकी याद आते ही भीनी भीनी लाज मुझे चहुँओर से घेर लेती थी ।

अंतिम बार गर्मियों में वे आये तो मुझे उनके साथ अकेले घूमने में संकोच होने लगा । मैं घर में ही सिमट सिमट कर बैठी रहती थी ! उन्हें भी शायद संकोच होता था । वे सुबह दुपहर उस मिट्टी के घर के मझले कमरे में चटाई पर लेटे लेटे मासिक पत्रिकाएँ या किताबें पढ़ते रहते थे ।

एकादशी थी, माँ घाट पर गई थी ! बाहर का फाटक भी सावधानी से बन्द किया था —ताकि सूखने डाले हुये पापड़ सुरक्षित रहें ।

मुझे भान हुआ—मैं उनके साथ अकेली हूँ । बिल्कुल अकेली । वे शायद यह अवसर खोज ही रहे थे ! उन्होंने रसोई घर के द्वार पर आकर पुकारा "लक्ष्मी !"

मेरी छाती धड़कने लगी। घूँघट खींच लिया। निश्वास समेटे भविष्य की अनजानी अनसुनी बातों की प्रतीक्षा करने लगी!

वे पास आये—बिल्कुल मेरे पास......तब मेरी आयु चौदह से अधिक नहीं थी। परन्तु उनकी निकटता में मैंने रोम रोम में मधुर झन्कार पाये। वाणी का विस्तार मेरे लिये अपरिचित था, शब्दों का आदान-प्रदान विशेष नहीं हुआ। उन्होंने मादक आवेग से मुझे हृदय से लगा लिया—एक बार नहीं, दो तीन बार! किन्तु मैं अपनी लज्जा में, अनहोनी मादकता में खोई खड़ी थी। मैं उन्हें चूम न सकी—उनसे प्रणय भरे प्रश्नों के प्रत्युत्तर नहीं दे पाई। उनका आवेग कम हो गया! चेहरे पर शायद ग्लानि आ गई होगी—इस पहली मधुर घटना में भी मैंने उनके स्वप्न खंडित किये। उन्होंने मुझे गलत समझा—मेरे सुन्दर मुख और भावशून्य हृदय की, असंगति ने उनके कवि-मन पर न दिखाने वाला—मूक घाव किया।

वे उन दिनों कविताएँ लिखने लगे थे! स्कूल की पत्रिकाओं में, वे निकलती थी। प्रेमचन्द के उपन्यास मैं जरूर समझ लेती थी, पर उनकी कविताएँ मेरे लिये दुर्बोध थीं।

सावन शुरू होते ही वे मुझे ससुराल ले गये। मैं वहीं रहने लगी—(अब वे कालेज जाने लगे थे।) वे आगरा चले गये मायके में थी तब मेरे व्यवहारों पर बन्धन नहीं था—ससुराल में आने पर अपमान से—व्यङ्ग से मैं घुटने लगी! कभी कोने में या खिड़की की मुंडेर पर कचरा रह जाता था—कभी चावल अधिक चुर जाते थे, तो कभी दाल नीचे जल जाती थी। हर काम में कोई न कोई दोष निकलता था जो सास की तथा ईर्षालु पड़ोसिनियों की नजर से चूकना मुश्किल था। परिणाम यह हुआ कि मेरा चित्त चौबीसों घंटे सशंकित रहने लगा—मेरी चाल का, वाणी का, व्यवहार का, सौंदर्य नष्ट होने लगा। मेरा मन भावी आशंका से कांपने लगा कि अनपढ़ सास का प्रसन्न करूँ, इतनी चतुरता और दक्षता यदि मुझ में नहीं है, फिर भला उन्हें कैसे संतुष्ट करूँगी?

दीवाली की छुट्टियों में वे आये तो घर में प्रसन्नता छा गई! सास ने मेरी कार्यहीनता की बातें बढ़ा चढ़ा कर कहीं, किन्तु वे चुप थे। उस घर में वे ही मुझे अपने लगते थे, उन्हीं से मैं बचपन से परिचित थी—मुझे भय हुआ कि वे अवसर पाकर मुझे डाटेंगे! रात को उनके कमरे में जाने लगी तो मेरा गला रुँधा हुआ था......

मेरे जाते ही उन्होंने साँकल लगा ली! पास आये, बोले, "सुबह से तुम्हें अकेले पाने का अवसर ढूँढ़ रहा हूँ! लक्ष्मी! घूँघट खोलो! ओह! शर्मा रही हो!—

यह देख लक्ष्मी, क्या लाया हूँ—इसे पहन ले फिर बोल......लक्ष्मी !"—और फिर उन्होंने मुझे चूम लिया !

मैंने देखा ५ गज की मुलायम फूल कढ़ी हुई सफेद साड़ी थी—साथ में छोटे घेर का लहँगा था ! उन दिनों देहाती वातावरण में—सास के राज्य में घाघरा पहनना पड़ता था—साड़ी कभी पहनी नहीं थी ! सुबह सास को नहीं दिखाई देनी चाहिये वर्ना उन्हें मेरे ये लाड़ प्यार पसन्द नहीं आते ! मैं हिचकिचाने लगी किन्तु वे माने नहीं—

मैंने अप्रत्याशित लाड़ से प्रसन्न होकर साड़ी पहन ली। शरीर को चिमटी-चिपटी सी लग रही थी...मैं लड़खड़ाती वैसी ही खड़ी रही ! उन्होंने मुझे देखने बत्ती बड़ी की। निमिषमात्र के लिये मेरी आँखें उनसे मिल गई। हिलती लालटेन के प्रकाश में मैंने देखा, मुझे देखकर उनके मुख पर निराशा की लहर फैल गई थी ! बड़ी बेढंगी तरह से मैंने साड़ी पहनी थी। उनके स्वप्न पर यह नया आघात था। वे सोचते थे कि पांच गज की साड़ी पहनकर मैं भी वैसी ही दिखूँगी जैसी शहर की शिक्षित सुन्दर स्त्रियाँ दिखती है ! मेरा मन अपनी विवशता में ही डूबने उतराने लगा। उन्होंने २०-२२ साल के हमारे इस वैवाहिक जीवन में मेरे प्रति कभी स्पष्ट घृणा व्यक्त नहीं की—तब भी उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा था, "तुम्हें शहर ले जाना होगा, तब कहीं पहनना ओढ़ना, बैठना बोलना सीखोगी......"

अट्ठारह वर्ष के लड़के की अपेक्षा उनकी बातें प्रौढ़ थी ! वाणी गम्भीर और व्यवहार मर्यादित—किन्तु हृदय में तूफान था—ज्वार था जिसे मैंने बचपन से जाना समझा था किन्तु दुर्भाग्यवश कल तक मैं व्यक्त नहीं कर सकी थी !

मायके में थी तब मेरी अभिव्यक्ति पहले लज्जा के कारण मौन थी, ससुराल में आने पर हीनभाव के कारण सूख गई थी। पिछले बारह सालों में उनकी आँखों में भी करुणा देख कर मेरे शब्द मर जाते थे। मेरे व्यवहार में न स्त्री की श्रृंगारिक लाज रही, न मुक्त वातावरण में पड़े बनफूल की क्रीडा सुलभता ही ! संक्षेप में—उनके कवि-हृदय की रूपलालसा को संतुष्ट कर पाऊँ ऐसा एक भी गुण मेरे पास नहीं था। वे जब जब प्रेम की बाढ़ में या वासना की आँधी में मेरे निकट आये होंगे मेरी यह व्यक्तित्वशून्य कुरूपता ही दिखी होगी !

सोलह साल की अवस्था से वैवाहिक जीवन का रहस्य भेद जान लेने के कारण उन्हें शरीर के लिये शरीर का आकर्षण उतना नहीं था जितना किसी दूर के मीत के मन का था ! (ये भी उन्हीं की कविताओं में के शब्द हैं) यह कह देने पर फिर यह कहना शायद विरोधात्मक प्रतीत होगा कि फिर भी २० वर्ष तक यही शरीर

है—इसी शरीर के अंश तीन शिशु हैं, जिन्होंने हमारे जीवन को छिन्न भिन्न नहीं किया !

अब मैं कविताएँ समझने लगी हूँ—यद्यपि बहुत गम्भीर ऊँची काव्यरचना आज भी मेरे लिये दुर्बोध है ! परन्तु भरी जवानी में मैं उनके शब्दों के अर्थ समझ न पाई । मन की गुँथी हुई भावधारा में सुलझा न सकी ! मैंने उनकी कविताओं से नहीं—उनकी आँखों से उनकी प्रेरणा के स्रोत पाये—आज भी उन्हीं स्रोतों की स्मृति मुझे खाये डालती है । उनकी पुरानी किताबें पढ़ती हूँ—कविताएँ देखती हूँ तो मेरे अनुमानों में कितना सत्य ओतप्रोत था यह महसूस कर, हृदय विद्रोह की गर्मी में जलने लगता है । आजकल मैं उन दिनों की अपेक्षा उनसे अधिक बोलती हूँ । मैं उनके साथ बाहर भी जाती हूँ किन्तु बीती बातों को लेकर विवाद करने की कल्पना मुझे कल तक कम्पित करती थी । कल मैं बोल उठी । मेरा विद्रोही मन बोल उठा ! कैसे बोल उठी यह मुझे भी अचरज है ।

मेरा भरा भरा सा-घहराती नदी-सा प्यार उन्होंने नहीं जाना ! मेरी मूक विवशता उनसे छिपी रही ! मेरे उर की यह अपार सौंदर्य संवेदनशीलता वे देख नहीं पाये ! उन्होंने किसी और की रूपतृष्णा के विह्वलता भरे गीत गाये—कल तक गा रहे थे...मुझसे यह नहीं सहा जाता ! सालों पहले भी, मैं उनके कंधों को हिलाकर पूछना चाहती थी, कि उन्होंने मेरा मन नहीं देखा ? क्यों मेरी शय्या पर सोते-सोते किसी दूसरी नारी का स्मरण किया ? क्यों हृदय में उस 'मीत' का रूप छिपाकर मेरे अधर चूमे ? किन्तु इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति मैं कभी कर नहीं पाई थी।... मुझी में दोष होगा ! उन्होंने मुझे कभी कठोर शब्द तक नहीं कहा ! मेरी सेवा सुश्रूषा में कमी नहीं की ! वे मुझे छोड़कर और किसी को क्यों चाहते यदि मेरे द्वार उनकी कवि-तृष्णा तृप्त होती !

गौरी भी तो मेरी जैसी ही ग्रामीण थी ! बचपन से वे उसे जानते थे किन्तु समझ आने पर वे उसके साथ बोले बैठे तक नहीं । उससे दूर रहते आये किन्तु गीतों में उसी का रूप अमर किया ! मैं जानती हूँ—वे माँ के घर आते थे—मुझसे हँसते बोलते थे—पर मेरे रूप में वह मोहिनी नहीं थी जो उन्हें, गौरी से—उसकी चतुर मुक्त वाणी से, मुखड़े पर के भोले भाव से रूखे केशों में छिपे सौन्दर्य से—पराभूत कर सके ! गौरी की चाल-ढाल में सङ्गीत था यह मैं स्त्री होकर जानती हूँ, भला उसका जादू उन पर कैसे न होगा ? उन्हें इस क्षण तक यह नहीं मालूम है कि गौरी के प्रति उनके मूक आकर्षण को मैं जानती हूँ ! मुझमें उनकी आँखों से—उनके

छोटे-छोटे व्यवहार से उनका हृदय पढ़ने की सम्वेदकता बचपन से ही है !—मैंने अनुभव किया था पहले भी, पर इस सूक्ष्म जटिल अनुभूति को क्या, और कैसे व्यक्त करती—उन्होंने व्यवहार की मर्यादा का कभी उल्लङ्घन नहीं किया था......।

उन्होंने गौरी के नहीं, हर आकर्षक स्त्री के गीत गाये...नौकरी मिल जाने पर वे मुझे लेकर शहर आये ! मेरी फुफेरी बहन मुझसे मिलने तथा लखनऊ शहर देखने आई थी ! वह देहली में कालेज जाती थी ! उसका रूप साधारण था, बुद्धि तीव्र न थी पर साहित्य में रुचि रखती थी—बोलना बैठना जानती थी ! मेरे पास उसने 'उनकी' जी भर प्रशंसा की ! प्रतिभाशाली पति को पाने वाले मेरे भाग्य की सराहना की ! उसने उनकी काव्यशैली पर, किताबों पर उनसे बातें भी की किन्तु उन्होंने उचटते उचटते प्रत्युत्तर दिये और बाहर निकल गये ! मैं भीतर रोटी सेंक रही थी परन्तु उन उचटते प्रत्युत्तरों के पीछे छिपा अन्तर्द्वन्द देखकर मुझे, उनके और अपने भाग्य पर करुणा आ रही थी। वे वासन्ती के सुशिक्षित व्यवहार से प्रभावित हुए थे—आकर्षण का अनुभव कर रहे थे किन्तु उसी वक्त उससे छुटकारा पाना चाहते थे—यह जानकर कि उनके पावों में मेरी और मेरे शिशुओं की जंजीर है। बचपन से ही मुझे छोड़कर और किसी को चाहने का अधिकार वे खो चुके हैं !......

उनका वासन्ती के साथ अंतिम दिन तक बेगाना व्यवहार रहा परन्तु कविताओं में आत्मीयता की बाढ़ आकर वेग से छा गई ! वह चली गई थी किन्तु हफ़्ते-दो हफ़्ते ये विवश तल्लीनता में छटपटा रहे थे ! वासन्ती अब दो पुत्रियों की माँ बन चुकी है ! शायद उसे इनकी कविताएँ पढ़ने के लिए अवसर भी न मिलता होगा ! हो सकता है इस बीच में इनके मन को अनेकों अलग-अलग स्त्रियों ने प्रभावित किया होगा—परन्तु मैं वासन्ती को भूल नहीं सकती—मैं वे दो तीन हफ़्ते भूल नहीं सकती—जब मेरी शय्या पर—मुझे ही चूमकर—करवट बदलने पर वे वासन्ती की छोटी-मोटी स्मृतियों में डूबकर अर्धजाग्रत अवस्था में रातें काटते थे।

आर्थिक दृष्टि से जब ये स्वतन्त्र हो गये और सास की मृत्यु से जब रूढ़ि-बंधन ढीले पड़ गये तो इन्होंने मुझे लेडी-टीचर रखकर पढ़ाना प्रारम्भ किया ! मेरी संवेदनशील कुशाग्र बुद्धि ने बहुत जल्द पाठ ग्रहण किये ! किन्तु ग्रहणशक्ति की यह तीव्रता भावों की संवेदकता के साथ है यह बात वे समझ न सके !

.........उनकी कविताओं के शब्दार्थ अब खुल खुल कर सम्मुख आने लगे। उस वक्त तक जो बातें मैंने स्त्रीसुलभ प्रेरणा से जानी थी अब मैं अक्षरों में पढ़ने लगी। हर पन्ने पर तृष्णा के गीत ! हर पन्ने पर किसी की आहट के—क्षणिक

मिलन के—और चिरव्यापी विरह के गीत ! उन पन्नों में—उन उच्छ्वासों में मेरे और उनके जीवन का विडम्बन समाया था......

दैनिक जीवन की छोटी छोटी तरंगों का विश्लेषण करने जाती हूँ तो मानवीय मनोभावों की विचित्रता पर विस्मय होता है। दिन भर में मन ही मन कुढ़ती थी—लड़ने झगड़ने की तीव्र इच्छा होती थी पर रात को न जाने मेरा मन कैसे संतोष पा लेता था ! उनके बाहुओं के बन्धन में मेरी घुटन और चीत्कार एक अधिकारात्मक अहंकार में मिट जाते थे ! और लड़ने झगड़ने की अपेक्षा—उनके वासना के छोटे से छोटे संकेत पर मैं अपने को निछावर कर देती थी !—फिर वे भी कैसे यह जान पाते कि मेरा निष्ठा भरा प्यार कभी दोहराया नहीं गया—मैं भी उतनी ही प्यासी हूँ जितने वे......

किन्तु कल मैं आवेग में चीख उठी ! वे मेरे सजल भाववाणी का सौंदर्य देखकर पहले विस्मित—बाद में द्रवित और अन्त में नत हो गये।

उनकी नई किताब निकली थी। तीन दिन पहले वे मुझे पढ़ने के लिये कह गये थे। उपर चित्र था नूपुर पहने सुन्दर पगों का और उस पर नत किसी के मस्तक का।—मैंने उसे खोला तक नहीं। मुझे उनकी किताबें पढ़ने में भय होता है ! खास तौर से प्रेम की चर्चा वे बड़ी प्रवाही गति में करते हैं। प्रेमी मन के असंख्य पहलुओं का—क्लिष्ट व्यापारों का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिकता से करते हैं किन्तु इन सब में उमड़ता है उनका प्यासा और प्रेमी मन ! उनकी एक एक घटना के पीछे सत्य जीवन के पात्र या घटनाओं का थोड़ा न थोड़ा अंश रहता है !—मैं अपने अवांछित अनुभवों को उन्हीं के द्वारा इस तरह सजीव और सुडौल होते देख नहीं सकती ! मुझे उनकी हर किताब से—हर रचना से भय होता था !

वे घर में आये। बच्चे बाहर गये थे। छोटा नन्हा बालक मंदिर में। उनकी किताब वैसी ही पड़ी थी ! वे भेदक परन्तु घनी ग्लानि—और विरक्ति भरे शब्दों में बोले, "नहीं पढ़ी ? अच्छा हुआ ! पढ़ कर भी क्या जानोगी ? जानना होता तो बहुत कुछ पहले ही जान बूझ लेती ! साहित्य हृदय से समझा जाता है—भावशून्य पत्थरों से नहीं !"

—मेरे ओठ काँपने लगे ! वे मेरी ओर देखने को भी तैयार नहीं थे ! दूसरी ओर देखकर विरक्ति भरे स्वर में मेरे हृदय पर आघात कर रहे थे। आज तक उन्होंने कभी ऐसा कहा न था। शायद इसलिए कि तब उन्हें वह मेरी शिक्षाहीनता का परिणाम लगता था। मेरी पढ़ाई देखकर अब उन्होंने मुझ से आशा बांधी थी...

मैंने स्वर को संयत किया और प्रत्युत्तर दिया—"मैं भावशून्य पत्थर हूँ इसलिए बीस वर्ष तक जलती रही....मैं आप की रचनाओं से भय खाती हूँ...मुझे डर लगता है...मैं बिल्कुल न पढ़ूँगी, आप चाहे जो कह लें !...

सम्पूर्ण चेष्टा करने पर भी मेरी आवाज फिर काँपने लगी ! कंठ रुद्ध हुआ ! मैंने भी जिन्दगी में पहली बार इस तरह प्रत्युत्तर दिया था ! वे सोफे पर लेटे थे, अब सँवर कर बैठे, पूछा "भय खाती हो ? वह भी मुझसे नहीं ! मेरी रचनाओं से ? क्या कारण है लक्ष्मी ?"

"क्या कारण है ? क्या कारण है ? आप मुझसे ही पूछ रहे हैं ?—बीस वर्ष तक आप को प्रसन्न न कर पाई, न मैं संतुष्ट हो पाई...यही विडम्बना आप की किताबों में साकार है—स्पष्ट है ! आप की निष्ठा प्यासी रही और मेरे भी इस एकांगी प्यार का सम्मान नहीं हुआ। आप ने मेरा शरीर देखा—मन नहीं । मेरी प्यासी सूखी साध नहीं...मैं पत्थर हूँ...आप कवि हैं...लेखक हैं...कलाकार हैं...।"

मैंने सिर घुटनों में छिपा लिया ! वे आश्चर्य से विमूढ़ होकर वहीं बैठे थे ! जब मैं ठहर गई तो वे होश में आये। आँखों से झरने वाले आँसुओं को पोंछकर मेरे पास नीचे जाजम पर बैठ गये ! यों बैठे बैठे आज तक मुझे कभी बाँहों में नहीं भरा था। फिर बोले—

"लक्ष्मी ! लक्ष्मी। मैं पत्थर था...पत्थर हूँ ! मैंने तुम्हारा यह सजल भावभीगा रूप नहीं देखा था। क्यों नहीं तुमने प्राणों में प्रवेश करने दिया ? लक्ष्मी ! मुझ पर विश्वास करती हो न ? रोओ नहीं...रोओ नहीं लक्ष्मी ! कहो...मुझ पर विश्वास करो लक्ष्मी ! प्यार के साथ सघन विश्वास भी रहता है..."

"हूँ !"

—उन्होंने मेरे कंधों पर मस्तक रख दिया। वैसा ही जैसा बच्चा माँ को बहलाने के लिये लाड़ करता है ! "मैं ऐसे ही भरे भरे प्यार का प्यासा था लक्ष्मी ! मैंने गीत गाये प्रेम के...मुझे लगा जैसे कोई संपूर्ण तनमन के साथ भक्ति, निष्ठा, प्रेम प्रणय मुझे समर्पित करने बैठा है, मैंने मन की ऐसी ही काल्पनिक नारी के गीत गाये ! प्यास सत्य है, लक्ष्मी पर उनमें का रूप, मन की कल्पना है—किसी को मैंने प्यार नहीं किया। किसी को मैंने नहीं चाहा लक्ष्मी !—वह मेरे मन का मीत मुझे आज यहाँ मिला, मेरी लक्ष्मी में। लक्ष्मी, मैंने तुम्हारे ही गीत गाये ! अनजाने में भी तुम्हारे ही आसपास मेरी प्यास मँडराई—क्यों नहीं तभी तुमने अपने प्राणों का मधु दिया ? वे गीत तुम्हारे हैं लक्ष्मी, तुम हो उसमें ! सिर्फ तुम्हीं !"

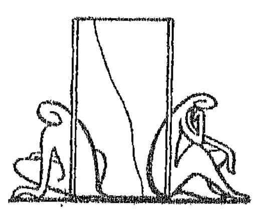
—और फिर देरी तक वे मस्तक मेरी गोद में रख कर पड़े रहे ! मैं बैठे बैठे

उनके मस्तक पर हाथ फेर रही थी। उन्होंने पूछा ...'अब भी मेरी रचनाओं से भय खाओगी ?'

मेरी आँखों में आँसू भर आये...मैंने प्रत्युत्तर नहीं दिया! वे सोचते रहे, कि भावनावेश के कारण मैं मौन रही। किन्तु मेरे आँसुओं में, भरे हुये घाव की दुखद निशानी थी। कैसी भोली सुविधापूर्ण आत्मवंचना में वे डूबकर निश्चिन्त होकर मेरी गोद में सोये थे। वे गोरी को भूल गये थे, वासंती को भूल गये थे...सहपाठिनी कवियित्रियों को भूल गये थे ...आजतक जिन जिन से प्रेरणा पाकर गीत लिखते थे उनको वे भूल गये थे। क्योंकि उन्हें चाहिये था वैसा व्यक्तित्व जो उन्हें अब मुझमें मिला था और---इसलिए कि सामाजिक एवं वैयक्तिक मर्यादा-बन्धनों के कारण अन्य स्त्रियों से इन्हें प्यार न मिल सका था।

किन्तु भूलने दो! जो बीता सो बीतने दो। वे भोले शिशु के मुख से आँखें मूँद कर लेटे थे। मैंने उनके केशों को सँवारा---थपथपाया!

---सामने सोफे पर वह नई किताब फड़फड़ा रही थी!---मेरा जी फिर काँप उठा। हो सकता है उनमें भी विगत घटनाओं का उल्लेख हो। वे भूल गये थे! मैं कैसे पूछूँ? मैंने इसे आलमारी के नीचे खिसका दिया। मैं उसे नहीं देखूँगी।---वे मेरे हैं, मेरे रहेंगे; पर उनकी रचनाओं से भय होता है! आज भी!



संख्या का निर्णय

राजेन्द्र किशोर

●

यह ठीक नहीं है। बिखरी लटों को सँभाल दिया गया।

ठीक है। पाउडर का 'पफ्' आज बेहद कामयाब लगता है। काजल की किनारी को महीन करते-करते कोर पर झुका देने से आँखें कमान बन जाती हैं। साड़ी के फुरहरे की चुन्नट झँझोर खाती लगे, तभी मन खिंचेगा।

ठीक है। आज उसकी मौत निश्चित है।

आज जनवरी की पच्चीस तारीख है। रेखा का जन्म आज ही हुआ था। सालगिरह के उत्सव का आयोजन है। यह आयोजन पिछले साल भी हुआ था और अगले साल भी होगा। रेखा विश्वास जब तक इस दुनिया में रहेगी, यह आयोजन होता ही रहेगा। मगर आज के इस आयोजन का अपना अलग महत्व है। आज की पच्चीस जनवरी को रेखा विश्वास पच्चीस की सीमा में पहुँच गई। यह आवश्यक भी है। उनका प्रत्येक साल किसी संख्या की सीमा में पहुँचना और फिर उसे पार कर जाना बहुत आवश्यक है।

नहीं, यह ठीक नहीं है। संख्या का जाल विभ्रम पैदा करता है। मूल्यांकन की प्रतिभा आहत हो जाती है। संख्या निर्णायक नहीं हो सकती। निर्णय का पक्ष दूसरा है।

ठीक है। निर्णय का पक्ष दूसरा है। निर्णय कर लिया गया। दिलीप इतना मूर्ख नहीं है। कलाकार है—रेखाओं के बाँकपन की अहमियत जानता है। दर्पण बोलता है, मन नहीं बोलेगा? और फिर दिलीप का मन सौंदर्य के तुलनात्मक मूल्य का आकलन करता रहा है।

डॉ० हर्षनाथ तो जड़ है, निरा मूर्ख! सब सबके लिए नहीं होते शायद। कोई होता है, जो आकलन की प्रतिभा रखता है, सौंदर्य की आड़ी तिरछी रेखाओं की बारीकी को सहज ही परख लेता है; वह एक दिलीप ही होता है शायद।

रेखा विश्वास नासमझ नहीं है, मगर रहस्य से अपरिचित है।

२

यह जो खोपड़ी है सामने......

हाँ, इस कपोल को भी किसी ने प्यार से दुलराया होगा। किसी ने इस पर ललचायी अँगुलियाँ फेरी होंगी। आँखों के ये जो गड्ढे हैं—यहाँ किसी दिन दृष्टि रही होगी, उस दृष्टि में रही होगी मानव की प्यास—अनन्त तृषा—जीवन के नए अनुभवों के लिए।

इस खोपड़ी में किसी दिन मस्तिष्क रहा होगा, जिसमें आई होंगी कितनी भावनाएँ, कितनी कल्पनाएँ, जिसे कितने सपनों ने बेचैन किया होगा।...आज क्या है? कुरूपता का पुँजीभूत आकार!

मुझे डर लग रहा है। यह चर्म का आवरण कितना क्षणस्थायी है। निशा सोंधी भी शायद ऐसी ही है। कल, बस, कल; और कल के बाद क्या होगा? दूर भविष्य में शरीर-विज्ञान का कोई विद्यार्थी इस पर हाथ फेर कर कहेगा—कम्बख़्त बला है? फिर, किसी अनजानी प्रेरणा से एक सिहरन-सी बदन में दौड़ जाएगी। संभव है, आज जिससे चाह पैदा होती है, कल उसी से जुगुप्सा पैदा हो!

हाँ, याद आ रहा है। निशा ने कहा था—'तुम मूर्ख हो।'

मैं मूर्ख हूँ? मैं चमड़े के रस से कुछ अधिक चाहता हूँ तो, मूर्ख हूँ? क्षण से आगे कदम रखना मूर्खता है? निशा जीवन के तल को क्यों नहीं छूती? चमड़े का आकर्षण माना अनिवार्य है, वह सत्य है, मगर वही तो सत्य नहीं है। शायद, सीमाओं का अपना उद्देश्य है, उनकी अपनी सार्थकता है। किन्तु सीमा तो अन्त नहीं है। वह केवल सीमा है, जिसके भीतर भी कुछ है, बाहर भी। निशा बाहर नहीं झाँकती, नहीं झाँकना चाहती, झाँकेगी भी नहीं। वह संकोच को प्यार करती है!

मुझे प्यार नहीं करती। और मैं!

कह दूँगा, निशा से जरूर कह दूँगा, दिलीप रस लेकर छोड़ देगा। मुझे रस ही नहीं, रस का उत्स भी चाहिये। निशा उस उत्स का उत्सर्ग क्यों करे? वह मात्र हड्डियों में क्यों रहे?

मैंने एक दिन निशा से कहा था—ह्रास के क्षण को सोचती हो, इसीलिए भागती हो, जहाँ-तहाँ आवास ढूँढ़ती फिरती हो, ह्रास के क्षण की भावी पीड़ा को वर्तमान के आवेशपूर्ण क्षणों से गला देना चाहती हो। गलेगा, गल जाएगा, जरूर गल जाएगा। मगर तब ह्रास का क्षण कितनी दूर होगा? भूल जाओ, इसीलिये ह्रास के भावी क्षण को भूल जाओ। मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ। मेरे लिये ह्रास कोई मानी नहीं रखता। कुछ नया आ जाता है, ह्रास का शून्य भर जाता है। बस, इसीलिए

अतीत का मोहक आकर्षण मेरे वर्तमान में अभाव बन कर नहीं आता। और देखो, तुम ही तो नहीं हो। तुम में मैं भी तो होऊँगा। मैं—तुम। हम दोनों ह्रास के क्षण के पहले सृजन की पीड़ा में खो जाएँगे।

मगर निशा को सृजन की पीड़ा आतङ्कित करती है। सृजन ह्रास की गति की ओर संकेत कर उठता है। निशा सोचती है, फिर भाग जाती है।

दिलीप के पास जैसे उसे आश्वासन मिल जाता है। मगर दिलीप निशा को प्यार नहीं करता। वह निशा के चित्रों से प्यार करता है—उसके मांसल शरीर की उत्तेजक रेखाओं से उसे प्यार है। वह इस प्यार को कला कहता है। सच, कला कितनी बारीक है! कला—इस खोपड़ी की कला, जो मेरे सामने पड़ी है, और जिससे मुझे डर लग रहा है। हे भगवान्, निशा को उसके चित्र मार डालेंगे।

निशा के चित्र। चर्म का आवरण। आवरण में छिपा हुआ कंकाल। निशा मर जाएगी।

दिलीप भी मर जाएगा। बस, खोपड़ी रह जाएगी। खोपड़ी से भय मालूम होगा। तब खोपड़ी भी नहीं रहेगी। केवल भय रह जाएगा।

उफ! निशा कितनी डरावनी है!

३

निशा ने कहा था—जीवन क्या है? कौन जाने। किसी ने जाना है? तब हम ही क्यों जानें? दो दिन का जीवन है अपना, उसकी आकांक्षाएँ हैं। उन्हीं में हम रहें। इधर-उधर क्यों भटकें? उन्हें तृप्त करें, तृप्त हो लें। आगे-पीछे से क्या लेना-देना है भला? दोनों पर अपना कोई वश है? अतीत हमारे रोके रुकेगा नहीं, भविष्य हमारे चलाए चलेगा नहीं। तब, वर्तमान को क्यों खो दें?

नहीं, वर्तमान को नहीं खोएँगे। वर्तमान में जितना रस है, निचोड़ लेंगे। एक-एक बिन्दु का उपयोग करेंगे, एक-एक क्षण का भोग करेंगे।

निशा सुन्दर है। सुन्दर से कुछ ज्यादा ही है। उसे चाहे बिना नहीं रहा जा सकता। उसके एक-एक अङ्ग में मधु है।

मधु मुझे अच्छा लगता है। और निशा का मधु!

रेखा भी सुन्दर है। उसके भी एक-एक अङ्ग में मधु है।

डॉ० हर्षनाथ पागल है। वह कुछ नहीं समझता। सौंदर्य में भीग जाने की शक्ति उसमें नहीं है। वह हमेशा ऊपर-ऊपर ही तैरता है। कितनी देर तैरेगा? एक दिन डूब जाएगा।

डॉ० हर्षनाथ डूब जाएगा? नहीं, नहीं डूबेगा। नहीं डूब सकता। डूबने की

शक्ति ही उसमें नहीं है। लेकिन...वह निशा को प्यार करता है। निशा के एक-एक अंग में मधु है। डॉ० हर्षनाथ को मधु अच्छा नहीं लगता। उसे मधु का उत्स प्यारा है। वह मधु के स्रष्टा की ओर भागेगा। वैज्ञानिक होकर रहस्य की ओर! बस, हर्षनाथ को रहस्य प्रिय है, क्योंकि वह उसकी व्याख्या कर सकता है!

निशा को रेखाओं में पिरो दूँ?

निशा रेखा की परिधि में नहीं आएगी। मगर रेखा में भी तो मधु है! और मधु मुझे कितना अच्छा लगता है!

रेखा ने एक दिन कहा था—तुम मुझे अच्छे लगते हो—बेहद। तुममें लय हो जाने को जी चाहता है।

लय अच्छी चीज है और रेखा में लय। कला इसीलिये अमर है। किन्तु लय यदि विलयन है तो ठीक नहीं; अलगाव अच्छा है। आकर्षण न रहा, तो सम्बन्ध नीरस हो जाएगा। और रेखा के उस कथन में प्यार अभिव्यक्ति पा गया है। नहीं, यह ठीक नहीं। प्यार का अभिव्यक्त हो जाना, व्यक्तित्व के आरोह-अवरोह का अन्त हो जाना है।

निशा का प्यार अभिव्यक्त नहीं होता। रस आस्वाद्य है, अभिव्यक्ति उसका धर्म नहीं। आस्वादन की अभिव्यक्ति कैसी? निशा सुन्दर है। बेहद सुन्दर है। उसके एक-एक अङ्ग में मधु है। मधु आस्वाद्य है। आस्वादन अभिव्यक्ति नहीं माँगता।

डा० हर्षनाथ मित्र न होता तो एलान कर देता—बुद्धू है!

४

डॉ० हर्षनाथ ने कहा—"सालगिरह मुबारक हो, रेखा जी!"

दिलीप ने कहा—"आप के जीवन का मधु अक्षय हो!"

निशा ने कहा—"आप खुश रहें। जीवन में कभी पराजित न हों।"

रेखा ने कहा—"धन्यवाद।"

चाय की चुस्की लेते हुये डॉ० हर्षनाथ ने छेड़ दिया—"आप निर्णय कर डालिये अब।"

रेखा ने सवाल किया—"काहे का?"

डॉ० हर्षनाथ ने तटस्थ स्वर में कहा—"ब्याह का।"

दिलीप ने निशा की ओर देखा, निशा ने डा० हर्षनाथ की ओर। रेखा को कोई जवाब न सूझ पड़ा।

डॉ० हर्षनाथ ने तीर छोड़ा—"भविष्य का निर्णय बड़ा कठोर होता है।"

रेखा ने टाल दिया ।

निशा ने उठाया—"कौन निर्णय करेगा ?"

डॉ० हर्षनाथ ने कहा—"दिलीप साहब !"

दिलीप ने जैसे कठोर हो आकर कहा—"मैं ? क्यों ? और आप ?"

डॉ० हर्षनाथ कहा—"मैं तटस्थ हूं । वैज्ञानिक हूं न, जानता हूँ कि संख्या मधु के स्वाद की निर्णायक होती है ।"

निशा ने भौंहों के बल सवाल किया—"संख्या ?"

डॉ० हर्षनाथ ने जवाब दिया—"जी हाँ ! काल ।"

दिलीप ने एक एक शब्द को तौलते हुए कहा—"काल संख्या से नहीं बँधेगा ।"

डॉ० हर्षनाथ ने कहा—"अतीत बँध गया है ।"

दिलीप ने टोका—"निर्णय वर्तमान को करना है !"

डॉ हर्षनाथ ने मुस्कराते हुए कहा—"जी हाँ ।" और तीखी निगाह रेखा की ओर फेंकी ।

रेखा ने विषय बदल दिया । इधर-उधर के मसलों पर अनचाहे भटकते रहे । फिर धीरे-धीरे लोग विदा लेने लगे । पहले निशा, फिर दिलीप और अंत में डॉ० हर्षनाथ ।

द्वार पर आकर डॉ० हर्षनाथ ने कहा—"देखिये, असल बात तो मैं भूल ही गया । आपके लिये एक बड़ा बढ़िया उपहार लाया हूँ । कार में रक्खा है । किसी आदमी से मँगवा लीजिये ।"

रेखा ने मुस्करा कर उपहार के लिये कृतज्ञता ज्ञापित की और बेयरा को हाँक लगाई ।

डॉ० हर्षनाथ चले गये ।

बेयरा एक छोटा-सा बक्स लाकर कमरे में रख गया । रेखा ने बड़ी उत्सुकता के साथ उसे खोला और भय से चीख उठी । उसमें चार खोपड़ियाँ पड़ी थीं । चारों पर एक-एक 'लेबिल' लगा था ।

रेखा ने साहस समेट कर खोपड़ियाँ निकालीं और पंक्तियों पर नजर डाली ।

खोपड़ी नं० १ :

नाम—ममता घोषाल । उम्र—तीस । विशेष—अपना ही मधु विष हो गया । अविवाहित । मौत का कारण—मिर्गी ।

खोपड़ी नं० २ :

नाम—अमर वर्मा । उम्र—छत्तीस । विशेष—रस की विभिन्नता

की खोज में भटकते-भटकते नीरस हो गया। अविवाहित।
मौत का कारण—क्षय।

खोपड़ी नं० ३ :

नाम –शेखर कपूर। उम्र—चालीस। विशेष- आत्मा और आध्यात्मिकता में विश्वास का रोग। रस की आवेशपूर्ण चाह सँजो कर भी रस के सम्पूर्ण आस्वादन की ओर से तटस्थ। जब ज्ञात हुआ, रस के पात्र के प्रति भय। अविवाहित। मौत का कारण—आत्महत्या।

रेखा ने काँपते हाथों से चौथी खोपड़ी उठाई, मगर पढ़ने का साहस नहीं हुआ। आँखें मूँदे बैठी रही। फिर एकाएक झटके के साथ उठी और टेलीफोन के पास जा खड़ी हुई।

मोड़

रमा सिंह

बहुत ही मोड़ पैना है
ज़रा रफ़्तार को धीमी करो
तब मोड़ना गाड़ी।

कहीं ऐसा न हो
उलटो यहाँ
सब लोग तुमको व्यर्थ में कह दें अनाड़ी

बहुत सम्भव है कहें यह भी
कि तुम खब्तुल-हवासी में चलाते थे
पिये ताड़ी।

इसी से सम्हल कर मोड़ो
ज़रा देखो
कहाँ खन्दक, कहाँ पर्वत, कहाँ खाड़ी!

रुद्र के रूप

अलबर्ट कृष्ण अली

कहा-सुनी, तू-तू—मैं-मैं, थुक्कम-फजीहत, गाली-गलौज, मार-पीट—ये द्वन्द्व समास हैं। शब्द-रूप में ये जो भी हों, क्रिया-रूप में इनमें सामासिकता का योग नहीं, विरोध का वियोग है। और, हमारी निश्चित धारणा है कि जैसे चपत, तमाचा, झापड़ में न केवल हाथ चलाने की क्रमशः कैशिकी, सात्वती और आरभटी वृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं, किन्तु साथ-साथ हाथ चलाने वाले का भूगोल, इतिहास और वजन भी गूंज उठता है, उसी प्रकार झगड़े के विभिन्न रूपों के पीछे सभ्यता और संस्कार की पेचीदी रासायनिक क्रियाओं का एक वृत्त-चक्र रहता है।

इसी दृष्टि से मैंने तीन कहानियाँ सुनायीं। सुनकर मेरे मित्रों ने क्या कहा, वह तो पीछे कहूँगा, आगे, यानी पहले कहानियाँ सुनाऊँ।

हमारी पहली कहानी की घटना का ग्राफ कुछ-बहुत आइन्स्टाइन की सीधी रेखा की परिभाषा की तरह टेढ़ा है। इसका संगीत-रूप फैयाज खाँ की ठुमरी जैसा है, यदि वे द्रुतलय में गा रहे हों। ताल का ठेका तो आप सुन सकते हैं, पर सम कहाँ और कब पड़ा वह अगम्य ही रहेगा।

पात्र—कोई भी दो भद्र पुरुष।
स्थान—कहीं भी सड़क पर।
समय—किसी भी समय, पर दिन हो।

कहानी फूहड़ देहाती औरत की तरह सभी गहनों और सिलवटों से भरी साड़ी में लदी-बदी जो निकल रही है, इसके लिए क्षमा करेंगे। डौल लगाना जो है। हाँ, तो एक भद्रपुरुष मस्ती में झूमता, सिगरेट की कशों में उतराता चला जा रहा है। आप की तबीयत आ गयी हो, तो कह लीजिए, चल क्या रहे हैं गोया सवारी निकली हो; सो भी किसकी? और यदि आप कल्पना करें कि छज्जे पर की तरुणियों के विस्फारित नयनों की लाली उन पर उतर आयी थी, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन अचानक एक झटका और आपकी फड़कती तबियत, और ठक् ठक् निकल

जाने वाली ऊँची एड़ी के जूते वाली वह तन्वंगी, और किसी गोप-बालक का मस्त बिरहा, और भद्रपुरुष की वह मस्त चाल...सब को क्या हो गया ? सारी सड़क सिमट कर ध्वनि में बदल गयी और वह ध्वनि यह थी—

'कल-परसों चूल्हे में जाय। बकाये रुपये दे दो, नहीं तो—नहीं—'

देखा आपने, उस भद्र-पुरुष ने गट्टा थाम लिया। भद्र-पुरुष का गट्टा,... बीच बाजार में,...दिन-दहाड़े...

यदि आप कल्पना करें कि भगवान् विष्णु को भृगु ने लात मार दी, महात्मा ईसा को रोमन शासकों ने पकड़ लिया,भगवान् बुद्ध को अंगुलिमाल ने धर-दबाया,...तो मैं आपकी कल्पनाओं के लिये आज के राजनीतक नेताओं से भी अधिक मदद देने को तैयार हूँ। समस्त प्रकृति निश्चेष्ट-सी, काल रुका—सा, दिक् सिमटा—सा और सड़क स्थिर—सी लगी। और उस स्थिति में जो स्थति भी नहीं, प्रवाह भी नहीं, जिसे अंधकार भी नहीं कह सकते, प्रकाश भी नहीं कह सकते एक ही शब्द-ब्रह्म स्पंदित सुनाई पड़ा...धोखेबाज़ ! दगाबाज़ ! लुच्चा !

ऐसे ही समय यदि प्रथम भद्रपुरुष का परिचित वह मनुष्य भी आ जाय जिसके सामने उसने अपने परिवार की समृद्धि की काल्पनिक रंगीनी दिखाई थी, अथवा टक्‌टक् निकल जाने वाली ऊँची एँड़ी के जूतेवाली वह तन्वंगी लौटती बार गुज़र जाय, तो क्या होगा यह मैं नहीं कहना चाहता। कहना मुझे यह है कि प्रथम भद्रपुरुष एक जीवित प्राणी है और कोफ्का, थार्नडाइक, कोल्हार, वाटसन, जेम्स आदि की उपलब्धियों के बावजूद वह कुछ ऐसी हरकतें करता है कि सारा विज्ञान सिर धुने। इसलिए जब दूसरे भद्रपुरुष ने लोभ-रोष और क्रोध का प्रदर्शन किया, तो पहले भद्रपुरुष ने भी क्रोध, मद, और उत्साह का परिचय दिया।

स्वाभाविक है कि बिरहा गाने वाला गोप-बालक और नागिन के गीत को मस्ती में झूम-झूम कर बीड़ी बनाने वाला उस्ताद, तीस तारीख के फूटे ढोल पीटने वाला मास्टर और 'अखबार में भी कोई सनसनीखेज बात नहीं' कहने वाला चिड़चिड़ा वकील, होटल वाला और पान वाला, रिक्शा वाला और टमटम वाला...दौड़ पड़े... यानी एक खासी भीड़ वहाँ तैयार हो गयी। यह भी स्वाभाविक है कि कुछ लोग प्रथम भद्रपुरुष के पक्ष के हो गये और कुछ दूसरे भद्रपुरुष के।

शास्त्रीय सङ्गीत में जिस प्रकार सबसे कम लुत्फ़ गीत में आता है, उससे ज्यादा लुत्फ़ गर्दन हिलाने में आता है और सबसे ज्यादा लुत्फ़ गायक की पैंतरेबाज़ी में आता है, उसी प्रकार यदि आप यह कहें कि इस झगड़े में सबसे कम लुत्फ़ दोनों के रोषपूर्ण वचन में है, उससे अधिक दोनों की प्रतिज्ञाओं में है जिनमें वे घोषणा

करते हैं कि सिर फोड़ दूँगा, टाँई नोच लूँगा, नाक दबोच लूँगा, गर्दन बकोट लूँगा, धड़ उड़ा दूँगा, वंश मिटा दूँगा और सब से अधिक लुत्फ़ उनके कवायदी ढङ्ग पर आगे बढ़ने गोया किला फतह करके ही छोड़ेंगे और फिर पीछे हटने में था, जहाँ अनेक लोगों के हाथों की किलेबंदी में पहुँच वे एक-दूसरे के खानदान का बखिया उधेड़ते। इस तीसरी हरकत में ही आनन्द की चरम सीमा थी।

किस्सा ख़ुलासा यह कि काफी हल्ला-हुड़दङ्ग के बाद जिसमें, यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि आकाश फटता-सा और पृथ्वी सिमटती-सी नजर आई और लगा कि प्रलय मचेगा, ताण्डव होगा, बम और उद्जन बम गिरेंगे...नहीं तो कम से कम एकाध लाश या टूटी हड्डी ही सही अवश्य गिरेगी, (कुछ क़तरे खून भी)...सारा झगड़ा असफल कहानी की नाँई बगैर चरम सीमा पर पहुँचे ही टाँय-टाँय फिस हो गया। इसकी उपमा के लिए आप चाहे जासूसी उपन्यास का प्रयोग कर लें, पर उससे न तो प्रतीक ही बनेगा और न नया प्रयोग ही होगा। इसलिए उसे छोड़िये।

मुझे इतना भर कह लेने दीजिये कि इस झगड़े के पाँच वर्ष बाद भी दोनों भद्रपुरुषों को लगता है कि जैसे उनके मन के अन्दर साँप लोट रहा है, दिमाग़ को सौ-सौ बिच्छू काट रहे हैं और दोनों यह सोचते हैं कि किसी उपाय से अलादीन का चिराग हासिल हो जाय, या कोई प्रेत सिद्ध हो जाय;—न सही,—काँग्रेस हो, कम्यू-निस्ट पार्टी हो, उन्हें मन्त्री-संत्री बना दे तो पहला काम दूसरे का खून उलीचना होगा—भीम की तरह छाती पर बैठ कर।

मेरी दूसरी कहानी का ग्राफ मुझ से बनता नहीं। इसलिए किसी से नहीं बन सकता। क्योंकि डा० लोलिम्बराज ने अपनी थीसिस 'बनना और न बनना' में लिखा है कि जो बन पड़ता है, वह सबसे बन पड़ने योग्य है। पर जो बना ही नहीं, वह कदापि बनने के योग्य नहीं।' यदि आप कहें कि नेपोलियन ने कहा था कि असम्भव मूर्खों के शब्द कोष में रहता है, तो मेरा निवेदन यह है कि नेपोलियन का युग मध्ययुग था और मध्ययुग में सामन्तशाही के कारण असम्भव मूर्खों के शब्दकोष में रहता हो, तो रहता हो। आज तो युग बदल गया है। हाँ, तो मेरी दूसरी कहानी का ग्राफ नहीं बनता। उसका सङ्गीत-रूप श्री ओंकारनाथ ठाकुर का दरबारी गायन-सा होगा, यदि वे विलम्बित में गा रहे हों।

चुनांचे कहानी में पात्र-परिचय, समय, स्थान आदि का जिक्र ऊपर ही देना, साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से बेजा हरकत है, इसलिए मैं कहानी ही शुरू कर दूँ। किस्सा यों है, कि चमाचम चमकती मोटर से उतर कर एक संभ्रांत पुरुष ड्योढ़ी पर

चढ़ा तो दूसरे संभ्रांत पुरुष ने प्रणाम किया। हीरे और नीलम की अंगूठियाँ जगमगा गईं। एक भव्यता, एक दीप्ति, एक प्रफुल्लता दोनों के चेहरों पर खेल रही थी।

'कैसे कष्ट किया?'—जैसे सारंगी बजी हो।

'हें, हें, योंही चला आया...हें हें, सोचा, पाँच महीने से कुछ बकाया है, सो मिल लूँ।'—जैसे तुलसीदास का चातक स्वाती के घन से याचना कर रहा हो।

'बकाया! आप का बकाया मेरे पास?'—सारंगी जैसे टूट गिरी हो।

'हाँ, वही जो होटल में रात को लिया था।'—चातक शायद कौआ हो गया था।

'मैंने लिया था?'

'उस वक्त आप फ्लश की बाजी में थे; कुछ नशे...'

'देखिये, मुझे और भी जरूरी काम है। आप कृपा कर जाइये। मैं कुछ धारता-वारता नहीं।'

अब यदि इफेक्ट के लिए यहाँ पर आप दो-चार निर्गुनिया गीत सुनना चाहें तो आपकी ख्वाहिश तो दुरुस्त है, पर चुनांचे मुझे कहने की पड़ी है, इसलिये मैं यही बतलाऊँगा कि दूसरे संभ्रांत सज्जन ने इस बकाया के बाद जो काम किया उसका विश्लेषण करें तो पी० एच० डी० की परिपाटी में कुछ इस प्रकार की उपलब्धियाँ होंगी —

'समस्त क्रियाओं को भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुसार दो शैलियों में परिणत करके देखेंगे—प्रथम प्रत्यक्ष शैली और द्वितीय परोक्ष शैली।

'प्रत्यक्ष शैली में दोनों आलोच्य व्यक्तियों की कृतियों—अरे, क्रियाओं—में गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अनुरूप फलासक्ति से पूर्ण मुक्ति देखी जा सकती है। यही क्यों, दोनों सज्जनों को स्थितप्रज्ञ भी कहा जा सकता है—अनासक्त, वीतरागी, निःस्पृह। इसके प्रमाण में यह द्रष्टव्य है कि दोनों में किसी ने अरुन्तुद शब्दावली, अथवा हिंसात्मक कार्य का आश्रय नहीं लिया। दोनों ने दूसरों को दंगल में भिड़ा कर अपना न्याय करवाना चाहा। दंगल की इस क्रिया, कर्त्ता और स्थान के नाम क्रमशः हैं मुकदमा, वकील और कचहरी।

परोक्ष शैली में दोनों आलोच्य सज्जनों ने जो कार्य किये वे लोमहर्षक और भयंकर हैं। प्रथम सज्जन ने दूसरे सज्जन के घर में आग लगवा दी। महाभारत में लाक्षागृह का अग्निकांड से इसका सम्बन्ध है। दूसरे सज्जन ने पहले सज्जन के यहाँ के दूध में विष मिलवा दिया। स्पष्ट ही विशाखकृत 'मुद्राराक्षस' के राक्षस से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। पहले सज्जन ने दूसरे के इकलौते बेटे को

मरवा डाला। 'अभिमन्यु वध' का स्पष्ट प्रभाव इस पर है। दूसरे ने पहले की पत्नी को भगा दिया। यहाँ रामायण का प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है।

हाँ, तो संक्षेप में किस्सा यह, दो पुश्त, तीन पीढ़ी गुजर गयी फिर भी संभ्रान्त सज्जनों का झगड़ा सुलझा नहीं; तीव्र से तीव्रतर होता गया। जैसे आधुनिक युग का वह महाकाव्य हो जिसमें प्लेटो पर प्लेटो, आरोह पर आरोह रहते हैं, कहीं ठहराव या अवरोह नहीं। दोनों परिवारों के बच्चे एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनके खून में यह सहज घृणा जैसे घुलमिल गयी हो।

और तीसरी कहानी? तीसरी कहानी का ग्राफ कुछ-बहुत गॉथिक आर्ट के मेहराब-सा होगया।

कहानी यों है कि एक आदमी वहाँ घास साफ कर रहा है। यहाँ उद्दीपन विभाव को आवश्यक समझें या अनावश्यक,समझें, पर प्रकृति-चित्रण के दो चार चुनिन्दे वाक्य यदि याद हों या हाथ के पास ही प्रसाद की कहानी हो या कोई रद्दी-सद्दी पत्रिका हो तो कुछ फड़कते दृश्य-चित्रण कीजिये। मुझे कोई एतराज नहीं। मुझे केवल यही कहना है कि एक दूसरा आदमी भी आता है।

इस दूसरे आदमी को यदि आप पाठक की संवेदना पर बिलकुल धावा बोल देने पर तुले हों,—तो ऐसा चित्रित कर सकते हैं कि उसका इकलौता बेटा मिल में अभी-अभी पिस गया है और वह छाती पीट-पीट कर आता है। इस कौशल को यदि आप बुर्जुआ कौशल समझते हों, तो आप को पूरा अधिकार है कि उसे आप जुल्मी फासिस्ट करार दें, उसके सिर पर सींगें उगा दें। लेकिन सच पूछिये तो मेरे इस दूसरे आदमी को इन सब से कतई मतलब नहीं। वह आता है और पहले आदमी से अपने बकाये रुपये माँगता है।

अब तक के शांत वातावरण में एक संक्षोभ होता है। चाहें, तो सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रथम स्पंदन तक से इसकी तुलना कर लें। पर मेरा लक्ष्य वह नहीं। मैं इतना ही कहूँगा कि दोनों आदमी कुछ तनते हैं, पहला लाचारी की वजह से और दूसरा अधिकार के कारण। दो चकमक पत्थरों पर रगड़ पड़ी हो, ऐसी गर्मी आती है। दोनों की जीभ चलने लगती है और आवाज़ सड़ियल ग्रामोफोन से उठती-उठती माइक की हो जाती है। इस उपमा से शृंगार की मिठास न मिले, तो कह लें कि प्रेयसी की पुचकार की ध्वनि धीरे-धीरे चार बच्चों की माता बनी गृहणी उर्फ चंडिके की हुँकार में बदल जाती है। इसे यदि आप दमित काम की कुण्ठा करार दें तो समझिये कि आवाज भिखमंगे की मंद कातर याचना से बदल कर नेता की दुहाई हो जाती है।

इसके बाद यदि तबीयत में आ जाय तो पहले आदमी की लड़की बीबी, बातूनी माँ और गाली-गलौज में पारंगत चाची और शाप देने में दुर्वासा को भी परास्त करने वाली सूखी टेढ़ी बुढ़िया दादी आदि की भीड़ इकट्ठी कर शब्द-चित्र का कोहराम खींच सकते हैं । लेकिन यहाँ याद रखना पड़ेगा कि शब्द-चित्र के वाक्य जरा लम्बे हों, छोटे और चुभते हुए कि प्रयोगवादी कविता समझ लिये जायेंगे । मेरी पूछिये, तो इनसे मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं, मुझे तो केवल यही कहना है कि दोनों आदमी फिर एकदम भिड़ गये । सरकार, जेलखाने, शिक्षा और संस्कृति और धर्म के रहते हुये भी दोनों अखाड़े के पट्ठों की तरह, साँड़ों की तरह, भैंसों की भाँति एक दूसरे से गुँथ गये । इनसे भी बिम्ब में फीकापन रह जाय, तो आप राम-रावण-युद्ध, जरासंध-भीम द्वन्द्व, सुर-असुर-संग्राम तक से मिलान कर लें और गाढ़े रंग से संतुष्ट होइये मुझे एतराज नहीं ।

मुझे तो अब इतना ही निवेदन करना है कि दो महीने बाद जब होली का त्योहार आया तो पहले आदमी ने दूसरे को नमस्ते किया और दूसरे आदमी ने पहले को गले लगाया और दोनों ने एक दूसरे को इस पुलक-स्नेह से चिपटा लिया कि जैसे दोनों ही ने अपनी उस सामान्य मनुष्यता को युगों के बाद पाया हो और जिसके बग़ैर अब तक वे बेचैन थे ।

इन्हीं तीनों कहानियों को सुन कर मेरे एक मित्र ने कहा, 'ये कहानियाँ नहीं, उनकी आत्माएँ हैं और आत्मा जैसे गधे, चींटी, हाथी और मनुष्य की एक है, वैसे ही आत्मरूप में अपनी बात कहानी में हो, निबन्ध में हो, एकांकी में हो, एक है ।'

दूसरे ने कहा—'लेकिन इस कहानी में नवजवान क्रोध, वृद्ध क्रोध, और बाल क्रोध की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता है ।'

तीसरे ने कहा—'उहूँ! इन्होंने क्रोध के तीन रूप जो दिये हैं वे वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र की क्रमशः जातिगत विशेषताएँ हैं।'

पहले मित्र ने इस पर ओंठ बिचका दिये । बोले—"यह बकवाद है । मैं इससे सहमत नहीं ।'

चौथे सज्जन सिगरेट फेंकते हुये धीमे से बोले, 'मैं तो समझता हूँ कि इसमें मध्यम वर्ग, संभ्रान्त वर्ग और निम्न वर्ग के संस्कार व्यंजित हैं जिनमें से पहले दो तो सभ्य भी कहे जाते हैं ।'पहले ने कहा—'फिजूल बात है', दूसरे मित्र बोले—'बिलकुल ऊटपटाँग ।'

और मैं वहाँ से टल गया कि कहीं तीनों रूप एक साथ ही न देखने पड़ें ।

एक्सपर्ट

मदन वात्स्यायन

महामहोपाध्याय श्री निशासूर्य चकचौंधा,
कि. तो. मै. आ. [किस्सा तोता मैना आचार्य], बे. प. वि. [बेताल पच्चीसी विशारद], सिं. ब. ती. [सिंहासन बत्तीसी तीर्थ],
टेकनिकल पुरोहित ।

ज्ञान का सारा प्रकाश अन्दर होने के कारण
उनका बाहरी रङ्ग भादों की अमावस्या सा साँवला था ।
परन्तु उनके बाल एकदम सफ़ेद थे,
मानों भादों के आकाश में कातिक के बादल हों ।

मस्तक के ज्ञान के भारी बोझ के कारण
उनके पाँव कुछ लँगड़ाते चलते थे ।
परन्तु उनका सिर बहुत छोटा था,
मानों ज्ञान उसमें पत्थर की तरह ठोस बनकर बैठा हुआ था ।

उनके मुख से लगातार विस्फोटक शब्द बरसते रहते थे,
मानों सायंस के कारण शक्तिमती सरस्वती
लक्ष्मी पर धुआँधार तोप छोड़ रही हों,
जिस लड़ाई का प्रभाव उनके अ-साफ़ कपड़ों में साफ लक्षित था
जिन्हें पहने वह पहले-पहल इस कारखाने में अवतरित हुये थे ।

उनका मोटा निचला ओंठ
मानों शब्दों के निरन्तर चलने से छिलकर लटका हुआ था ।
उनकी आँखें

मानों सूक्ष्म दृष्टि का मूर्त रूप होने के कारण
भौंहों के तले गढों में जल्दी दिखाई नहीं देती थीं।

जहाँ औरों की अक़्ल नहीं चलती थी
उस अँधेरे में उनकी आँखें और भी तीक्ष्ण थीं,
मानों वह सरस्वती का वह वाहन हों
जिसे उन्होंने लक्ष्मी पर विजय पाकर उनसे छीन लिया हो।
वह बहुत ही दुबले पतले थे,
मानों अग्नि के वाहन हों।
और आकार के छोटे थे,
मानों गणेश के वाहन हों।

वह खुले आम अपने को कम्युनिस्ट ऐलान करते।
अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वह सोवियत रूस के साथ थे,
राष्ट्रीय मामलों में पण्डित नेहरू के साथ थे,
प्रांतीय मामलों में अपने प्रांत के 'जन-सङ्घ' के साथ थे,
कारखाने के मामलों में जेनरल मैनेजर के साथ थे,
दूसरों के घर के मामलों में मार्क्स के साथ थे,
अपने घर के मामलों में मनु के साथ थे।
इन परस्पर विरोधी गुणों के एक साथ होने से हम उन्हें ब्रह्म कहा करते।

वह निःसङ्ग थे।
नास्तिक होने से, कोई प्रति-स्पर्द्धी नहीं रहने के कारण
वह अपना ही भजन करते।
('राम-नाम मणि-दीप धरु' वाले दोहे में 'राम' का अर्थ
वह 'राम-कहानी' वाला लेते।)
आधुनिकतम वैज्ञानिक ज्ञानों के लिए
उन्हें अपनी दिव्य दृष्टि का ही सहारा था,
किताबों या पत्र-पत्रिकाओं का नहीं।
बाग बागीचों से जंगल-मय,
फर्नीचरों से काठ-मय,
बिजली के सामानों से तप्त, एयर-कण्डिशनिङ्ग प्लाण्ट से शीतमय,

उनके तपस्या-गृह (ऑस्टैरिटी-टाइप बङ्गले) में
हम दो-चार नवयुवक टेकनीशियनों को
उनका दर्शन हुआ।

दूसरे कामों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण
वह मात्र घण्टे भर में ही
अपना संक्षिप्त चरित बता सके।
मत्स्यावतार में उन्होंने जमशेदपुर के बड़े कारखाने को डूबने से बचाया था,
कच्छपावतार में उन्हीं के कन्धों पर मन्दराचल द्वारा समुद्र-मन्थन से
फाइव इयर प्लान निकला था,
वाराह रूप में उन्होंने राजस्थान को पिछड़ेपन से निकाला
नरसिंह देह धर उन्होंने जर्मन इंजीनिअर डाक्टर दुत्त का पर्दाफ़ाश किया
वामनावतार में वह अमरीका और रूस की टेकनिकल दिग्विजय करते फिरे
परशुराम रूप में उन्होंने इक्कीस हड़तालें तोड़ीं,
रामावतार में दस अफ़सरों को निकलवाया,
हलधर रूप में ब्रह्मपुत्र नदी बाँधी,
बुद्धावतार में उन्होंने दूसरे सबों की निन्दा की,
और अब कल्कि-अवतार ले इस कारखाने में पधारे हैं।

जब उत्तरोत्तर काण्ड ही आते गये उत्तर-काण्ड नहीं आया;
और सुरसा की तरह ज्यों ज्यों घड़ी बढ़ती गई
वह त्यों त्यों हनुमान से बढ़े
तो हम लोगों ने हाथ जोड़ कर बड़ी मुश्किल से,
कलकत्ते की चौरंगी पर पैदल सड़क पार करने जैसा,
अपना क्षेपक निवेदन किया—

'सर' ये
अंग्रेजी राज्य गया स्वराज आया
राजे महराजे ज़मीन्दार गये, कैपिटलिस्ट भी दबे;
जापानी खेती आई, डैम आये, कारखाने आये,
भूदान आया, श्रमदान आया, सम्पत्तिदान आया;
पञ्चायत आयी, कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स आये;
सब आये, सब बदले
मगर पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन नहीं बदला है।

बल्कि;
मुनाफे का लोभ नहीं, सरकारी पैसे का मोह नहीं, होने से
बल्कि उद्योगों के प्रशासन की
प्राइवेट उद्योगों से भी पीछे की ओर ही
प्रगति हुई है।
आप हमारे गोत्र ऋषि हों;
और आपके आश्रम में
कारखाने के प्रशासन का एक कम्युनिटी प्रोजेक्ट हो।
अधिकारी अधिकार-दान दें, सम्पत्ति दान दें;
मजदूर श्रमदान दें, अनुशासन दान दें
पंचायत क्या कारखाने का परिवार कायम हो।'

कि जैसे किसी ने दुर्वासा को मुँह चिरा दिया हो,
ताड़का का आँचल खींच लिया हो,
जंगली भैंसे की नाक पर एक लात मारी हो,
यों महर्षि तिलमिला उठे।

घोरं पापं,
वह पुकार उठे,
कारखाना और गाँधीवाद !!!!
टेकनिकल काम और नन-टेकनिकल एप्रोच !!!
इस महान आधुनिक युग में इतना अनर्थ !
कारखाना नहीं चलना है क्या,
फालव इयर प्लान ठप्प हो जाना है क्या,
भारतवर्ष की प्रगति रुक जाती है क्या ?

जोरों से साँसें लेते
श्री निशासूर्य सिर से पैर तक काँपने लगे,
मानों उन्हें मिरगी आई हो।
साँसों से अवरुद्ध गले से
महा वैदिक भाषा में
टेकनिकल शब्द रह रह कर निकलते—
डी. ओ. जी. डौग,
हा......हा......हा

सी. ए. टी कैट,
हा...हा...हा
आर. ए. टी. रैट,
हा...हा...हा
उनका चेहरा तना हुआ था,
आँखें गोल हो रही थीं.
मुँह फटा हुआ था,
लार गिर रही थी,
हम सब लोग इस महाभूत के सामने डर से थर-थर काँपने लगे
सब के सब
एक्सपर्ट के पाँवों पर एक साथ गिरे,
भूकम्प में मकान की तरह ।

"पिता ! पिता !
क्षमा करो, रक्षा करो,
हम अब फिर कभी टेकनिकल मामलों में
मानवीय तत्वों का नाम भी नहीं लेंगे ।"
एक्सपर्ट की कँपकँपी धीरे धीरे कम होने लगी,

आध घण्टे में वह फिर पहले जैसे हो गये,
पर उनके ओठ फिर भी कभी कभी थोड़े-थोड़े काँप उठते ।
उन्होंने शान्ति-पाठ किया,
हम लोगों को चाय पिलाई,
और शुद्धि के लिये जाप किया—

ओ, माइ स्टौमक, बी दी औलवेज फुल ।
अन-कन्सर्न्ड फौर अदर्स, मे दी डिवावर औन लाइक द ग्रैव ।
मे दी नेवर बी एम्पटी ॥१॥
ब्लफ, दाइ नेम इज सक्सेस ।
एस्पेशली व्हेन एम्प्लौयड एगेन्स्ट द बुद्धूज ॥२॥
फ्लैटरी , दाउ आर्ट माइ सोर्ड सिनिस्टर ।
फ्लैटरी, दाउ आर्ट माइ शील्ड इन्विज़िबल्ल ॥३॥
ओ, यू ट्विन गौड्स औफ प्रौविन्शियलिज्म ऐण्ड क्लिक्कोक्रेसी,
नो एनिमी, हाउसो एवर स्ट्रौंग कैन प्रिवेल एगेन्स्ट यू ।
नो लौजिक, हाउसो एवर श्योर, कैन गेट राउण्ड यू ।
यू आर डथलेस, यू आर माइटी, यू आर इम्मूवेब्ल ॥४॥

प्रकाशक से साबका

प्रभाकर माचवे

जब श्री युद्ध से लौटा था तभी उसने सोचा कि कुछ व्यवसाय किया जाय। पर कौन सा व्यवसाय था जिसमें बिना पूँजी के शुरुआत की जा सकती थी।

किसी ने सुझाया—ऐसा व्यवसाय है लिखना। साहित्य लिखना...

सो अपनी थोड़ी-बहुत विज्ञान और प्रवास और भाषा की जानकारी के सहारे वह एक दिन शहर के नामी गिरामी और छुटपुँजिये सभी तरह के किताबें छापने वालों के पास पहुँचा।

सबसे पहले वह अपने मित्र हरीश की मारफत वहाँ पहुँचा। तो प्रकाशक नम्बर एक ने बड़ी आवभगत की : रसगुल्ले और नमकीन के साथ लम्बी-चौड़ी चाय पिलाई। और एकदम बढ़िया अँगरेजी में बोले- हमारा इरादा, जी, फर्स्टक्लास साइको-ऐनालिसिस पर किताबों की सीरीज़ निकालने का है। आप जानते ही हैं कि आज वर्ल्ड में न्यूरोसिस हो गया है।

श्री कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। और धीरे से बोला—हो सकता है!

नम्बर एक बोले—और बाकी बिजिनेस वाला मामला जो है जी, वह हमारे भाई कुलवन्त बता देंगे।

कुलवन्त जी सिर्फ मुस्कुरा दिये। उन्होंने कहा– गोपाल ढंढा जी ने हमें ऐसी किताब दी है कि दस हजार का पहला एडीशन तो आर्मी में चला जायगा।

श्री ने नम्रता पूर्वक कहा—वह तो सरकारी महकमा है। और वहाँ काफी जाँच परख के बाद ही तो...

बात काटकर कुलवन्त बोले—ओ होऽ! आप कहाँ की जाँच-परख लेकर बैठे हैं जी! वह तो अपने हाथ की बात है। किताबें जिस सैंक्शनिंग आथारिटी की मारफत जानी हैं, वह ढंढा जी का दोस्त है।

दस महीने बाद जब श्री कुलवन्त जी से मिला तो पता चला था कि ढंढा जी ने यों ही डींग हाँककर अपने रुपये सीधे कर लिए थे। काहे की आर्मी और कहाँ की बिक्री! पर उससे उस्ताद एक कवि का किस्सा सुना कि वे हैदराबाद की पुलीस-

एक्शन या पता नहीं किस विषय पर एक महाकाव्य लिखकर उस पर एक बड़े अधिकारी की—शायद सेना के भूतपूर्व अधिकारी की भूमिका लिखा लाये, और प्रकाशक से रुपया ऐंठकर रवाना हो गये। श्री को बाद में एक और लेखक मिले। उन्होंने प्रामाणिकता से अपना 'कन्फ़ेशन' दिया—दोस्त! जब तक हम दयानतदारी से चलते थे, भूखे मरते रहे। बाद में किसी प्रदेश के बोर्ड पर—विज्ञान या इतिहास या साहित्य के पाठ्यक्रम के लिए पुस्तकें चुनने वाले बोर्ड पर हमने अपने आप को नियुक्त करा लिया। और जो प्रकाशक आवे उससे कैश धरा लेते थे—जी हाँ, हरेक को मीठे-मीठे आश्वासन दे देते हैं। बचने किं दरिद्रता। हर आदमी से कहते थे—आप ही की पुस्तक हम कोर्स में लगा देंगे, पर उसमें अमुक मुश्किल है। उसे हल करने के लिए इतने और पेशगी देने होंगे। इत्यादि-इत्यादि।

इस प्रकार से धीरे-धीरे श्री ने प्रकाशन में आगे बढ़ने के हथकण्डे और 'गुर' सीखे। पर कहीं-न-कहीं बेसिक भलमनसाहत तो होती ही है। श्री बेचारे में वह शेष थी। एक दिन वह एक रेफ़्यूजी प्रकाशक के चंगुल में फँस गया।

अपनी कुछ कहानियाँ या छोटा उपन्यास लेकर वह उनके पास पहुँचा। वह बोले—सुनिये जी! हम तो लाहौर में मटन का और बटर का बेपार करते रहे; मगर यहाँ सुना है कि हिन्दी किताब में बड़ा रुपया है। थोड़ी सी रिश्वत खिलानी पड़ती है। मगर ये 'आलूचना' बहुत अच्छी बिकती है। बेचारे कालेज के मास्टर लोग गरीबी में रहते हैं। उनकी भी हम कुछ 'सेवा' हम कर देते हैं। और किताब आलूचना की बड़ी जल्दी में और सस्ते में मिल जाती है। हमारे 'प्रूफ़रीडर' यानी लिटरेरी एडवाइजर (साहित्यिक परामर्शदाता) बड़े पण्डत हैं। बिद्वान हैं! पंजाब से उन्होंने परभाकर पास की है, और संसकिरित भी जानते हैं, गुरुकुल में कुछ महीने थे। ओ हो!, अँगरेजी नहीं जानते; तो उसकी क्या इत्ती पड़ी है—अँगरेज तो यिहाँ से चले ही गये! सो आप की किताब उन्हें दिखा दी जायगी।—अगर जँच गयी। कोर्स में हो सकी, तो बस आप को बराबर हम साल में सौ रुपया देते जायँगे—आप को ऐतबार नहीं तो मनमोहन जी से पूछ लीजिये। उन्होंने तो सेक्स से लगाकर परगतिवाद पर सब तरह की किताबें हमारे लिए लिक्खी हैं।

श्री ने कहा—इस तरह का हरफ़न मौला मैं नहीं हूँ। मैं लेखक को बढ़ई नहीं मानता कि आपने कहा—कुर्सी तो कुर्सी बना दो। और आपने कहा आलमारी तो आलमारी।

प्रकाशक नम्बर दो ने उनसे कहा—नमस्ते!

एक तीसरे और जबरदस्त प्रकाशक मिले । वे स्वयं किंचित्-साहित्यिक थे। और थे सरकारी नौकर । और सरकारी नौकर अन्य व्यवसाय तो नहीं कर सकते थे इसलिए पत्नी के नाम पर उन्होंने प्रकाशन-गृह खोल रखा था। व्यवहार की जबानी बातचीत वे ही करते थे । पहले तो श्री को उनसे बड़ा लम्बा-चौड़ा उपदेश सुनना पड़ा :—

"सुनिये क्या—आप का—नाम—है श्री श्री; साहित्य में सफलता बड़ी तपस्या और साधना के बाद मिलती है। अब मुझे ही देखिये, मैंने क्या-क्या कबाड़ नहीं किये —फिल्मी दुनिया की खाक मैंने छानी, रेडियो के लिए मैंने लिखा; मेरी कविताएँ अब माँगने को आते हैं सम्पादक लोग, पर पहले यह बात नहीं थी । समझे जनाब, बड़ी ही उग्र और घोर साधना मुझे करनी पड़ी ।"

एक और सज्जन उनके पास बैठे थे । उन्होंने परिहास किया-"सुना आप की पाँच पत्नियाँ थीं। क्या यह भी उसी साधना का ही एक भाग है !"

"आप समझते नहीं !" डपट कर वे बोले, "मैं एक नवीन लेखक को सफलता का मार्ग बतला रहा हूँ। साहित्य हँसी खेल नहीं है । ५ प्रेमिकाएँ या तीन पत्नियाँ रखना आप जानते हैं—हम लेखक वर्ग को विविध प्रकार के जीवनानुभव प्राप्ति के लिये आवश्यक होता ही है । अब यह है कि मैंने उसकी तरकीब निकाल ली है । मैं एक अंग्रेजी के किसी आबक्यूअर आथर का नाटक या उपन्यास उठाता हूं । उसमें से ३६५ वें सफे पर से अगर मैं चार डायलाग उतार लूँ या उड़ा लूँ तो आप कैसे समझेंगे । फिर मैं तुरन्त उसे पंजाबी में अनुवाद कर लेता हूँ । उस पर से हमारे दोस्त हबीब या अलीम उर्दू लिखावट में उसे अदा कर देते हैं। और बाद में आप तो जानते ही हैं कि कहानी की भाषा में उर्दू हिन्दी में कोई अन्तर है ही नहीं—सो उसी को हिन्दी लिखावट में भी हम लिख दें तो क्या मुश्किल है ! हाँ जी, एकाध मुश्किल अलफ़ाज़ का संस्कृत तर्जुमा कर देने से काम पूरा हो जाता है ! अनुवादक का नाम किताब पर मैं नहीं देता !!"

श्री मुंह बाये इस विशाल अनुवाद प्रक्रिया को देखता-सुनता रहा । पर वे सज्जन अपने उपदेश देते ही जा रहे थे—"सुनिये आप चाहे बी० ए० हों या एम० ए०; डिग्री से कुछ नहीं होता, जनाब ! रसूख चाहिये रसूख !! आप मेरी नयी कविता सुनेंगे — अतुकांत है । सुनाने में सिर्फ एक घन्टा लगेगा ! इसमें मैंने अपनी सारी बढ़िया से बढ़िया फिलासफी उतार कर रख दी है । समझे मिस्टर ! तो असल में बात बात यह है कि पहले आप को अपनी पर्सनेलिटी बनानी होगी । आप दाढ़ी भी रख सकते हैं । या चाहे तो मंकी कैप पहन सकते हैं । या टैक्सी ड्राइवरों वाली चिपटी टोपी ! येन केन प्रकारेण जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का पूरा यत्न कीजिये । बाद में

देखा जायगा। साहित्य सर्जन? वह तो आप से आप हो जायगा। दो चार चेले जमा कर लीजिये। वे आप के लिये लिखेंगे और उपकार मानेंगे। समझे साहब ..''

श्री ने घड़ी की ओर देखा और कहा—''अच्छा आचार्य जी! मैं नमस्कार करता हूँ!'' और वह उठने को हुआ तब उन्होंने पूछा—''आप एक पान तो खाते जाइये!'' और जब तक नौकर से पान लाने के लिये कहा, एक और सदुपदेश का लम्बा लेक्चर—''आप अध्ययनशील युवक हैं। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि आप में प्रतिभा है, पर हाँ यह कहा जा सकता है कि बहुत कुछ आपने पढ़ा लिखा है। तो आप को चाहिये कि आप एक रास्ता पकड़ लें उस पर चलें। जैसे टेक्स्ट-बुक हैं। आप ये अच्छी तरह लिख सकते हैं। हमारे मित्र डाक्टर अमुक अमुक ने इसी के सहारे एक मकान बना लिया। पर इसके लिये आप को पहला नियम यह अंटी में बाँधना होगा कि आप किसी पक्ष के नहीं हैं। यानी आप का कोई वाद नहीं है।

''क्या आप बिन पेंदी के लोटे की तरह मुझे बनने को कहते हैं?''

''मेरे कथन का आशय यह कदापि नहीं है। पर आप सबसे मीठा बोलिये। सबसे सस्मित बातचीत कीजिये।'' इतने में अच्छा हुआ कि पान आ गये और प्रकाशक नम्बर तीन से श्री का जल्दी ही छुटकारा हुआ।

प्रकाशक नम्बर चार का अनुभव और भी रोचक सिद्ध हुआ। उन्होंने बड़ी आवभगत की। मीठी मीठी बातें की। श्री की पांडु लिपि रख ली और छह महीने तक उस बात को भूल गये। बाद में अपने एक 'टाउट (दल्लाल) की मारफत कह-लवा दिया कि ये चीजें तो हमारे काम की नहीं हैं। और देखते क्या हैं कि पांडु-लिपि जो लौट कर आई तो उसमें कई लेखादि गायब थे!

श्री इस तरह से इस क्षेत्र से निराश हो गया। युद्ध के बाद सन् '४५ में हिन्दी में केवल बिक रहे थे या तो भावुकतापूर्ण शरच्चन्द्र की छटा लिये हुये उपन्यास, या विद्यार्थियोपयोगी आलोचना—परीक्षायें पास होने के सस्ते नुस्खे। श्री दोनों ही नहीं लिख सकता था। वह इस लेखक बनने की क्षणिक महत्वाकांक्षा से विरक्त हो गया।

रोशनी कहाँ है...

राजेन्द्र यादव

वाक़ई बिस्सो बाबू आज परेशान था। इतने विश्वास का परिणाम यह हुआ ! भूखे मरते उस सोमा को खिलाया-पिलाया, रखा, और अब यों धोखा देकर चला गया। हाथ में दूध का गिलास और ताली लिये जब वह आया तो दूकान के तख़्ते लगे हुए थे लेकिन लोहे की छड़ बाहर नहीं लगी थी—उसका माथा ठनका। आज तो वह बाहर छड़ और ताला खुद अपने हाथ से लगा कर गया था। रात को काफ़ी देर तक सोमा की राह देखी और फिर निराश होकर एक रात मज़ा चखाने के विचार से ताला लगाकर घर आ सोया था। उसका दिल धक् से रह गया—पता नहीं आज क्या दुर्घटना उसकी प्रतीक्षा कर रही है ? उत्सुकता के मारे फटे जाते हृदय को दाबे उसने जल्दी से दूकान के दो तख़्तों को निकाल कर बाहर एक ओर रख दिया। अभी तक मन में कहीं यह आशा थी कि हो सकता है सोमा के हाथ कहीं से ताली पड़ गई हो और भीतर जा सोया हो—झाँक कर देखा, कोई नहीं था। जब वह भीतर घुसा तो उसकी आँखों में अँधेरा इस तरह नाच रहा था जैसे कुतुबमीनार से उसे किसी ने ढकेल दिया हो। रेस्त्राँ की आलमारी की हर चीज इधर-उधर गड़बड़ पड़ी थी और चाय के पुड़े, दियासलाई के बण्डल सभी कुछ गायब थे। चूहों के डर से जिन अमृतबानों को वह फूटे शीशे वाले शोकेस में बन्द कर गया था उनमें न तो डबलरोटी थी, न केक-पेस्ट्री। गिलास उसने एक ओर रख दिया, जैसे हाँफते हुए हताश निराशा से इधर-उधर देखकर वह बड़बड़ा उठा, 'सफाया कर गया सारी दूकान का।'

जैसे-तैसे बेंच पर बैठकर उसने एक बार सूनी आँखों से उसने उस दूकान-नुमा रेस्त्रा में लगाई गई अँगीठी को देखा, काउण्टर को देखा, खुली आलमारी के धुँयें और गन्दगी से काले दोनों पटों को देखा, खाली खानों को देखा, धूल से अटे शोकेस पर तीनों खाली अमृतबान, गाँधीजी के बन्दरों की तरह रखे थे— और वह सोच कुछ नहीं पाया, सोडावाटर की गैस के जोर से बोतल के मुँह में आ फँसने वाली गोली की तरह एक बड़ा-सा गोला न जाने कहाँ से उठ कर उसकी छाती में आ फँसा।

हर आदमी उसके विश्वासों को नोचकर फेंकने के लिये ही पैदा हुआ है। कोई नहीं चाहता कि उसकी कोमल भावनाओं को एक क्षण भी सुरक्षित स्थान मिले। आखिर ये सब लोग चाहते क्या हैं? क्या चाहते हैं यह लोग?

वह बैठा रहा। उस उफान और उबाल के बावजूद उसके मन में कहीं कोई चीज़ थी जो स्थिर और अलिप्त थी— एक सहज विवेक, जो कह रहा था: जो हो गया सो होगया—अब उठो, देर हो रही है! अँगीठी जलाओ, झाड़ू-बुहारी करो, यों हताश बैठने से तो जो होगया, लौटा नहीं आता। जैसे इस ज्ञान को झुठलाने को वह और भी ज़ोर से जिद किये बैठा रहा, नहीं, मैं नहीं उठूँगा—यों ही बैठा रहूँगा, यों ही रात तक! अब यह मजाक़ बहुत अधिक नहीं चलेगा।

"अमां, बिस्सो बाबू, ये क्या नमाज-सी पढ़ रहे हो, उधर आलमारी की तरफ मुँह करके? आज सोते ही रह गये? बहुत प्यार किया क्या भाभी ने! ये तीसरी बार आया है निगम हुज़ूर की दरगाह में"। निगम ने बीड़ी का आखिरी कश खींचा, झटके से उसे वहीं नाली में फेंका और दूकान में घुसते हुए बोला, "सब लौट गये एक-एक बार, यार, तुम हो बड़े लापरवाह आदमी। दूकान यों खुली छोड़ गये, अभी आकर देखा भाई मेरे, जमाने अब वह नहीं रह गये। एक तो निकल कर अब आये हो और अभी भी औंघ रहे हो। रात भर जागे थे क्या? अब उठो, भले आदमी की तरह अँगीठी-वँगीठी जलाओ।"

एकदम बिस्सो के हृदय में बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी सारी शक्ति से इस कमीने की पीठ पर एक दुहत्थड़ दे—धकेल कर बाहर निकाल दे उसे। और खूब उछल उछल कर नाचे—बड़े आये, हमारी भलाई देखने वाले। बैठे बिठाए यह पच्चीस तीस का नुकसान हो गया। अब यह रुपये कहाँ से आयेंगे? अभी थोड़ी देर में चाय वाला गाड़ी लेकर आयेगा, दियासलाई वाला आयेगा! सबसे ऊपर ज़रा से दूध के लिये, ढाई आने के दूध के लिये वह जो व्यवहार अन्ना से कर आया है, वह जैसे अनजाने रूप से से हर क्षण उसकी साँस घोट रहा है, चाहे जो कुछ हो उसे अमल के लिये दूध पहुँचाना ही है। आज वह काम नहीं करेगा।

निगम ने उसके कंधे पर हाथ मार कहा—"यार मेरे ऐसी बातों पर सोचोगे तो हो गया!"

बिस्सो बाबू धीरे से उठा। मरी चिड़िया के पंखों से खुले आलमारी के दोनों किवाड़ बन्द कर दिये। एक-एक तख्ता उठाकर भीतर एक ओर लगा दिया; कल तक इसमें ऊपर तक दियासलाइयाँ, मोमबत्तियाँ, सिगरेट के डिब्बे, चाय के पैकेट रखे थे, आज

वह खाली थी। शोकेस को सामने वाली दीवार पर आलमारी के ऊपर टाँगा। एक के ऊपर एक रखे मूढ़े और कुर्सियाँ मेज के तीनों तरफ लगा दिये दीवार की तरफ बैंच को साफ कर दिया। निगम चुपचाप बाहर आकर सिगरेट पीने लगा।

रद्दी कागजों की सहायता से बिस्सू बाबू ने अँगीठी सुलगा रक्खी थी, उसमें से खूब धुँआ निकलने लगा था। अँगीठी सुलगती रही और वह मेज-कुर्सी की धूल झाड़ता रहा। फिर वह टीन के टुकड़े से फटाफट अँगीठी धौंकने लगा। जब धूल और धुँआ दोनों कम हो गये तो निगम पुनः नमूदार हुआ।

"अमां, बिस्सो बाबू आज तुम्हारा सोमा नहीं दिखाई दे रहा। न हो तो निगम ही लपक कर ले आये दूध—कहाँ है गिलास?" निगम बैठ गया।

"सोमा साला भाग गया।" पानी भर लाने के लिये नीचे झुककर बाल्टी उठाते हुये बिस्सो बाबू ने कहा।

"भाग गया? कुछ ले तो नहीं गया?" निगम ने चौंककर पूछा।

"जब भागना ही है तो कोई चीज छोड़े ही क्यों?" खिसियानी सी हँसी बिस्सो के स्वर में झनक उठी—निगम सा'ब उसने कोई चीज नहीं छोड़ी! अभी तो आकर मैंने देखा है।"

निगम जरा उत्तेजित हुआ—"और तुम योंही बैठे हो चुपचाप?"

"तो क्या सारे बाजार में गाता फिरूँ" एक दम बिस्सो के दिमाग में आया, कहीं यही महाशय तो सुबह-सुबह सफाया नहीं कर ले गये? वर्ना उन्हें क्या मालूम कि दुकान खुली है। वह बाल्टी लेकर पानी भरने जाते हुये एकदम रुक गया, उसने मुड़ कर देखा। नहीं निगम नहीं कर सकता जब से १०६ में पकड़ा गया है तब से रात में निकलता ही नहीं है दिनदहाड़े ले जाने की हिम्मत नहीं है।

नियमानुसार निगम ने पाठ पीछे चीनी के डिब्बे से दो फाँकियाँ लगाई और मुँह पोंछते हुये अपनी जगह इस तरह आ बैठा जैसे कुछ हुआ ही नहीं। बाल्टी लाकर बिस्सो बाबू ने केतली चढ़ा दी और दूध के नीचे रखा हुआ गिलास उठा कर खुद दूध लेने चला।

"अरे, तुम क्यों जा रहे हो आओ इधर लाओ।" निगम ने उसी तरह बिना जरा भी उठने की इच्छा दिखाये हुये या हिलेडुले, सिगरेट फूँकते हुए कहा।

"नहीं निगम साहब, तुम आधा पीकर इसमें पानी मिलाओगे और इसी दूध की वजह से सुबह आज बीबी से लड़ाई होगई।" बिस्सो के स्वर में कड़वाहट थी। कुछ सोचता सा वह उतर कर चला गया।

"तुम भी यार उस बेचारी से हर समय लड़ते रहते हो।" उसकी पीठ को

सुना कर निगम ने कहा और मुँह से धुँआ निकलते हुये फिर एक बार चीनी के डिब्बे की ओर देखा। बिस्सो बाबू की बात का उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ा था।

तभी काठ की सीढ़ी पर पाँव रखा जसवन्त ने।

"हलो हलो, जसवन्त बाबू, निगम साहब तुम्हारी कितनी देर से राह देख रहे हैं, आओ, सामने!" जसवन्त की बगल में सिगरेट का टोटा फेंकते हुये दोनों हाथ फैलाकर निगम ने उसका स्वागत किया।

"हाँ यार, जरा देर हो गई।"

"तुमने तो कह दिया देर हो गई, और निगम साहब तुम्हारे इन्तजार में सूख-सूख कर हाथी रह गये।" निगम पूर्ववतः बैठ गया, फिर जरा धीरे से बोला, "कोई केक-वेक रखा हो तो देखियो, एकाध निगाह से चूक गया हो, उस सोमा की से!"

"आज तो कुछ भी नहीं है।" इधर-उधर झाँक कर जसवन्त ने हाथ का पंजा नकारात्मक ढंग से हिलाया—"सब अमृतबान भी खाली है, दूकान कुछ खाली-खाली सी लगती है।" फिर हाथ की दो फटी-फटाई सी किताबें जोर से मेज पर पटक कर धम से लोहे के मूढ़े पर बैठ गया।

"आज तो यार; बिस्सो बाबू की हजामत सोमा कर गया, ऐसी झाड़ू लगाई है कि कुछ नहीं छोड़ा।" निगम बोला, फिर दूध लेकर आते बिस्सो को सुनाकर कहा—"कुछ हो यार, यह बिस्सो है सीधा आदमी।"

"जी हाँ, बिस्सो बाबू सीधा तो है ही, तीस तीस रुपये की चाय जो उधार कर चुका है न। साफ सुन लो निगम साहब, और जसवन्त बाबू तुम भी, एक बूँद चाय की नहीं दूंगा आज।" बिस्सो अपनी टूटी मेज के काउण्टर पर आ खड़ा हुआ, पास ही चढ़ी केतली में पुड़िया से निकाल कर चाय डालने लगा।

"अमां, बिस्सो बाबू, आर्टिस्ट लोगों से जब तुम यों दिल फटने की बातें करते हो तो ईमान से, हलफ़ उठा कर कहता हूँ कि खुदकुशी कर लेने को जी चाहता है। अरे, एक प्रोग्राम लगने दे कहीं, निगम तो सब कुछ चुका देगा। सब एक साथ! अब तुम्हारा यह साला शहर तो भी ऐसा है, साले में एक रेडियो स्टेशन भी तो नहीं। फिर भी यह याद रखो, निगम किसी का अहसान नहीं रखता।" निगम अत्यन्त ही बेबाकी से बोला। उसने जसवन्त को आँख मारी।

"नहीं, बिस्सो बाबू, तुम दो, चाय दो, मैं दूंगा तुम्हें सारे पैसे।" जसवन्त ने कहा।

"नक़द?" बिस्सो बाबू ने घूरा।

"जी बिल्कुल नक़द, लो पेशगी।" और उसने जेब से चवन्नी निकाल कर बड़े अन्दाज़ से उसकी ओर फेंक दी। और उस ओर से ऐसे आंख फेर ली जैसे बैरे को टिप दे दी हो।

"अच्छा।" इतनी देर बाद बिस्सो मुस्कराया---"आज तो गहरे में हो, कहां हाथ मारा। किसी की साइकिल उड़ा दी या हिस्सा मिला।"

"सब तुम्हारी ही तरह हैं न? अरे लाख बेकार हों, कुछ न कुछ करते ही हैं। ट्यूशन के मिले हैं! जाते हैं एक जगह, सितार सिखाने को हफ़्ते में दो बार।" रोब से जसवन्त ने कहा और वह कमीज से अपना चश्मा पोंछने लगा।

"तब तो दोस्त, अपने हिसाब के भी कुछ दिलादो, पैंतीस हैं, पांच ही सही। क़सम से, बड़ी जरूरत में हूँ। एक वो रखा था सोमा, सीधा-साधा समझकर, सो साला सब चौपट कर गया।" बिस्सो के स्वर में प्रार्थना आ गई। चाय तैयार करके दो कप उनके सामने रखते हुये कहा। एक गिलास अपने लिये उसने नहीं बनाई। मन में बड़ी कड़वाहट थी, इच्छा ही नहीं हुई।

"इस वक्त नहीं, दे दूँगा बिस्सो बाबू जल्दी ही।"

"तुम्हारी जल्दी को तीन महीने तो हो गये।" वह मुरझा गया।

जसवंत और निगम एक दूसरे की आँखों में देखते हुए चाय पीने लगे। दोनों प्लेट में ढाल-ढाल कर पीते रहे। बिस्सो चुपचाप खड़ा सोचता रहा, उसने फिर कुछ नहीं कहा, चवन्नी कान में लगा ली। कहीं दूर देखता रहा। लोगों के लिये जीवन आशीर्वाद बन कर आता है, उसके लिये तो जैसे विषैले धुएँ के बादल की तरह घिर उठा है। कितने दिन हो गये उसे, जब से वह सिर्फ बीते हुये कल और आज की मशीन बन कर रह गया है। उसे फ़ुर्सत ही नहीं मिल सकी कि सिर उठा कर आने वाले कल को देख देख सके। आज वह व्यर्थ ही अन्ना से बुरी तरह पेश आया। पता नहीं क्यों उसे इतनी जल्दी क्रोध आ जाता है। ज़रा वह अपने को दबा नहीं सकता। जिन्दगी में आज के अपराध को वह कभी नहीं भुला सकेगा...कभी नहीं। पता नहीं कहाँ लगी होगी। धकेल दिया ..क्रूर नीच...! अमल को कहाँ लगी होगी जाने। वह मुझसे गलत क्या कह रही थी। आखिर? वह भी बेचारी, कब तक चुप रहे? इस अँधेरे का तो शायद कहीं कोई छोर नहीं, कोई सिरा, कोई अन्त नहीं है। पता नहीं यह रोशनी कहाँ है? कौन हिरण्यकशिपु उसे धरती की तरह ले गया है—हिरण्यकशिपु...और बैठे ठाले यह सोमा आ मरा...

"अरे भाई, ये सारी बातें फिर कभी सोच लेना। कब के हम तुम्हें सिगरेट दे रहे हैं, बिस्सो बाबू।" जसवंत ने कहा तो वह चौंका, उसके हाथ से सिगरेट ले ली।

देखकर बोला—"ओहो कैप्स्टन है, या आज तो मामला कुछ ऊँचा है, तुम चाहे बताओ मत।" कागज के एक टुकड़े को अँगीठी में लगा कर उसने सिगरेट जलाई। कश खींच कर बोला—"आज तो यार, अपनी किस्मत खुल गई, मास्टर जसवन्त ने सिगरेट पिलाई है।"

"अच्छा बिस्सो बाबू, अब चले, थोड़ा देर में आएँगे।" जसवंत और निगम सिगरेट फूँकते चले गये। बिस्सो अपनी कॉपी उठाकर देखने लगा जो 'उधार-उधार' से भर गई थी।

तभी रेस्त्रां में झाँकता हुआ किशोरी सड़क से जाता दिखाई दिया। "अरे, किशोरी भाई सुनो तो, तुम्हें देखे तो बरसों हो गये।" चौंककर बिस्सो ने पुकारा।

किशोरी ने भीतर प्रवेश किया। वह जैसे किसी को खोज रहा था। घुसते ही बोला—"बिस्सो बाबू, जसवंत कहाँ हैं?"

"जसवंत? जसवंत से तुम्हारा क्या? अभी तो गया है। तुम हमारा एक काम करो यार, ये लो चवन्नी और ये गिलास, चवन्नी का दूध ज़रा हमारे घर दे आओ।"

"दूध तो मैं दे आऊँगा, तुम यह बताओ, जसवन्त तो नहीं लाया कुछ यहाँ?" उसने घबरा कर पूछा।

"कुछ? कुछ क्या? वह तो किताबें लेकर आया था। सो चला गया।" उसने चवन्नी को गिलास में डालकर उसकी ओर बढ़ाते हुये कहा।

"ये अच्छा रहा! वह मेरा यार मुझे एक अण्डी की चादर दिलाने वाला था, निगम और वो कल मुझसे दस रुपये लाए हैं।"

"हैं!" बिस्सो बाबू ने उसे देखा और जोर से हंस पड़ा—"तो दोस्त तुम फँसे, तभी तो मैं सोच रहा था कि ये रुपये आए कहाँ से। चाय के पैसे उसने जिन्दगी में कभी दिये नही, और आज यह कैप्स्टन सिगरेट।" उसने उँगलियों के बीच में दबी सिगरेट दिखाई। धुआँ निगलकर बोला—"जाओ, हाथ धो लो उन रुपयों से!"

किशोरी की आँखें फटी रह गई और वह रुआंसा हो आया—"मुझे कुल तीस रुपये महीने भर में मिलते हैं। उस निगम ने कहा था कि बहुत बढ़िया चादर है। बस जरा इस्तेमाल की हुई है। जसवन्त के पास है, दस रुपये में दिला दूंगा। चादर उसने दिखाई भी थी।"

"वह चादर भी उड़ा लाया होगा कहीं से।" बिस्सो बोला, "अच्छा, जरा ठहर, अभी जसवन्त आता होगा, तब पूछूँगा तेरे सामने ही।"

कृतज्ञता के बोझ से दबा हुआ किशोरी गिलास लेकर चला गया। चवन्नी

देते हुये एक बार बिस्सो का हाथ काँपा, क्या पता दूध भी यह घर देकर आयेगा या नहीं। उसे एक क्षण को ऐसा लगा जैसे इस युग में, समाज में, वह एक विचित्र तरह का आदमी है, जो अपने आप को हर जगह अनफिट पाता है, जो आउटआफ डेट है—इन सब के बीच में एक अपरिचित। हर आदमी सिर्फ अपनी ही बात सोचता है, एक इञ्च दूसरे की नहीं सोचना चाहता। वही क्यों दूसरों की बातें सोचता है, क्यों उसके भीतर यह कमजोरी है?—कि वह आदर्श और नैतिकता जैसी चीजों को छाती से चिपकाये हुये हैं। आखिर यह बुराई और भलाई आदर्श और नैतिकता सब सापेक्ष चीजें ही तो हैं—सब चीजें अपने ही लिये तो हैं!

और वह अनमना सा अपना काम करता रहा। शर्मा जी आये, रेखा और नीलाम्बर आये, कपूर और गोस्वामी आये। सुबह के हर ग्राहक ने जब खाने की चीजें माँगी तो उसने अत्यन्त ही मरे हुये शब्द में मना कर दिया कि वे सब चीजें खत्म हो गई हैं और दे जाने वाला अभी आया नहीं है। वह उल्टी-सीधी बातें सोचता रहा, घर की बात, किशोरी की बात, अपने आस-पास की बात। कभी कभी जाने वालों की कोई बातें उसे थोड़ा भंग कर देती, फिर वह अपने में डूब जाता। नहीं तो मशीन की तरह काम किये जाता।

जसवन्त आया चुपचाप जा कर बैठ गया।

"देखो जसवन्त, यह हरकत तुम्हारी निहायत ही खराब है। तुम्हें कोई और नहीं मिला तुमने उस बेचारे किशोरी को दस रुपये से मार दिया। मैं यार तुमसे इसी लिये डरता हूँ। आज का दिन खाली नहीं जाने दिया न।"

"मैंने? कौन कहता है? जसवन्त तेजी से बोला, मैंने उससे कुछ भी नहीं लिया मुझे पता भी नहीं। कुछ कहने के पहले पता लगा लिया करो, बिस्सो बाबू।"

"किशोरी खुद कह रह था। तुमने कोई चादर देने का वायदा किया था—निगम ने और तुमने।"

"हाँ, चादर देने का वायदा किया था निगम ने, उसे ही मालूम होगा। रुपये उसी ने लिये होंगे—वह साला बदमाश! मुझे उससे क्या?" जसवन्त जैसे उठकर खड़ा हो गया।

"तुमने नहीं लिये?" बिस्सो बाबू ने जरा तेज पड़ कर पूछा।

"नहीं दृढ़ता से वह बोला--तुम साबित करो।" फिर लापरवाही से कहा--"लिये होंगे तो उस निगम ने ही लिये होंगे, चादर मेरे पास रखी है, रुपये कहाँ से ले लेता?"

"निगम कहाँ है?" बिस्सो ने दरोगा की तरह पड़ताल की वह। उसके पास जा बैठा

"मुझे नहीं मालूम, मेरे सामने तो चौराहे से पान खाकर गया था ।" जसवन्त बेंच और मेज के बीच से तिरछा होकर निकलने लगा ।

"खैर, पता तो लग ही जाएगा जसवन्त बाबू, लेकिन कह देता हूँ ऐसी कोई बात हुई तो दूकान में फटकने नहीं दूँगा ।"

जसवन्त ने कोई उत्तर नहीं दिया, उसकी भवें तन गई । चुपचाप उतर गया, केवल एक बार उपेक्षा से मुँह हिलाकर । बिस्सो जानता था कि वह कहीं नहीं जायगा, अभी घूम फिर कर अधिक से अधिक आध घण्टे में आजाएगा । यही उसकी आदत थी ।

निगम को उसने दरवाजे पर देखते ही कहा—"निगम साहब, रुपये दिलवाओ । यार, गरीब अमीर तो सोचा करो । किशोरी को तीस रुपया कुल तनख़ा मिलती है, उसमें से दस तुमने झटक लिये ।" अपनी बेंच को लक्ष्य करके चला जाता निगम एकदम चौंककर पलटा— "रुपये ?"

"बनो मत, निगम साहब ।" बिस्सो ने सिर हिलाया ।

"कैसे किशोरी के रुपये ? निगम को क्या मालूम ?" निगम बड़े ठाठ से बैठ गया ।

"उड़ो मत, उड़ो मत । निगम साहब, मुझे सब मालूम है ।" निगम के हाथ से बीड़ी लेकर खुद पीते हुए उसने कहा ।

"बिस्सो बाबू, तुमने कुछ नशा तो नहीं कर लिया ? सुबह से कुछ अजब बहकी-बहकी बातें कर रहे हो । आज यह चक्कर क्या है ? तुम खुद सोचो, खरीदार किशोरी, चीज जसवन्त की, फिर उसमें दालभात में मूसलचन्द निगम कहाँ से आ मरा ।"

"ये सब बातें तो यार, उससे कहना जो तुम्हें जानता नह । तुमने सौदा पटवाया तो तुम्हारा हिस्सा न हो यह मैं किसी हालत में नहीं मान सकता । जसवन्त खुद कह रहा था ।" बिस्सो बाबू ने एक तरह से प्रार्थना की—"दे दो यार, क्यों तंग कर रहे हो बेचारे को ?"

"जसवन्त खुद कह रहा था ।" निगम का ढीला-ढाला शरीर एक दम तन कर बैठ गया, "साला, जसवन्त, बदमाश ! अब साफ बता दूँ तुम्हें, ? खुद हरामजादा सब रुपये लिये बैठा है, दूसरों पर इलजाम लगाता है, सुअर ! निगम खुद उससे एक रुपये लेने को भटक रहा है । निगम से पूछो उसकी पोल ! दसियों साइकिलें इधर से उधर करा चुका है । वर्ना ये नक्शे, सब चलते कहाँ से हैं ?"

"तुम कसम से कहते हो ?" बिस्सो ने फिर पूछा।

"निगम के हाथ में यह अग्नि है।" उसने बीड़ी दिखाई और उसका गुल झाड़ दिया। दोनों टाँगों को उठा कर उसने मेज पर फैला दिया, और पीछे टिका कर अधखुली आँखों से बीड़ी फूँकने लगा जैसे इन सब तुच्छ बातों से उसे कोई मतलब नहीं है।

"यार, तुम लोगों ने उस गरीब को मार डाला।" बिस्सो ने परेशानी से कहा—"अरे, ऐसे लोगों पर तो दया कर दिया करो।"

निगम फिर तड़प कर उठा, झटके से—"यार बिस्सो, यही तो तुममें सबसे बुरी आदत है; किसी का विश्वास नहीं करते। निगम जबान से ही तो कह सकता है, सिर काट कर तो रख ही नहीं सकता। इससे ज्यादा निगम क्या अपनी जान निकाल कर रख दे। आने दो जसवन्त को भी, अभी मुक़ाबला हुआ जाता है।" वह फिर अपनी पहली वाली स्थिति में हो गया, और स्वगत-कथन के रूप में बोला—"लुच्चे, साले, बदनामी फैलाते फिरते हैं। किसी भले आदमी को रहने नहीं देंगे दुनियाँ में।"

बिस्सो चुपचाप बैठा रहा। फिर अपनी अलग बीड़ी अँगीठी से जला कर दरवाज़े पर खड़ा होकर सड़क को देखने लगा। भूरेलाल कँघे और कैंची फटकारते हुए, किसी के बाल बना रहे थे। कैंची और जबान साथ समान गति से चल रही थीं। कभी-कभी कैंची को पिछड़ना पड़ता था और हाथ रोककर वे अपनी बात सुनाने लगते थे। वहीं खड़े-खड़े उसने कहा—"अच्छा निगम साहब, एक काम करो, उन दूकान बन्द करने वाले तख्तों के पीछे चले जाओ। जसवन्त आ रहा है। मैं तुम्हारे सामने कहलवाए देता हूँ।"

"निगम क्या किसी से डरता है।" और निगम सचमुच एक ओर रखे दूकान बन्द करने वाले तख्तों के पीछे जा बैठा।

"अबे, वहाँ तो बीड़ी मत पी। धुएँ से समझ जायेगा।" बिस्सो ने धीमे से घुड़का। निगम ने बीड़ी घिस कर बुझा दी।

जसवन्त को देखकर बिस्सो ने कहा—"कहो जसवन्त बाबू, कहाँ की विज़िट दे आये ?"

जसवन्त सिर झुकाये सुस्त और उदास चला आ रहा था—"विज़िट को कहाँ विलायत जाना था, वही रोड-इन्स्पैक्टरी कर आए, सड़कों को नापना।" निराशावश

में जसवन्त ने कहा, और उसकी बगल से निकल कर भीतर आ बैठा। बिस्सो दरवाज़े पर ही खड़ा था। भीतर की तरफ मुड़ आया। जसवन्त ने एक दम सिर झटके से उठाकर कहा, "बिस्सो, एक कप चाय नहीं पिलाओगे?"

"भाई, कुछ तो रहम करो मुझ पर। आख़िर मैं भी तो कहीं से लाऊँगा ही। तुम्हें मिलेगी पहली तनखा, तो मुझे तो पकड़ा नहीं दोगे।" फिर एकदक विषय बदल कर बोला "किशोरी बेचारे को तुमने पीस डाला न?"

"मैंने?" जसवन्त तन गया, "सहने की अब हद हो गई है, बिस्सो बाबू। आख़िर तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो, एक तुम्हारी ही दूकान जरा बैठने की जगह है, सो कहो यहाँ भी न आया करूँ। रुपये निगम डकार गया, खींचातानी मुफ़्त में मेरी हो रही है।"

"यार, अजब उलझन है। निगम कहता है रुपये तुम ले गये, तुम कहते हो, निगम। रुपये आख़िर क्या फ़रिश्ते ले गये?" बिस्सो सिर खुजाने लगा।

"फ़रिश्ते नहीं, बिस्सो बाबू, रुपये ले गया है वह, जिसने किशोरी से लिये हैं। जसवन्त बोला—"निगम, निगम, निगम। मैं उसके मुँह पर कहूँगा। बदमाश, साले, रेस्कल, डफ..."

"निगम साहब का आदाबअर्ज लीजिए, जसवन्त बाबू।" बड़े लखनवी ढङ्ग से छाती के पास पंजा हिलाकर सलाम करते हुए चतुरता से मुस्कुराता निगम तभी तख़्तों के पीछे से बाहर निकल आया—जैसे डिब्बा खोलते ही स्प्रिङ्ग के सहारे दाढ़ी वाले बुड्ढे का खिलौना निकल आता है।

जसवन्त एकदम 'फक्' रह गया। उसका मुँह खुला और आँखें जैसे फटी रह गईं। सारी तेज़ी ख़त्म हो गई। फिर एकदम सँभल कर बोला, "तो जनाब यों छिपे हैं। ये पीछे क्या पुछल्ला लगा दिया यार, साफ़ क्यों नहीं कह देते कि पाँच रुपये गटक गये हो।"

"अभी तो बिल्कुल मुकर गये थे, अब पाँच पर आ गये।" निगम अपने पेटेण्ट स्थान बेंच पर आ जमा। विजेता की मुस्कान से उसका चेहरा खिला था।

बिस्सो आश्चर्य से दोनों के चेहरों की ओर देख रहा था—वह कल्पना कर रहा था कि दोनों में अब कुश्तमकुश्ता होगी। इस नाटक को देखकर बुरी तरह खिल-खिलाकर हँस पड़ा—"अभी तो दोस्त, तुम दोनों एक दूसरे को बुरी तरह गालियाँ दे रहे थे, कसमें खा रहे थे और अब मिलते ही मान गये कि उस बेचारे से छीन कर आधा-आधा खा गए हो।" फिर हँसना बंद करके बोला—"मैं तुम्हारी नस-नस जानता हूँ दोनों की। लाओ निकालो सारे पैसे बाएँ हाथ से। और जसवन्त बाबू वो चादरा किसका था, जिसका सौदा हुआ?"

दोनों ने हारे हुए जुआरियों की तरह कुछ नोट और पैसे निकाल कर मेज़ पर रख दिये, बिस्सो गिनने लगा।

"अब छोड़ो भाई, यह किस्सा ख़त्म कर दो।" झेंपते हुए खुशामद के स्वर में जसवन्त ने कहा और दोनों ने दो तरफ मुँह फेर लिया। एक बार आँखें मिलीं, लेकिन हँस दोनों में से कोई नहीं सका। बिस्सो गिनता रहा।

"लेकिन ये तो साढ़े नौ ही हैं।" बिस्सो ने गिना, सिर उठाकर पूछा।

"तुम्हारे यहाँ चाय पीली, सिगरेट और पान खा लिये। अभी सुबह ही तो लिये हैं।" जसवन्त के स्वर में क्षमायाचना ध्वनित हो रही थी।

"अच्छा ख़ैर, लेकिन दोस्त; घर वालों को तो निशाना मत बनाया करो।" और उसने पैसे स्वेटर के नीचे जेब में डाल लिये। अंगीठी के पास आ गया।

तीनों चुप थे। निगम बेंच पर दीवार से पीठ टिकाकर बैठा काली छत को ताक रहा था। लोहे के मूड़े पर बैठा जसवन्त दोनों कुहनियां मेज़ पर टिकाए, हथेलियाँ पर ठोड़ी रखे, पपड़ाए होंठों पर उँगली सहलाता एकटक मेज़ को देख रहा था। केतली चढ़ाकर बिस्सो बाबू चुपचाप कान कुरेद रहा था। तीनों इस तरह चुप थे जैसे बर्षों से कोई किसी से नहीं बोला हो, जैसे वे युगों से इसी तरह बैठे सोचते रहे हों।

पहले बिस्सो थोड़ी देर तो उन दोनों की चालाकियों पर मन ही मन हँसता रहा। लेकिन जैसे-जैसे क्षण पर क्षण बीतते जाते वह कभी-कभी आँख उठाकर देख लेता, और उसके हृदय में इन दोनों के प्रति न जाने क्यों एक अनजान करुणा, कोमलता और ममता उमड़ती चली आ रही थी, कि नासमझ बच्चों की तरह दोनों को छाती से लगाकर समझा दे, उनके आँसुओं को पोंछ दे। वे बेचारे भी आख़िर करें क्या? आख़िर कब तक बेकारी और नैतिकता के संघर्ष को सहते रहें? यदि वास्तव में किशोरी से उसका इतना घनिष्ट सम्बन्ध न होता तो वह फिर सारे पैसे उन्हें वापिस लौटा देता...

एक गहरी साँस लेकर अचानक जसवन्त उठा, "अच्छा बिस्सो बाबू, चलें अब।"

"बैठो, तुम्हारे लिये चाय बन रही है।" कुछ स्नेह की आत्मीयता से उसने कहा।

"पैसे नहीं हैं।" जसवन्त का स्वर बड़ा निरीह था। निगम ने वहीं लेटे हुए गर्दन घुमाकर उधर देखा, उसकी आँखों में कातरता उतर आई थी।

"देखी जायगी।" उसने तीन कप का पानी छान दिया, लेकिन अचानक उसे कुछ याद आ गया और एक कप वापस केतली में उलट दिया। दो कप चाय बनाकर

दोनों के सामने रख दी । निगम सीधा हो गया । दोनों प्लेटों में कर करके पीने लगे । बिस्सो बाबू खड़ा बीड़ी पीता रहा ।

"अच्छा, बिस्सो बाबू माफ करना आज की ग़लती को ।" निगम ने दाँत निपोर कर कहा और दोनों सिर झुकाए पिंटे से बाहर निकल गये ।

बिस्सो बाबू हिसाब लिखने लगा ।

"बिस्सो बाबू, मेरेपैसों का क्य आइ ?" एकदम आते ही किशोरी ने पूछा ।

"पैसे रखे हैं, अब ?" बिस्सो ने कुटिलता से उसकी ओर देखकर कहा—"दोनों खा-पी गये अब बेटा, टण्डक में सोओ जाकर ।"

किशोरी का उतरा हुआ चेहरा और मुरझा गया । सिर झुका लिया—"बिस्सो बाबू, मैं मर जाऊँगा । मैंने चादर को।इसलिये दे दिये थे कि रात को ओढ़ बिछा लूँगा उसे । दिन में बदन पर लपेट लिया, सारे कपड़ों का काम देगी ।" आगे उसका स्वर घुट गया ।

"ले, पहले तो दे मरा, अब रोता क्यों है ? ख़बरदार जो अब बिना पूछे किसी को कुछ दिया" । बिस्सो बाबू स्वेटर के नीचे हाथ डालकर जेब से पैसे निकालने लगा । दोनों की बातों का ध्यान कर उसके चेहरे पर मुस्कान आ गई ।

"सच, पूरे ?" उमङ्ग कर एकदम किशोरी ने पूछा, उसकी आँखें जैसे चमक उठीं—"बिस्सो बाबू, तुमने मुझे बचा लिया ।"

बिस्सो का जेब से पैसे निकालता हाथ वहीं रुक गया, उसने एक क्षण किशोरी को उसके प्रति कृतज्ञता और विश्वास से चमकती हुई आँखों को देखा, उत्सुक मुखमुद्रा को देखा, और उसके मुँह से निकल गया—"हाँ, सब ! लेकिन बताए देता हूँ, आज से फिर किसी के चक्कर में नहीं पड़ूँगा ।" बिस्सो उस घटना का खूब रस लेकर नाटकीय वर्णन सुनाने जा रहा था । लेकर अब 'चुप' हो गया । अपने पैसों में से मिला कर उसने पूरे दस रुपये किशोरी के हाथ पर रख दिये — आज दोपहर की कमाई सहित । उसकी जेब में अब दो पैसे शेष थे, लेकिन चेहरे पर बड़प्पन था !उसने कहा "बड़ी देर लगी ? जरा देर पहले आता तो बड़ा मजेदार तमाशा दिखाता ।"

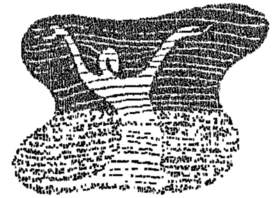
बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता से पैसे गिनकर जेब में रख लिये, फिर जैसे उससे सहानुभूति दिखाते हुए बोला- "बिस्सो बाबू, भाभी से तुम लड़ आए हो, क्यों ? पहले दूध लेती ही नहीं थी, बड़ी मुश्किल से लिया, रो पड़ीं । वहीं तो लग गई इतनी देर ।"

दो घाघों से रुपये निकलवा लेने की सारी प्रसन्नता और किशोरी को बचाकर सहायता करने का सारा बड़प्पन जैसे एक ही झटके में उड़ गया ! बिस्सो बाबू एक दम

मुस्त हो गया ! अन्ना के प्रति आज का व्यवहार । जरूर घर में वह भूखी बैठी होगी, और यहाँ जानबूझकर उसने भी तो चाय की एक बूँद गले से नीचे नहीं जाने दी है। वह बेचारी कह क्या रही थी ? यही तो कह रही थी सिर्फ कि इस ढाई आने से अमल के लिये दूध आयगा । उसने समझाना चाहा था कि अगर इन पैसों का अमल को दूध आगया तो आज का दूकान का काम कैसे चलेगा ? सुबह ही दो-चार ग्राहक आते हैं, देर हो गई तो लौट जाएँगे । इसलिये अच्छा हो कि वह उसे जाने दे, और पैसे आते ही अभी वह दो मिनट में दूध भेजता है। पर अन्ना को जैसे जिद्द आगई थी कि नहीं दूकान चाहे चले न चले इसका तो अमल को दूध ही आयगा। काफी देर वाद-विवाद हुआ और आखिर दूकान को देर हो जाने की झुँझलाहट में वह उसे जोर से धकेल कर दूकान की ओर चला आया था । और अब दिनभर की कमाई किशोरी को पकड़ा दी !

कातर करुणा का एक फव्वारा-सा जैसे उसके भीतर फूट पड़ने को मचल पड़ा । एक धुँध और धुंआ । सोमा जो कुछ ले गया है उसका नुकसान फिर उसकी आंखों के आगे कभी न पूरी की जा सकने वाली कमी की तरह लगा । उसे लगा इन मुसीबतों और उलझनों से वह पार नहीं आ सकेगा—और एक दिन यों ही अनजान-सा साँस तोड़ देगा !

बिना किशोरी की बात का जवाब दिये वह शोकेस इत्यादि बाहर से उठा-उठा कर भीतर रखने लगा। बिना बोले ही किशोरी ने भी सहायता कराई । सब सामान उलटा-सीधा रखकर दो लोटे पानी अँगीठी में डाला । जल्दी से दूकान के तख्ते लगाये और किशोरी को वहीं छोड़ कर चल दिया—निर्लक्ष्य......दिग्भ्रांत-सा, नरुद्देश्य......



जन्म-दिन

इलाचन्द्र जोशी

आज मेरा तिरेपनवाँ जन्म-दिन है। कुछ क्षणों के लिए पचास वर्ष की अवस्था के बाद अपने पिछले जीवन का लेखा-जोखा करने का सहज नैतिक अधिकार साधारणतः सभी व्यक्तियों को अनायास ही सुलभ हो जाता है। पर मेरी आत्मा अभी तक मुझे उस अधिकार के अयोग्य मानती है। फिर भी मेरे अन्तर में आज, न जाने क्यों, इस संबंध में एक कुतूहली भाव जगा है!—पिछली गतिविधियों का हिसाब-किताब सँभालने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि अतीत की छिटफुट और धुँधली झाँकियाँ देखने की इच्छा से।

विगत जीवन का लेखा जोखा करने की इच्छा मेरे मन में उठती ही न हो, ऐसी बात नहीं है, भगवती बाबू की 'असफलता के पैंतीस वर्ष' संबंधी कविता से प्रेरित होकर 'असफलता के ५३ वर्ष' शीर्षक से एक निबंध लिख डालने की बात मन में गुदगुदी अवश्य मचा रही है पर शायद ५३ की संख्या ३५ से ठीक उलटी होने के कारण इस संबंध में मन के भीतर कहीं कुछ अन्तर्विरोध जान पड़ता है; क्योंकि इस विशेष क्षण में असफलता की कोई भी अनुभूति पूरी भावुकता के बाद जग ही नहीं पा रही है। जो अस्पष्ट, स्फुट और बिखरी हुई स्मृतियाँ जग रही हैं उनका असफलता से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। उनका एक दूसरे से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब जीवन के आनन्द की मूलगत अनुभूतियों से सम्बन्धित हैं।

मुझे दिखाई दे रहा है अपने जन्म-स्थान का वह जीर्ण वास-भवन जहाँ से अपने चंचल बचपन के विकासशील दिनों में मैं प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व की ओर सूर्योदय के ठीक पहले हिमालय-श्रेणी के एक अर्द्ध-गोलाकार लघु-खंड को नव अरुण-राग से रंजित देखता था। उसके बाद ही पश्चिम की ओर की वे विशाल और विस्तृत हिमगिरि-मालाएं मेरे अंतर की आँखों के आगे अपनी झिलमिली झलक दिखा रही हैं जहाँ संध्या को सूर्यास्त के समय क्रम से सोने, ताँबे और चाँदी की प्रज्ज्वलित वर्णच्छटाएँ एक निराले ही रहस्यात्मक अनुभूति-लोक में मुझे एकाकी छोड़ देती थीं। सिनतोले की ओर वाले उस माया-वन की भी झाँकी मुझे दिखाई दे रही

है जहाँ चीड़ के पेड़ों की दो कतारों के बीच में चीड़ की घासनुमा सूखी और तीखी पत्तियों की लाल बजरी वनदेवी के निःशब्द विचरण के लिये पांवड़े बिछाये रहती थी। न जाने अपने कैशोर जीवन के कितने प्रभात, दुपहरियाँ और साँझें उस माया-वन-भूमि में मैंने भावमग्न अवस्था में बितायी है। याद आ रहीं हैं शुभ्र शरत्काल की वे निर्मल चाँदनी रातें जो चीड़, बाँझ और देवदारु-द्रुमों की सघन छाया के ऊपर चाँदनी का पारदर्शी चँदोवा तानकर न जाने पिछले जन्मों की किन-किन बहुरंगी और चित्र-विचित्र भाव-वेदनाओं को जगाती रहती थीं। इस टीले का सुस्पष्ट प्रतिबिंब स्मृति-पटल पर पड़ रहा है जहाँ की ऊँचाई से पहाड़ के पदमूल पर सिसकारियाँ भरनेवाली कोसी नदी स्फटिकों की माला की तरह दिखायी देती थी।

मुझे जाड़ों की वे विकराल साँझें और रातें याद आ रही हैं जब सारा आसमान हम बरसाने की तैयारियों में जुटे हुए काले बादलों से ढका रहता था और आसपास के पहाड़ों में घना कुहरा छाया रहता। अँगीठी के चारों ओर सब बच्चे बैठे रहते और शिबू भैया अध्यक्ष-पद ग्रहण किये हुये भूतों और प्रेतों की विचित्र दुनिया की अद्भुत कहानियाँ सुनाया करते। उनकी अधिकांश कहानियाँ 'आप-बीती' हुआ करती थीं। उनके चेहरे का गाढ़ा काला रंग, मस्तक के कृष्ण-पट पर अनिवार्य रूप से अंकित सिंदूरिया चिह्न और साढ़े छः फीट लंबा शरीर देखते बनता था, जैसे वह अभी-अभी भूतों की दुनिया की सैर करके लौटे हों। "शिबू भैया, फिर क्या हुआ ?" अपने दिल की धड़कन के साथ-साथ बढ़ती हुई उत्सुकता से प्रेरित होकर मैं पूछता।

"हाँ, तो भैया , उस रुक्खड़ (पथरीले) पहाड़ के एकदम सँकरे रास्ते से होकर हम तीन आदमी चढ़ाई पर चले जा रहे थे। एकदम खड़ी चढ़ाई थी। हम लोग हाँफते हुए धीरे-धीरे चले जा रहे थे। कहीं एक भी पेड़ नहीं दिखाई देता था, जिसकी छाँह के नीचे बैठकर हम लोग कुछ देर सुस्ताते। आस-पास में कहीं एक भी मकान नहीं था। चलते-चलते थक गये थे। प्यास के मारे बुरा हाल था। किसी तरह मरते-तरते जब आधे मील तक और ऊपर चढ़ गये तब अचानक मेरी नजर बाँईं ओर एक नाले की ओट में, दो बाँझ के पेड़ों के बीच में छिपे एक छोटे से मकान की ओर गयी। एक छोटा-सा दुमंजिला मकान था। देखने में एकदम नया मालूम होता था, पर जगह-जगह पत्थर उजड़े हुये दिखाई देते थे......"

"तब क्या हुआ ?"

"हम लोग ऊपर चढ़कर उसी मकान के पास जा पहुँचे। जाकर देखा, सारा मकान खाली पड़ा था। एक बड़ा-सा कमरा नीचे था और उतना ही बड़ा एक कमरा ऊपर था। भीतर जगह-जगह दो-दो बड़े-बड़े पत्थर रखकर चूल्हे बनाये गये

थे और दीवारों पर कालिख लगी हुई थी। यात्री लोग वहाँ डेरा डालकर खाना बनाते होंगे। ऊपर के कमरे में दो कोनों में पुआल पड़ी हुई थी......"

"क्या भूत लोग आकर वहाँ पुआल रख गये थे, शिबू भैया ?"

"पता नहीं, कौन रख गया था। हम लोगों ने वहीं ठहरने का निश्चय कर लिया, अपनी-अपनी गठरी और कंबल हम लोगों ने वहीं उतार दिये। अपनी-अपनी गठरी खोलकर हमने खाने की चीजें निकालीं और खा-पीकर घड़े का पानी पीकर जल्दी ही पुआल पर लेटकर सो गये। घड़ा हमें एक पास की छोटी नदी के पास औंधा पड़ा मिला था। आधी रात को एक जोर के धमाके की आवाज सुनकर मेरी नींद उचटी। जब मुझमें पूरी तरह चेतना लौट आयी तब मैंने कच्चे फर्श पर कान लगाकर सुना। मुझे ऐसा लगा जैसे नीचे बहुत बड़ी महफिल जमी हुई है। ऐसा मालूम पड़ा कि कुछ औरतें नाच रही हैं। घुँघरुओं के बजने की आवाज भी साफ सुनाई देती थी। मैंने पुआल हटाकर, मिट्टी का फर्श जहाँ पर उखड़ा हुआ था वहाँ से नीचे की ओर देखा। एक छोटे से छेद मे सब कुछ दिखाई दे रहा था......"

"तो क्या देखा तुमने शिबू भैया ?"

"सारा कमरा रोशनी से जगमगा रहा था। रोशनी किस चीज से हो रही थी, पता नहीं। न कहीं मिट्टी का कोई दीया दिखाई देता था, न शीशे की चिमनी वाला कोई लैम्प। एक ओर कई जवान औरतें खड़ी थीं, जो रंग-बिरंगे दुपट्टे और लहँगे पहने थीं। सिर से लेकर पाँवों की उँगलियों तक वे सोने और चांदी के गहनों से लदी थीं, दूसरी ओर सफेद पगड़ी लाल कोट व पीले चूड़ीदार पाजामे पहने कई जवान खड़े थे, उनके पाँवों में भी घुँघरू बँधे थे। किसी के हाथ में डमरू और किसी के हाथ में बाँसुरी थी। बीच में एक आदमी सोने की झालरदार पगड़ी पहने खड़ा था। और हाथ में सोने की ही एक बहुत बड़ी बाँसुरी थी। उसकी हिदायतों के अनुसार स्त्री-पुरुष के जोड़े घुँघरुओं में छूम-छनन, छूम-छनन करके नाचते थे। नाचते समय कई डमरू एक-साथ बजते थे और कई बाँसुरियाँ भी। पर उनकी आवाज बहुत ही धीमी लगती, जैसे कहीं बहुत दूर से आ रही हो......"

"तब क्या हुआ ?" पूछते समय मेरे रोंगटे खड़े थे और हृदय बेतहाशा धड़क रहा था।

"होना और क्या था ? बहुत देर तक वे लोग इसी तरह नाचते, गाते और बजाते रहे। बीच-बीच में टकसाल से एकदम नये निकले हुये से चाँदी के रुपयों की बौछार होती थी। एक आदमी जालीदार थैली से मुट्ठी-मुट्ठी भर रुपये निकालकर

ऊपर उछालता हुआ नीचे बिखेरता था। पर उठानेवाला कोई नहीं था। रुपये फर्श ही पर पड़े रह जाते। जब सुबह होने को कुछ ही देर रह गयी तब चाँदी और सोने की थालियों में बढ़िया बढ़िया व्यंजन परोसे गये और सबने बैठकर खाया..."

"खाना कहाँ से आया? किसने बनाया?"

"यह मैं न कुछ देख सका न समझ ही सका। जब वे लोग खा पी चुके तब कहीं से किसी जंगली मुर्गे के बाँग देने की आवाज सुनाई दी। मुर्गे के बाँग देते ही सारी रोशनी बुझ गई और महफिल में सन्नाटा छा गया......"

"वे लोग सब कहाँ चले गये?"

"उस समय अँधेरे में मैं कुछ देख न सका। अचानक ऊपरवाले कमरे के दरवाजे पर, जिसके भीतर हम लोग लेटे थे, किसी ने दस्तक दी..."

"दस्तक क्या चीज़ होती है, शिबू भैया?" काँपती हुई आवाज में मैंने पूछा।

"दस्तक दी माने दरवाजा खटखटाया और किसी ने जनानी आवाज में कहा: 'ला मेरा घड़ा! ला मेरा घड़ा!' मैं तो मारे डर के थर थर थर काँपने लगा मैंने चुपचाप कंबल में अपना मुँह ढाँक लिया। बहुत देर तक मैं उसी तरह लेटा रहा..."

"फिर क्या हुआ?"

"काफी देर बाद एक कौवे ने उस मकान की टूटी छत के ऊपर से काँव-काँव की आवाज निकाली। सुनकर मेरी जान में जान आयी......"

"कैसे?"

"कौवे की आवाज सुनकर सब भूत भग जाते हैं।"

"तब क्या वे सब लोग सचमुच भूत थे?"

"और नहीं तो क्या......"

"फिर क्या हुआ?"

"मैं फिर काफी देर तक मुँह बंद किये लेटा रहा। मेरे साथी अभी तक आराम से खर्राटे भर रहे थे। अंत में जब मैंने मुँह खोलने का साहस किया तब देखता क्या हूँ कि चारों ओर धूप छाई हुई है। कंबल फेंककर मैं दरवाजा खोलकर सीधे नीचे वाले कमरे में गया, जहाँ रात भर महफिल जमी थी। वहाँ जाकर देखता क्या हूँ कि सारे फर्श पर हड्डी के गोल-गोल टुकड़े—ठीक रुपये के बराबर बिखरे पड़े थे। यह जाहिर था कि जो चाँदी के नए रुपये रात में बिखेरे गए थे वे भूतों के चले जाने के बाद हड्डी के हो गए थे।"

"फिर क्या हुआ ?"

"मैंने अपने साथियों को जगाया, उन्हें नीचे ले जाकर हड्डी के रुपये दिखाये, और रात का सारा किस्सा सुनाया..."

"फिर क्या हुआ ?"

"सुनकर वे लोग चकित रह गए। हमारे साथ एक पंडित जी थे। उन्होंने बताया कि जो घड़ा हम लोग उठा लाये थे वह निश्चय ही श्मशान में किसी मुर्दे की प्यासी आत्मा के लिये रक्खा गया घड़ा होगा। तभी वह मृतात्मा ने अपने साथियों के साथ इस टूटे मकान में धावा बोला ?"

रात काफी हो चुकी थी। शिबू भैया उठ खड़े हुये। उनके उठते ही 'अँगीठिया गोष्ठी' समाप्त हुई। हम लोग भी उनके साथ बाहर वाले कमरे तक गये। किसी साहसी लड़के ने विशुद्ध कुतूहलवश एक खिड़की खोली। तलवार से भी तीखी धार वाले एक झोंके ने सबके मुँह पर थप्पड़ मारा। पर बाहर झाँकते ही हवा के तीखे नुकीले पंजों की सारी चपेट मैं भूल गया। बाहर चारों ओर बिना चाँद की चाँदनी बिछ गयी थी। जब हम लोग भीतर भूतों की कहानी सुन रहे थे तब चुप चाप बरफ गिर रही थी और तब तक पाँच-छः इंच के करीब जम चुकी थी। शिबू भैया बाहर जाकर एक अपेक्षाकृत 'शुद्ध स्थान' से बहुत सी बरफ उठा लाये, जो रूई से भी नरम मालूम होती थी। हम सब ने गुड़ के साथ इसे खाया।

जब शिबू भैया चले गये तब मैं बाहर वाले कमरे में बिना कुछ ओढ़े ही चुपचाप बैठ गया, और ठंड से तथा भूतों के भय से बरबस किटकिटाते हुये दाँतों की तनिक भी परवा न करके बाहर छुपी अँधेरी रात में मैं चारों ओर फैली हुई बरफ का दृश्य तन्मय हो कर देखता रहा। एक अजीब-सी रहस्यात्मक सफेद रोशनी चारों ओर छिटकी हुई नजर आती थी।

"बाहर ठंड लग जायगी। भीतर जा कर लिहाफ ओढ़ कर सो रहो।" अम्माँ डाँट बताती हुई कहती।

"सिर्फ पाँच मिनट के लिये देखने दो अम्माँ, बहुत अच्छा लग रहा है !" मैं अनुनय के स्वर में कहता। "बड़ा दुष्ट लड़का है, किसी की नहीं सुनता," कहती हुई अम्माँ भीतर से एक कम्बल लाकर मेरे ऊपर डाल देती।

मुझे वृद्ध हलवाई जोगासाह की याद आ रही है, जिसके हाथ की तैयार हुई विशेष प्रकार की गरम-गरम गुझिया पर लोग मक्खियों की तरह टूट पड़ते थे। अनाज की बालियों की तरह पगने वाले बड़े-बड़े 'बाल', सींग की तरह लपेटी गयी

पत्तियों में बन्द 'सिंगौरियाँ', बासी होने पर अधिक रस व स्वाद देने वाली खस्ता गंडेदार जलेबियाँ तथा और भी बहुत सी मिठाइयाँ जिन्हें जोगासाह तैयार करते थे, मुझे बहुत पसन्द थी। मैं प्रायः सारे भारत में घूम चुका हूँ, पर जोगासाह की बनाई हुई मिठाइयों की तुलना सारे देश की किसी भी दूसरी मिठाई से करना मेरे लिये असंभव हो जाता है। ३० वर्ष पूर्व अल्मोड़ा छोड़ने के बाद फिर मिठाई खाने का सुख सदा के लिये जैसे जाता रहा। आज भी कभी-कभी कोई प्रेमी सज्जन जब भूले भटके अल्मोड़े की मिठाइयाँ चखा जाते हैं तो अपने को सातवें स्वर्ग में अनुभव करने लगता हूँ।

जोगासाह की गुझिया की मीठी याद होली के उन रङ्गीन उत्सवों की सुप्त स्मृति जगा रही है जो उन विशेष गुझियों के बिना फीकी लगने लगती थीं। पहाड़ की होलियों का रूप उन दिनों क्या था, इसकी कल्पना भी आज ठीक से कर सकना सम्भव नहीं है। लगातार छः दिन और छः रातों तक (एकादशी से लेकर होली जलने के दूसरे दिन तक) सारी जनता भीतर से और बाहर से विविध रङ्गों से रंजित होकर जैसे बौरा उठती थी। चारों ओर रंगीनियों और मस्तियों का एक अपूर्व समाँ बँध जाता था। घर-घर भीतर शास्त्रीय होली का रङ्ग जमता तो बाहर लोग मण्डलियाँ बाँधकर ढोलकियाँ बजाते हुए 'खड़ी होली' के उन्माद भरे राग में मग्न होकर झूमते हुए गाते रहते।

वर्षा और शरद के बीच वाले काल में लगने वाले पहाड़ी मेलों की याद आ रही है, जब देहातों के छैल-छबीले और बाँके जवान और रंगीली कृषक-युवतियाँ लगातार तीन-तीन रात जगकर मेले के उन्मादक राग-रंग के प्रवाह में मुक्त भाव में बहे चलते। हर छैले के गले में एक 'हुड़का' (डमरू) बँधा रहता और चारों ओर से डमरुओं का 'द्वाँ-द्वाँ दुम्कि' 'द्वाँ-द्वाँ-दुम्कि' की आवाज कानों में बजती रहती। 'आशु कविता' करने वाले युवक-गायकों की मण्डलियाँ अपने प्रेम भरे पहाड़ी तरानों से सारे पहाड़ी वातावरण के प्राणों की सुप्त रंगीन वेदना को उभार कर एक निराली पुलकभरी व्याकुलता से सारे अंतर्मन को छा देती थी।

शुद्ध-साहित्य-समिति नामक पुस्तकालय की याद आ रही है, जहाँ से तरह-तरह की कहानियों की पुस्तकें प्राप्त करके मैं निराली ही तिलस्माती दुनियाँ में विचरता हुआ अपने चारों ओर के वास्तविक जगत् को एकदम भूला हुआ रहता। लगता कि सारा संसार-चक्र विशुद्ध रङ्गमय और अद्‌भुत रहस्यमय है और मनुष्य की रङ्गीन कल्पनाओं का जाल अपने रेशम से भी सुकोमल और चमकीले तानों-बानों से ढककर उसकी मोहकता को और अधिक उजागर करता चला जा रहा है।

उसके बाद जब धीरे-धीरे उस मोहक जाल को कुछ तो अपने हीदुर्निवार मन के चंचल कुतूहल से और कुछ परिस्थितियों के दबाव से छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं वास्तविक संसार से आकर टकराया तब कुछ एकदम नये, अकल्पित और अप्रत्याशित अनुभव होने लगे। तब से लेकर आज तक के संघर्षरत जीवन में न जाने कैसे-कैसे विकट, बेमेल और व्यामोहक अनुभव होते चले गये हैं। आज सोचता हूँ कि क्या वास्तविक जीवन के इन सब अनुभवों का मूल्य शैशव के तथाकथित 'अवास्तविक' और रंगीन अनुभवों की अपेक्षा अधिक है? आज मेरा मन इस प्रश्न को लेकर घोर संशयाच्छन्न हो उठा है।

५३ वर्ष की अवस्था तक 'वास्तविक जीवन' के जो विचित्र उलझनों से पूर्ण अनुभव मुझे हुए हैं उन्होंने मुझे कहाँ लाकर पटका है, इसका ठीक-ठीक निर्धारण कर सकने में मैं अपने को असमर्थ अनुभव कर रहा हूँ। बचपन के निर्द्वन्द्व जीवन के अनुभवों के बीच में मुझे सहज प्रेरणा से लगता था कि जीवन का एक निजी महत्व है, एक विशेष अर्थ है। पर आज जैसे जीवन का कोई अर्थ ही सामने नहीं आता—लगता है जैसे सर्वत्र अनर्थ ही अनर्थ हो रहा है। आज के युग की कूट-राजनीतिक, जड़-वैज्ञानिक और विध्वसात्मक प्रवृत्तियों ने जो प्रगति की है उससे ऐसा लगता है जैसे मानव-जीवन की कोई सार्थकता ही आज शेष नहीं रह गई, सब-कुछ निरर्थक, भ्रम-जाल से पूर्ण और उद्देश्य-रहित है। यदि सामूहिक जीवन की परिणति इन्हीं दिशाओं में होनी है तब तो सचमुच जीवन को युगों तक अंधकार में चट्टानों पर टकराते हुए अपना सिर पटकते रहना होगा।

पर सम्भव है, सच्चे जीवन को उन्हीं दिशाओं से होकर लम्बी यात्रा करनी है, जिनकी पूर्व छाया मुझे बचपन में दिख चुकी थी। और यह संभव है कि वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव-मन के भीतर ही भीतर जीवन की वह विशेष धारा शैशव की रंगमयी अनुभूतियों से होकर अन्तर्धारा के रूप में प्रगति करती हुई अज्ञान और अलक्ष्य में निरन्तर आगे को बढ़ती जा रही है, और आज के युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा वैज्ञानिक प्रसार एक दिन अपना महादंभ त्याग कर अपने को उसी विशुद्ध आनन्दमयी कल्पना के साथ एकाकार करने के लिये विवश होगा, जिसका अनुभव मुझे बचपन के दिनों में हुआ था। वह विशिष्ट और विशुद्ध जीवन-धारा विकसित होती हुई एक दिन बीसवीं शती के सारे ज्ञान-विज्ञान के मलबे के ऊपर से बहती उसे अपने महाप्लावन से धोती और बहाती हुई, एक दिन जीवन की सारी व्यर्थता को सफलता में, और निरर्थकता को

परिपूर्ण सार्थकता में परिणत करके ही रहेगी, ऐसा विश्वास करने को आज बरबस जी चाह रहा है।

५३ वर्ष समाप्त करने पर मेरे जीवन के अनुभवों की गति मंद हो चुकी हो या सभी अनुभव पुराने लगते हों, ऐसी बात नहीं है। आज मुझे नित्य ऐसे-ऐसे नये-नये अनुभव होते चले जा रहे हैं, जिनकी कोई कल्पना ही मैं दो-एक वर्ष पूर्व तक नहीं कर सकता था। इन नित्य-नये अनुभवों के आधार पर मानव-मन और मानव-जीवन के जो विचित्र रहस्य आज मेरे सामने आ रहे हैं वे मेरे पिछले मनोवैज्ञानिक ज्ञान को बहुत पीछे छोड़ते चले जा रहे हैं। बाहर के वास्तविक जीवन के नित-नव परिवर्तित और अन्तर्जीवन की नित-नया-निखार-पाती-रहने वाली नयी-नयी अनुभूतियाँ आज भी मुझे एक रहस्यमय हिंडोले में झुलाती चली जा रही हैं। ये द्विविध अनुभव और अनुभूतियाँ दो विशिष्ट पृथक धाराओं में बहती हुई एक समान लक्ष्य-बिन्दु की ओर जैसे निरन्तर बढ़ती चली जा रही हैं। पता नहीं, कितने युगों, कितने जन्म-जन्मान्तरों के बाद वे एक दूसरे से मिलकर यहाँ आनन्द-सागर में एकाकार हो पायेंगी। कभी एकाकार हो भी पायेंगी या नहीं, यह भी जैसे निश्चित नहीं है।

मुझे तो लगता है कि असंख्य युगों और अगणित जन्मों के अनुभवों के बाद भी—

शेष नहीं होगी यह
मेरे जीवन की क्रीड़ा!

लगता है, जैसे युग-युग की इस अशेष क्रीड़ा के भीतर ही जीवन का महान् लक्ष्य छिपा है, जिसे हम जीवन के बाहर किसी रहस्य में खोजते और व्यर्थ में रहते हैं।

●

शुक्ला त्रयोदशी
मार्गशीर्ष; २०१२



लिविंग मैटर और मैं

वीरेन्द्रकुमार जैन

१३ जुलाई, ४—

...बीच के दिन फिर वैसे ही सन्देह और द्वन्द्व की फाँसी में बीते हैं। जीने और खड़े रहने के लिए जो भी नई धरती बनाकर उस पर अगला क़दम रखता हूँ; और जरा मुक्ति की साँस लेता हूँ कि हृदय के अतल में से फिर एक बेधक त्रिशूल-सा प्रश्न उठ खड़ा होता है; पैर काँप कर ठोकर खा जाता है; साँसों में द्वन्द्व की छुरियाँ चलने लगती हैं। इसी प्रश्न की सूली पर जीना चल रहा है : इस नाना रूप, रङ्ग, नाम, वैविध्यमय विराट जगत-लीला के पीछे क्या कोई एक और चरम, अविनाशी और अनन्त सत्ता है ? और क्या वह सत्ता कोई सज्ञान, ससंकल्प व्यक्तिसत्ता है, जिसकी कोई निश्चित योजना या नियम-विधान हो ? या फिर यह अन्ध, जड़ प्रकृति का एक ठहरा ठहराया चक्र है, जिसे इसी तरह परिवर्तन के भीतर से, मरण-विनाश के भीतर से गुजरते हुए, निर्माण की नित-नूतन लीला रचते चलना है ? यदि प्रकृति से परे कोई पुरुष है, कोई परम सत्ता है जो स्वयम् प्रकृति की स्रष्टा और विधायक होकर भी उससे परे है, तो उसके भीतर से ही जन्म लेकर यह प्रकृति उसकी विरोधिनी क्यों मानी गई है ? प्रकृति से सहज उत्पन्न इच्छा-कामना और पुरुष के परम संकल्प के बीच विरोध क्यों है ? वह परात्पर परम पुरुष यह ऐसी द्वन्द्व की लीला रचकर निदारुण दुख की सृष्टि क्यों कर रहा है ?

जगत के इतिहास में जब-तब अवतरित होने वाले जिन प्रकाश-पुरुषों ने उस शुद्ध सच्चिदानन्द परम पुरुष या भगवान् की सत्ता की साक्षी दी है, उन सभी ने प्रकृत जीवन की इच्छा-कामनाओं का तिरस्कार कर मनुष्य को उस परमात्मा की ओर ले जाना चाहा है, जो मनुष्य के लिये सदा कोई निरंजन-निराकार दुर्लभ सत्ता भर रहा है, जिससे उसका कोई परिचय-साक्षात् नहीं है।...

स्वामी ! तुम बारम्बार कह रहे हो, उसी परिचयहीन दुर्लभ के प्रेम में ही मुझे अपनी विरहिणी आत्मा की प्रेम, सौन्दर्य और मिलन की जन्म-जन्मान्तर की विकल

चाह का अविकल उत्तर मिल सकेगा?...इस जगत् की सान्त वस्तुओं में अन्तर की इस चाह का उत्तर खोजना, मिथ्या का आराधन करना है, मरीचिका के पीछे दौड़ना है, यही आदेश बार-बार दिया जा रहा है।

तब जीना कठिन हो उठा है। भगवान् के किसी अनन्त, अविनाशी, सांगोपांग रूप का तो मुझे परिचय ही नहीं है। मैं तो अपनी इसी मानव-जाति के बीच अपनी चाह के उस प्यारे मुखड़े को पाना चाहता हूँ। रक्त-मांस की मानवी मूरत में ही आत्मा की उस सारभूत सौन्दर्य-माधुरी का दर्शन किया चाहता हूँ। मुझे मुक्ति नहीं चाहिये, जीवन चाहिये!

और प्यार के परम आश्वासन के बिना जीवन-धारण असम्भव हो उठा है। अनाथ, अस्थिर और विभ्रान्त, एक तिनके की तरह मैं अपनी ही कामना के में उड़ता फिर रहा हूँ।...

—आज सवेरे फिर वैसी ही हृदय को चीरती व्यथा छाती में दबाये स्टेशन के पुल की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था कि सिरे पर पहुँचते ही अचानक श्रीपाल बाबू से भेंट हो गई: छाती को बींध कर ही जैसे मेरी आवाज़ निकल सकी—बोला 'बड़े दिनों में दर्शन हुए बाबू जी, कैसे हैं?...क्या नीरा दीदी चली गईं?...'

'चली न जाती तो क्या होता, तुम्हारी तो वह राह देख-देख कर हारी। अभी परसों ही तो गई—और चलती बेर भी तुम्हारा जिक्र तो था ही। पर तुम्हारा कोई पता-ठिकाना हो तब न, भई बड़े आदमी ठहरे...।'

और मेरे सामने एक सुगम्भीर, सौम्य चेहरे का ममतामय 'प्रोफाइल' तैर रहा था।...जवाब मुझसे आया नहीं। इतना ही मुँह से निकला—

'चित्त इधर फिर भटक गया है, कब कहाँ होता हूँ, ठीक नहीं होता है। इसी से...इसी से आना नहीं हुआ...'

'तो बेटी-रानी को फिर बुलवा लेता हूँ, पूने में उसका जी तो खास लगता नहीं है। उसके लिये कोई काम खोज दो, और प्रायवेट में बी० ए० की तैयारी कर रही है, सो तुम्हें उसकी मदद भी करनी होगी। वह तो संकोचवश कुछ कहती नहीं, तुम्हारे समय का उसे बहुत ख्याल जो है।'

'मदद तो मुझसे जबरदस्ती ले ली जानी चाहिये। शायद इसी तरह मैं निकम्मा आदमी काम का बन जाऊँ।'...पुल की सीढ़ियाँ उतरते हुए मैं सोच रहा था—क्या यह ममता-माया, प्यार, आदर सब मिथ्या है? और क्षण भर को व्यथा के उस अथाह नरक के बीच भी जैसे कोई कूल दिखाई पड़ा

हो, कि मन थम-सा चला।...पर फिर वही सन्देह, फिर वही प्रश्न... क्या यह सत्य है, कि मात्र वही मरीचिका, जो पास पहुँचते ही हमारी सारी मोह-ममताओं का मज़ाक उड़ा देती है।

लेकिन फिर भी जाने क्यों, सबर्बन गाड़ी की भयानक गर्द भी सुसह्य हो उठी थी। मैं सपने को सत्य बनाये रख कर चलना चाहता था। अन्तर की सारी विसंवादिताओं के ऊपर होकर एक सुशीला रागिनी उठ रही थी—जिसमें जीवन का गान, उल्लास के आलाप से अनन्त होता चला जा रहा था।...

ऑफिस पहुँचा तो बात में अधिक निश्चय का स्वर था। फुर्ती से आधे दिन का काम समाप्त करके, तुरन्त जे० के घर पहुँचा। उनके साथ चाय पर बातों का एक लम्बा सिलसिला जमा रहा। देख रहा था कि आदि से अन्त तक मेरे सारे व्यवहार में एक अजीब मुरावट थी, बेसाख़्तगी थी, एक बल था और आत्म-विश्वास था! एक धुरी पर संयुक्त होकर मैं अनायास बोलता चला जा रहा था!

१५ जुलाई, ५—

जे० ने जिद की कि वे मेरे पुराने होटल 'डिलामार' की मेरी उन दिनों की रूम-मेट डाली से मिलेंगे। बहुत दिनों का मेरा उनसे वादा था, टालने का कोई बहाना ही नहीं सूझ पड़ा।

...गये। डॉली ने हाथ पकड़ कर मुझे अपने कॉट के सिरे पर बैठा दिया। बहुत ही नम्रता से हँसकर जे० का स्वागत हँसकर किया और उनसे माफ़ी माँगती हुई तौलिया उठाकर वॉश करने चली गई। लौट कर आई। विनोलिया रोज की ठण्डी, मीठी, देह-भीनी गन्ध...और वह अनायास सामीप्य। ऐसा खामोश, और अचूक अधिकार! तेरह बरस की बालिका की तरह एकदम लीला-चंचल हो उठी। और प्यार-दुलार का तो अन्त ही नहीं था। जे० आँखें फाड़कर देखता ही रह गया, उसके अचरज की सीमा नहीं थी।...और मेरा अहं ता मानो एकदम निःशेष हो गया था।

...मेरे साथ जे० हैं, और उनके साथ जाना होगा, बहाना माकूल था। सो और सब कैफ़ियत टल गई। पर मैंने देखा, चलते समय उसका मन बहुत दुखा हुआ था। लेकिन मेरे वश का क्या था उसमें?...

लौटते समय पाया कि एक दम फूल की तरह हलका हो गया हूँ। द्वन्द्व की रगड़ से साँसें मुक्त हो गई थीं। मन में कहीं कोई आसक्ति, आर्त्त कामना या वासना नहीं थी। सहज, प्रसन्न गरिमा का भाव लिये मैं बस मैं चला जा रहा

था। जे०---रास्ते में छूट गया था, और कंडक्टर के तीसरी बार पूछने पर भी ठीक निर्णय नहीं कर सका था कि मुझे कहाँ का टिकट लेना है...

...और आज सबेरे जब अपने आत्मीय मित्र डॉक्टर से बातें हो रही थीं तो मैंने कहा, 'कल डॉली के पास जब एक दम निश्चेष्ट और शांत बैठा था, जरा अलग रह कर देख सका कि वह किस तरह मुझ पर टूट रही है। पहली बार जैसे अपने भीतर के अचल पुरुष का परिचय मिला। इसी से न क्या मारजयी तीर्थंकर के समवशरण में इन्द्रों और महेन्द्रों का वैभव पृथ्वी पर झुक आता है। रूपराशियों सी अप्सरायें नाना नृत्य-भंगों में अपने आपको निछावर कर सार्थक होती हैं। जगत की सारी मोहिनियाँ उस परम् विजेता की मुस्कान की चरम मोहिनी के सागर में लहरों सी उठ-उठ कर लीन हो जाती हैं। शांत, निश्चल रह कर हम देखें, जगत की काम्य वस्तुएँ खिंची चली आयेंगी। हम अपने को दूर खींच कर देखें, दर्शक बन जायें, या अपने को 'किसी के' हाथ का 'इन्स्ट्रूमेंण्ट' (औजार) बन जाने दें, फर संभावनाओं के जो सागर उमड़ते आये, उन्हें बालकवत् निहारते रहें, हम देखेंगे- कि नियति ही बदल गई है।...

हम निस्तरंग होकर अपने भीतर सो जायें निश्चिन्त, और ऊपर एक आविर्भाव झुक आयेगा, वह अपना काम करेगा---उसकी शक्ति और उसका विधान, अमित, अनन्त और अचूक है,...

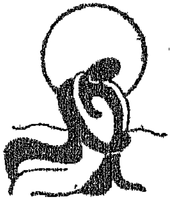
१७ जुलाई ५---

हाँ, 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। देश, काल, परिस्थिति, वातावरण के अनुरूप ही हमारे भीतर प्रभु के रूप का सपना ढलता है। जो व्यक्ति जिस वातावरण में से आता है, उसी की कल्पना के अनुरूप प्रभु-दर्शन प्रायः उसे होता है। मनोवैज्ञानिक यदि कहता है कि मीरा का कृष्ण-दर्शन, मात्र 'ऑटो सजेश्शन' (आत्म-धारणा) का परिणाम था, तो आपत्ति क्या है, कहाँ है ? उसके 'ऑटोसजेश्शन' ने उसे अपने सपनों के रमण का साक्षात्, चाक्षुष् दर्शन करा दिया। ऐसा परम अश्वासन उसे मिल गया, कि उसके बल पर वह जहर का प्याला पीकर भी मर नहीं सकी। अधूरा वैज्ञानिक इसे मात्र विचार-शक्ति का एक खेल समझता है; पर विचार ही क्या वस्तु का निर्माण नहीं करते ? क्या महान् क्रान्त-द्रष्टा कार्ल मार्क्स के विचार ने ही आज भूगोल के चेहरे पर नये जीवन की लकीरें नहीं खींच दी हैं ? महान् चित्रों और शिल्पों की एक रेखा, या डिजाइन में उसके शिल्पी की आत्मा के गहनतम संवेदन का कोई एक मोड़ या भंगिमा ही रूप ले लेती है, यह कितने लोग जानते हैं ?

मध्य-युग के यूरोपीय गोथिक वास्तु के भवन, चर्च, विशाल अट्टालिकाएँ; भारत में मुगलों के महल और पुरानी हवेलियाँ—सब में एक गम्भीर दर्प, भय और विषाद का भाव घटाटोप हो उठता है। वह उस युग के मानव के मानस का अंधकार है, मर्त्य मानव की विफलता का विषाद और अवसाद है, जिसे उसने धर्म-ज्योति के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ कर सार्थक किया है। पर क्राइस्ट का 'क्रूसीफिक्शन' गौरवान्वित करने की चीज नहीं है। विकास-प्रगति में उत्तरोत्तर मानव को इस 'अपोजिट' (विरोध) से परे जाना है। भौतिक सृष्टि के विकास और प्रगति की अनन्त सम्भावनाओं का ज्ञान पाकर आज जो मनुष्य अपने भवन अट्टालिकाएँ निर्माण कर रहा है, वे पहले की तरह घटाटोप, गम्भीर, ग़मगीन नहीं है। भरपूर हवा और रोशनी उनके आरपार बह रही है।...दिगन्तों पर उनके वातायन खुले हैं।

भिन्न-भिन्न देश-कालों में जो भिन्न-भिन्न धर्मावतार या युग-तीर्थंकर हुए, उन्हें जो उनके अनुयायी अद्वितीय कहते हैं, वह झूठ नहीं है। प्रत्येक देश-काल की आवश्यकता के अनुसार, उस समय की विशिष्ट अन्धकार की शक्तियों का उत्तर देने के लिये ही, सत्य के प्रकाश को उस विशेष रूप में अभिव्यक्ति हुई। जो बुद्ध में था, वह महावीर, मोहम्मद या ईसा में नहीं भी हो सकता था। और जो मार्क्स या, लेनिन में था वह बुद्ध में नहीं भी हो सकता था। सत्ता के अमुक अंश ही समय की ज़रूरत के अनुसार एक केन्द्रीय व्यक्तिसत्ता में प्रकट होते हैं। पर उत्तरोत्तर विकास-प्रगति के आगे बढ़ने के साथ, भगवान् की पूर्णतर कलाओं के अवतार ही अब प्रकट होते जायेंगे, इसमें मुझे रंच भी सन्देह नहीं है।

कहना चाहता हूँ कि वैज्ञानिक के स्वप्न का 'लिविंग मैटर' (सचेतन भौतिक-तत्व) योगी से विपरीत दिशा में नहीं चल रहा है। वैज्ञानिक और कवि भूख-प्यास खाना-पीना, स्वाद-इच्छा, सब कुछ भूल कर रचना और आविष्कार में डूबे रहते हैं। मानस के तल पर अगोचर से आकर एक किरण गिरती है: प्रकाश का एक चमत्कार होता है, और वैज्ञानिक पर रहस्य प्रकट हो जाता है, कवि एक नवीन सौन्दर्य-लोक में नव-जन्म ले लेता है। तो क्यों न मान लेना होगा कि आगामी कल के सबेरे 'लिविंग मैटर' के प्रकाशन द्वारा ही सूक्ष्म 'स्पिरिट' और स्थूल 'मैटर' के बीच की दीवार टूटने जा रही है।



एक पत्र : नव-वर्ष के दिन

विद्यावती कोकिल

प्रिय के०,

आज नव-वर्ष के दिन, यहाँ आकर जगी हुई समस्त नई अनुभूतियों ने मुझे तुम्हारे पत्र का उत्तर देने के लिये विवश सा कर दिया। उस नन्हें से पत्र का संपूर्ण कलेवर प्रश्न-चिन्हों से ही बना था। और उन नन्हें नन्हें प्रश्नों के पीछे जैसे झाँक रहा था एक महान प्रश्न, अनन्त जिज्ञासा और अप्राप्य को प्राप्त करने की एक बालसुलभ अभिलाषा—लिखने वाला भी उस समय जिससे अवगत न रहा होगा।

मेरी अबोध और अज्ञान चेतना जो चारों ओर दृष्टि फैला फैला कर थक चुकी थी यहाँ पर एक प्रकार से पूर्ण विश्राम के लिए ही आई थी, जैसा तुम जानते हो। उस बालसुलभ चेतना को यहाँ आ कर अचानक एक विश्वात्मा के दर्शन हुए। उस विराट-चेतना को हम माता कहें, पिता कहें, बन्धु कहें, सखा कहें या स्वामी कहें, बालक को सब कुछ मिल गया। अब मेरी दशा गूँगे के गुड़ के जैसी है—मैं उस चेतना के एक एक अंग को निरखती हूँ और निरखती ही रह जाती हूँ—अपने नन्हें हाथों से, सीमित दृष्टि से क्या पकड़ूँ क्या छोड़ूँ। अब भले ही इसमें से मेरे पल्ले कुछ पड़े या न पड़े पर इसे छोड़कर हटूँ भी तो कैसे? न कहीं आते बनता है न जाते।

आज मैं प्रार्थना करती हूँ कि जिस चेतना को मैं देख रही हूँ, छू रही हूँ, पर अपनी असमर्थता और दुर्बलता से उसे साहित्य में अंकित करके अपने हिन्दी-भाषी भाइयों तक पहुँचाने में असमर्थ हूँ और केवल किंकर्तव्य-विमूढ़ सी उसकी ओर ताक रही हूँ कि तुम, और तुम्हारे अनेक सह-साहित्यकार उसे ग्रहण कर साहित्य के विभिन्न स्रोतों में इस प्यासे जगत पर वर्षा करके उसे आनन्द विभोर करें।

हमारे लेखक को विचार की करुणा-जनक स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। साहित्यकार अपना दिल-दिमाग और शरीर सब कुछ साहित्य-सृजन में झोंक रहा है। जैसे वह यह सब एक महान मजबूरी में करता हो क्योंकि उसे, जो वह चाहता है उसके बदले में नहीं मिलता। इसीलिये पग पग पर अपने दान के लिये

वह शर्तें बाँधता है, इसीलिये वह पैसा और सम्मान चाहता है। किन्तु साहित्यकार को पहले द्रष्टा बनना था पीछे स्रष्टा। और साहित्यकार द्रष्टा होता भी है। पर द्रष्टा बनने के पहले उसे अपना सम्पूर्ण अहं तो समर्पण ही करना पड़ता है। एक बार जान का भय छोड़ कर महाशून्य के समुद्र में तो निश्शंक होकर कूद ही पड़ना होता है। तब उसे क्या नहीं मिल जाता। वह विश्वात्म-मय होकर इस सबका—जो कुछ हम देखते हैं, राजा बन जाता है, दास नहीं रह जाता। फिर यह युग तो केवल एक नया युग ही नहीं है, यह युग तो धरा के इतिहास का अन्तिम और सबसे ऊँचा चरण होगा। आज अब प्रकृति के विकास-क्रम की क्रिया का कार्य मनुष्य को जगाकर समाप्त होता है। इसलिए आज तो द्रष्टा पर पूरी जिम्मेदारी आ पड़ी है। आज उसे सत्य की केवल झलक भर देने से काम नहीं चलेगा, न पौराणिक प्रतीकों के सहारे नाव पार लगेगी अपितु उन सबको अनुभूत बनाना होगा। सत्य की छाती चीरकर अपना सौर-रथ उसपार तक सीधे ले चलना होगा। द्रष्टा, महान द्रष्टा, पूर्ण द्रष्टा, होकर ही सृजन करना होगा।

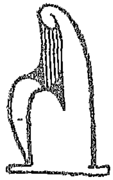
एक दिन किसी अनजानी पीड़ा से ही मैंने वह नाटक लिख डाला था, जिसके पात्र परदेशी और नायक गायब था—यहाँ आकर उस पीड़ा का अर्थ स्पष्ट हो गया। हिन्दोस्तान अपना एक महान संदेश लेकर आया है—उसने सदा दूसरे देशों के तिरस्कार, निरादर और काहिली के प्रति उलाहने ही सुने हैं। वह इतनी कड़ी तपस्या क्यों कर रहा था? वह संसार को अंतिम पाठ पढ़ाने वाला है, चरम सत्य खोजकर उसके आगे रखने वाला है। अन्य अनेकों निष्कर्ष जो हमें सत्य जैसे लगते हैं, यह सब एक दैवी चक्र-मात्र हैं जो अवश्य ही एक के बाद एक आने थे, प्रगति भी उसे कहिये ही पर अंतिम प्रगति वह महान सत्य ही होगा। हमारे राजनीतिक नेताओं ने जिसे बहुत ही धुँधले रूप में कुछ महसूस करना शुरू किया है पर स्पष्ट कुछ नहीं है। पर विश्वास रक्खो कि हिन्दोस्तान का संदेश कोने कोने तक पहुँचाना राजनीति के बस की बात नहीं है। साहित्यिक यदि भारत के राजनीतिज्ञ की बागडोर नहीं सँभालता, अपितु उलटे साहित्यिक ही राजनीति का खिलौना बना जाता है तो भारत के संदेश का डूबना ही निश्चय है। मेरी यह प्रार्थना केवल हिन्दी के साहित्यकार से ही है ऐसा नहीं, पर हाँ उससे विशेष रूप में इसलिये है कि यदि वह समझता है हिन्दी को हिन्दोस्तान के अधिक लोग समझते हैं और दिनों दिन समझेंगे तो उसी प्रतिशत से उसके ऊपर जिम्मेदारी भी अधिक आती है। प्रत्येक वस्तु के ग्रहण का एक निश्चित समय होता है। समय पर सावधान होकर उसे ग्रहण न करने पर बात खराब हो जाती है।

क्या कभी भी दुनिया के भेदभाव और स्वार्थ समझौते के दबाव से दूर किये जा सकते हैं ? क्या भाषा, विचारों और शैलियों के झगड़े अखबार निकाल कर या दल और पार्टी खड़ी करके शान्त हो सकते हैं । जिस प्रकार एक उम्र वाले बच्चों के झगड़े बड़ों के ही बीच में पड़ने से दूर होते हैं, उसी प्रकार हमारे स्तर की चेतना के झगड़े केवल हम बड़े, हम बड़े, कहने से दूर नहीं होंगे बल्कि चेतना का स्तर ही ऊँचा करने से दूर होंगे । और मैं तो कहूँगी यह ऊँचा भी धीरे धीरे जब सम्पूर्ण ऊँचाई, नीचाई और चौड़ाई को घेर लेगा तभी पूर्णतः हमारी सफलता होगी । तभी हम अपनी खण्डता को, जड़ता को और मृत्यु को पूर्णरूपेण जीत सकेंगे, फिर जो कुछ हम सृजन करेंगे सुन्दर ही सुन्दर होगा । जिस भाषा में हम लिखेंगे वह प्रान्त और देश की भाषा नहीं वरन् विश्वात्मा की भाषा होगी । वे वेदनाएं प्रान्त, देश और काल की नहीं, युगों के स्तरों की होंगी । हमारा दायरा इतना बढ़ जायगा कि ये छोटे दायरे रहते हुये भी हमारा मनोरंजन ही करेंगे खिलौने ही होंगे, ये हमारे लिये नर्कों का सृजन नहीं करेंगे । और इस तपस्या और साधना के लिये हमें सभा सोसाइटियाँ और दल बाँधने से मतलब न होगा अपितु चुपचाप ही साधना करनी पड़ेगी क्योंकि माँ का यह कथन सत्य ही है कि सबसे बड़ी विजय का शोर सबसे कम होता है । नये जगत के प्रकट होने की घोषणा ढोल पीटकर नहीं की जाती ।

यद्यपि मैं जानती हूँ कि कोई भी साहित्यिक कहीं चुप न बैठा होगा । पर जैसा तुमने लिखा है कि आजकल उदासी सी ही है—यह सत्य हो सकता है । हमें बार बार उदासी का सामना इसी कारण करना पड़ता है कि एक बार इतनी बड़ी चेतना साहित्य में उतार लाने की सामर्थ्य हममें नहीं आ पाती कि फिर उदासी कभी आने ही न पावे ।

अरविंद-आश्रम
पाण्डिचेरी





डरो न इनसे

बालकृष्ण राव

डरो न इनसे,
शब्द हमारे बंद कोष में,
बँधे अर्थ की जंजीरों से;
बेबस हैं अब;
कर न सकेंगे वे पंजों का
हिंस्र. बनैले पशुओं सा उपयोग,
देख लो
कटे-छँटे हैं, रँगे हुये इनके पैने नख
जिन्हें दिखा देंगे फ़ौरन, आज्ञा पाते ही,
और दिखाकर
बड़े हर्ष से पूँछ हिलाते खड़े रहेंगे
शब्द हमारी रक्तहीन, ग्रन्थिक भाषा के—
डरो न इनसे।

इन्हें सजाकर
हम जुलूस में ले जाते हैं राज-पथों पर;
लोग प्रतीक्षा करते हैं ऐसे जुलूस की
और उसे प्रवचन कहते हैं।
तुम्हें देखना हो जुलूस तो चलो पंक्ति में,
इसी ओर जो आँख लगाये खड़ी हुई है,
कहीं खड़े हो करो प्रतीक्षा,
याद रहे पर,
आँख बन्द कर लेना जब वे आगे आवें
देख सकोगे तभी अलौकिक सज्जा इनकी।

किन्तु अलौकिक,
सज्जा के अतिरिक्त, और भी कुछ है इनमें,
जब जुलूस में
चलते हैं ये शब्द हमारे,
तब न भूमि पर कभी छोड़ते हैं निशान
अपने पंजों के।

पर अशक्त हैं
शब्द हमारे
बोल न पाते,
खोल न पाते जंजीरों को आज अर्थ की,
क्योंकि कोष के बन्दी हैं वे;
डरो न इनसे।

कई कई बत्तियाँ

नलिन विलोचन शर्मा

बिचबिंदी के तनिक बाएँ
कभी-कभी होने लगता जो दरद
तो एक साँस पीछे छूट जाता अस्तित्व,
आय कर की एक किस्त करद

चुका नहीं पाता। सहकारिता-
समिति का ऋण, ज़िन्दगी, या
उचित तो यह कहना होगा कि मौत,
का ढाई हज़ार का बीमा,

अन्न, दूध, कपड़े का बकाया,
और मैं भूला जा रहा था, फीस
चिरंजीव के लिये स्कूल की, सिगरेट
के लिये उधार अपना; याद आते ईश।

धड़कनों की पूँजी, फिजूलखर्चों
के बावजूद, ग़नीमत है, चुकी नहीं है,
कई-कई बत्तियाँ दिये में जलाता था,
घटा दूँ ! लेकिन छायेगा अँधेरा शनै:

आदमी का अनुपात

श्री गिरिजाकुमार माथुर

दो व्यक्ति कमरे में
कमरे से छोटे

कमरा है घर में
घर है मुहल्ले में
मुहल्ला नगर में
नगर है, प्रदेश में
प्रदेश कई, देश में
देश कई पृथ्वी पर
अनगिन नक्षत्रों में
पृथ्वी एक छोटी
करोड़ों में एक ही
सब को समेटे है
परिधि नभ गंगा की
लाखों ब्रह्मांडों में
अपना एक ब्रह्मांड
हर ब्रह्मांड में
कितनी ही पृथ्वियाँ
कितनी ही भूमियाँ
कितनी ही सृष्टियाँ

यह है अनुपात
आदमी का विराट से
इस पर भी आदमी
ईर्ष्या, अहं, स्वार्थ,
घृणा, अविश्वास-लीन
अपने को दूसरे का स्वामी समझता है
देशों की कौन कहे
साथ रह न सकता है।

हृदय की गुहा

भारतभूषण अग्रवाल

सूनी, अँधेरी यह हृदय की गुहा—
बन्द, चारो ओर चट्टानें उठीं, संस्कार-सी
भाव मन के कुलबुलाते जीव
ज्योति और वातहीन क्षुद्र परिधि में
रेंगते ज्यों गिलगिले अन्धे, मिट्टीखोर
केंचुए।
धूप का न नाम है, न नाम हरियाली का।
दुर्गन्ध कड़वी और तीखी सड़ी प्याज-सी
आकांक्षाओं के छाया-प्रेत
न-कुछ में बनते और मिटते
भयंकर अ-यथार्थ
स्वार्थ, स्वार्थ।

वह जो प्यासा था

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

वह जो मानसरोवर के जल का प्यासा था
पर जिसकी तृष्णा
उसको इस पोखर के जल तक ले आई
उसकी मजबूरी भी देखो
पत्थर छेद छेद कर उसने
पारदर्शिनी दृष्टि बनाई
मन ही मन थी उसने लाँघी
दुर्गम हिमगिरि-शृंग-वलय की
सामूहिक ऊँचाई
एक ज़रा सी फिसलन ने
ठोकर दे उसको ले डाला
उसका सब अरमान, मान
पहली ही मंज़िल को दे डाला
टूट बिखर वह गया
ज़िन्दगी साथ नहीं दे पाई।
पर मुर्दा पग का छाला तो
उसकी नहीं कमाई
उसके मुँदते नयन निहारो
दीख रही क्या तुमको दम तोड़ती हुई
ऊँचाई ?
नीले जल में प्यासी कोई मछली पड़ी
दिखाई ?
उसने डुबकी एक लगाई ?
यह क्या !
हिचकी आई ?
अब सारी काया कुम्हलाई
बड़ी हार है, माना
पर यह हार बड़ी है भाई।
ओ ! जो तुम,
तुमने ही उसके
विजय-यात्रा-पथ के अथ में
नीली घृणा बिछाई
आओ भाई
उसे पराजय में स्वीकारो
उसका आपद्धर्म विचारो
करुणा हो तो उस पर वारो
एक बिन्दु पर मिल जाती है
ऊँचाई नीचाई

संख्या के बच्चे

श्रीकांत वर्मा

सच है ये शून्य हैं
और तुम एक हो !
बड़े शक्तिशाली हो !
क्योंकि शून्य के पहले
उस के दुर्भाग्य से खड़े हो।
अपनी आकांक्षा के
कुतुब बने सांख्य—
तुम भी आँकड़े हो।

मत भूलो—
तुम केवल एक हो।
शून्य ही दहाई है, शून्य ही असंख्य है।
शून्य नहीं धब्बे हैं।
आँसू की बूँदों से
लोहू के कतरों से शून्य ये सच्चे हैं,
संख्या के बच्चे हैं।

शून्यों से मुँह फेर
खड़े होने वाले—
शून्य अगर हट जायें
ठूठे की अँगुली-से केवल रह जाओगे।

मत भूलो
शून्य शक्ति है, शून्य प्रजा है।

पता नहीं कौन है!

केदारनाथ सिंह

कई दिनों से अक्सर देख रहा हूँ उसको—
पके हुए खेतों के आस पास,
प्लाटफार्मों पर,
शाम की सभाओं में,
पता नहीं कौन है!
खोया खोया उदास रहता है,
मेरे सब अनपूछे प्रश्नों को सहता है,
कभी किसी—जाने किससे—
कहने खातिर
मैंने जो सीख रखा था—
मुझसे सब कहला देता है,
बदले में—
कभी किसी चौखट के पास,
कभी रास्तों के मोड़ों पर
जाने क्या लिखता है और मिटा देता है।
कल मैंने उसे एक रेस्तराँ में देखा था।
बातें की थीं,
बिल्कुल अपनी जैसी भाषा में—
घण्टों साथ-साथ घूमा था—
चिड़ियों के झड़े हुए पङ्खों के इर्द-गिर्द,
यहाँ-वहाँ—
हर आते-जाते के सङ्ग सङ्ग
हर आधे सुने हुए स्वर के पीछे-पीछे
बातें की थीं,
घण्टों साथ-साथ घूमा था,
जाने क्यों—
रह-रह कर कुछ ऐसा लगता है—
मैंने इस शाम उसे चाय पर बुलाया है!
वह—
कि यहाँ पहले भी कई बार आया है!
अनदेखा अतिथि,
या कि कभी कहीं का देखा—
किसी नये ग्रह का यात्री कोई—
जो हो—पर पहले भी कई बार आया है।
पता नहीं इस समय कहाँ होगा?
पर वह जिस जगह भी जहाँ होगा—
वहाँ—
कौन कहे—उसकी मुट्ठी में क्या है!
दूर्वा है!
कि बकुल है!
कि धान की फूटी कलगी है!
क्या है जो गन्ध यहाँ तक रह-रह
आती है!

पता नहीं क्या है!
कई दिनों से अक्सर पूछ रहा हूँ सबसे—
पता नहीं क्या है!

लोरपोछन

केशवप्रसाद मिश्र

पति के मरने के तीन महीने बाद—देवी देवताओं की कौन कहे, ऊँची धरती पर पड़े हुये माटी के ढेले को भी पाँच बार सिर टेक, मिन्नतें मानने से जब लड़का पैदा हुआ, तो विधवा माँ ने बेटे का मुँह देख, दोनों हाथों से अपना आँचल थाम आँखों का लोर पोंछ लिया, और बड़े आसरे से बेटे का नाम लोरपोछन रक्खा। एक गाय और सात बीघे खेत के सहारे माँ ने बेटे को पाल पोस कर सोलह साल का हृष्ट-पुष्ट लम्बा जवान बना दिया। और खेती में उसे कुछ ऐसी लगन लगी कि वर्ष भर म पैदावार दूनी होने लगी। धीरे-धीरे घर की पुरानी रौनक एक बार फिर से लौट पड़ी।

बाप की तरह बेटे को भी शौक जगा घोड़ा रखने का। अन्तर यह था कि बाप टट्टू रखता था, बेटे ने असली नस्ल का दरियाई घोड़ा रखा! साल भर का बच्चा, पाँच फीट ऊँचा, एक दम दूध की तरह सफेद। दो महीनों में हिला-मिला के रोज रोज खरहरे और नमदे से रगड़ से लोरपोछन ने उसे तन्दुरुस्त और चिकना कर दिया। एक दम ताजे लमनू (मक्खन) की तरह हर ओर से भरापूरा कि एक बार मक्खी भी बैठे तो फिसल जाय। दुलार से घोड़े का नाम रक्खा लोटन। तेल पीकर धुयें में रखी हुई टन्-टन् बोलने वाली टिकासन भर की लाठी ले साँझ को झूमते हुए लोरपोछन जब सरेह घूमने निकलता तो पीछे-पीछे पालतू कुत्ते की तरह गर्दन ऊँची किये हुये लोटन भी रहता।

गाँव भर में दो ही आदमियों के पास घोड़े थे। एक तो लोरपोछन के पास, दूसरा दक्खिन टोल के तिलकधारी के पास। इन दोनों परिवारों में पुरानी अनबन चली आती थी। तिलकधारी के मरने पर नरेश ने लोटन की देख के मारे नये ढङ्ग से लोर-पोछन से रार शुरू की। आस पास के गाँवों में शादी ब्याह के मौक़ों पर इन घुड़सवारों की बुलाहट होती। दुर्जनपुर के तिवारी ने अपनी बेटी के ब्याह में बारात की अगवानी के समय घुड़दौड़ के लिये नरेश और लोरपोछन को न्यौता दिया। रेशमी कुरता

पहन, सिर पर बाप के समय का धराऊ मुरैठा बाँध, हाथ में चाबुक और कन्धे पर रेशम की ही चादर फरफराते हुये लोटन को साज-लगाम से सजा बरातियों के बीच घुड़दौड़ करने के लिये जब लोरपोछन पहुँचा तो देखा एक हाथी के बगल में नरेश पहले से ही डटा था।

नरेश ने लोरपोछन को व्यंग से उकसाया। "लोरपोछन! हाथी को बिगाड़ दो तो लोटन की कूवत मानूं?"

"घुड़दौड़ करने आये हो कि हाथी से खेल करने नरेश?"

"टट्टू पालने वाले बाप का बेटा बारात में घुड़दौड़ करना क्या जाने! दम हो तो आओ।" और नरेश ने घोड़ा दौड़ा कर बीघे भर की जमीन खाली कराली। लोरपोछन तब भी खड़ा रहा। "डर लगता है तो टट्टू लेकर किनारे हो जाओ।" नरेश बगल से निकलता हुआ फिर बोला।

नरेश की बात खत्म होते होते लोरपोछन ने लोटन को एड़ मार दी। लोटन हिनहिना कर आंधी की तरह दौड़ पड़ा। दो चार बार हाथी के आगे पीछे दौड़ लगा पीछे से जोर से हाथी को एक चाबुक मार, सफाई से अपने को बचा के, आगे से उसकी सूँड़ पर लोरपोछन ने लोटन की अगली दो टाँगे रखा दीं तो हाथी चिढ़ गया।

"संभाल के मालिक! हाथी बदमाश है!" बजते हुये बाजों की तेज़ आवाज़ में जोर से पीलवान चिल्लाया।

"आओ नरेश, अब तुम्हारी बारी है?" कहते हुये लोरपोछन अलग हट गया। चिढ़ा हुआ हाथी हवा में बुरी तरह सूँड़ हिला रहा था। ज्योंही हाथी को चाबुक मारने के लिये बगल से नरेश निकला तो हाथी ने झटके से घूमकर हवा में सूँड़ नचा जोर से नरेश और घोड़े पर पटक दिया। घोड़े की पीठ पर से छिटक कर नरेश दूर गिरा और घोड़ा हिनहिना कर भाग निकला। बारात के बजते हुये बाजे बंद हो गये। जैसे तैसे पीलवान ने हाथी को कब्जे में किया।

लेकिन लोटन को दौड़ा कर नरेश के घोड़े को लोरपोछन पकड़ लाया। कपड़े झाड़ते हुये नरेश को घोड़े की लगाम पकड़ाते हुये लोरपोछन बोला, "क्या टट्टू रक्खा है जो मालिक की मुसीबत में भाग निकला। बाप की कमाई से खरीदे हुये घोड़े से इज्जत नहीं मिलती; अपनी कमाई से घोड़ा बाँधो समझे।"

दूसरे दिन नरेश की पलानी में खाने पीने के बाद हर रात की तरह जब मुँह लगे चापलूसों का जमाव हुआ तो इस घटना को और भी तीखा रूप दे दिया गया। जलेसर ने नरेश को याद दिलाया कि एक बार लोरपोछन के पिता ने नरेश

के पिता से कुछ रेहन रखा कर रुपये लिये थे, पर जब फेरने का मौका आया तो खुद न आकर अपने नाई रामसुभग के हाथ थैली भेजी। जई की पुरानी दुश्मनी रामसुभग से थी और उसने सुझाया कि सच तो यह है कि लोरपोछन का दिमाग इतना इसीलिये बिगड़ा है कि उसका मन्त्री सलाहकर आजकल रामसुभग है।

तभी बालबचन बोल पड़ा, "बड़ा अच्छा मौका है नरेश, अगर मेरी मानो तो रामसुभग और लोरपोछन दोनों का मानमर्दन हो जाय। एक चोट में दो सांप।" नरेश के पूछने पर बताया कि रामसुभग ने मीनापुर के रघुनन्दन हज्जाम के बेटे से अपनी बेटी दुलारी का ब्याह तय किया है। रामनगर का देवा भी अपनी बेटी उसी लड़के से ब्याहना चाहता है, लेकिन पैसे की तङ्गी के कारण बेबस है। सौ पचास की बात है, अगर देवा की पीठ पर खड़े हो जाओ तो यह ब्याह कर डाला जाय।"

बात सबको भा गई। गुप्त रूप से यही निश्चय रहा। गरीब हज्जाम रघुबर पर नरेश के धन और जन दोनों का दबाव पड़ा तो वह डर गया। खबर जब रामसुभग को पहुँची कि लगा-लगाया ब्याह टूट रहा है तो वह दौड़ा हुआ लोरपोछन के पास आया। बड़ी देर सोचने के बाद लोरपोछन ने रामसुभग को यह समझा के विदा किया कि चाहे जैसे भी हो तिलक रघुनन्दन के बेटे से ही चढ़ेगा।

लेकिन, तिलक के ठीक बीस दिन पहले रामसुभग चल बसा। अब लोरपोछन को लगा कि जैसे अपनी ही बहन का भार उसके ऊपर आ पड़ा। लोरपोछन ने पहले तो गाँव के बड़े बूढ़ों के द्वारा नरेश से कहलाया कि दुलारी के ब्याह में वह बाधक न बने। लेकिन जब उसका कोई असर नहीं हुआ तो तिलक के एक दिन पहले अपनी टिकासन भर की लाठी ले वह नरेश के खण्ड में जा पहुँचा।

"कहो, लोरपोछन कैसे आये!" नरेश खाट पर बैठे बैठे ही बोला।

"अपने से बड़ा जब द्वार पर आता है तो उठकर उसे बिठाने के बाद तब अपने बैठते हैं।" नरेश के सामने चौकी पर बैठते हुये लोरपोछन बोला।

"छोड़ो ये सब पुराने युग की बातें। कहो कैसे आगये?"

"यही तो समझाने आया हूँ कि आग से मत खेलो।"

"क्या?" नरेश कुछ कड़ा होकर बोला।

"यही कि आपस के बैर के कारण गाँव की इज्जत क्यों बरबाद करते हो। बैर हमसे साधो, उस अनाथ लड़की को आग में क्यों झोंकते हो?"

लेकिन नरेश जब किसी तरह मानता नजर नहीं आया तब वह खड़े होकर बोला—

"खैर, यही तुम्हें बताने आया था कि लोरपोछन की लाठी के आगे बाप की कमाई कोई काम न देगी, समझे!' कहके लोरपोछन चला आया। और दूसरे दिन अपने दल के साथ मीनापुर के रघुनन्दन हज्जाम के बेटे का तिलक चढ़ाने को जब लोरपोछन पहुँचा तो देखा दूसरे दल से तिलक चढ़ाने वालों के साथ नरेश भी डटा था।

"क्यों रघुनन्दन!" लोरपोछन ने हज्जाम से पूछा, "ये सब क्या मामला है?"

हाथ जोड़ते हुए रघुनन्दन बोला, "हम गरीब आदमी हैं सरकार, आप के सेवक। हमारे लिए तो दोनों बराबर हैं!"

"लेकिन इस समय दोनों बराबर नहीं हैं।" गरजते हुए लोरपोछन ने चारों ओर खड़े गाँव के लोगों की ओर ताक के कहा, "पहले बात किसे दी थी?"

"रामसुभग को।" डरते हुए रघुनन्दन बोला।

"फिर तिलक क्यों नहीं चढ़वाते?"

"तिलक कैसे चढ़वाये, देवा हज्जाम से इसने कर्ज लिया है; या तो उसके रुपये लौटा दे या अपना लड़का दे।"

"तो तुम रुपयों के जोर पर यहाँ चढ़ के आये हो नरेश!"

"जब और कोई जोर नहीं चलता, तब रुपयों का जोर आजमाया जाता है लोरपोछन! क्या इतनी सी बात नहीं जानते!" नरेश ने उत्तर दिया।

"हूँ! तो ये बात है नरेश!" लोरपोछन भीतर से लहकते हुए बोला, "मर्द हो तो मेरी बात मानों तो अभी फैसला हो जाय कि कौन तिलक चढ़ायेगा।"

"बोलो?"

"जब मैं तिलक चढ़ाने आया हूँ।" लोरपोछन कहने लगा "तो ऐसे नहीं लौटूँगा। जब तुम्हें उचित अनुचित का विचार नहीं तो आज कुछ होकर रहेगा। दूसरों को झोंकने से अच्छा होगा कि अपनी-अपनी लाठियों की ताकत आजमायी जाय; जो जीते, तिलक चढ़ावे?" स्वीकृति के लिए लोरपोछन ने भीड़ की ओर देखा।

दो मिनट सोचने के बाद अपनी गमछी सिर से फेंक, सामने मैदान में जवान बाछा की तरह धरक के नरेश उतर पड़ा।

और तब बगल में बँधे हुए लोटन की पीठ पर अपनी रेशमी चादर और मुरैठा रख, लोरपोछन ने प्यार से लोटन की पीठ थपथपाई। घोड़ा मालिक का दुलार पा हिनहिना उठा। सिर पर गमछी बाँध हाथ में लाठी संभाल, लोटन को एक बार चूम कर, लोरपोछन मैदान में नरेश के सामने आ खड़ा हुआ। चारों ओर मीनापुर के लोग तथा लोरपोछन और नरेश के मददगार, लाठियों से सजे हुये खड़े थे।

"अब भी सोच लो नरेश !" लोरपोछन की बात खत्म होते-होते नरेश ने लाठी छोड़ दी, लोरपोछन कतरा गया, लाठी धरती पर जोर से गिरी, नरेश का हाथ झन-झना गया। तभी लोरपोछन के हाथ की एक हल्की लाठी चप् से नरेश की पीठ पर बैठी। नरेश के आगे पल भर को अँधेरा छा गया। लेकिन दूसरे ही क्षण लाठियों की टकराहट के साथ दोनों मर्दों की पैंतरेबाजी पर सैकड़ों आँखें गड़ गयीं। नरेश भी छटा हुआ जवान था, छरछरा और फुर्तीला। पैंतरेबाजी में नरेश को मौका मिला, इसकी भरपूर लाठी लोरपोछन के बायें हाथ पर गिरी। पाँचों अंगुलियाँ खून से पच-पचा गई। हाथ लाठी से छिटक गया। लेकिन लोरपोछन ने अपने को सँभाल लिया। और पलक मारते लोरपोछन की सधी हुई लाठी नरेश की कमर से जैसे चिपक गई। नरेश के सँभलते सँभलते लोरपोछन ने दूसरी लाठी घुटनों पर मार दी। नरेश चीख कर गिर पड़ा। खून की गर्मी में उठने की कोशिश की तो लोरपोछन ने लाठी का हुरा नरेश की छाती पर रख कर के जोर से दाब दिया। पीठ के बल वह चित्त गिर पड़ा। थोड़ी देर तक उठने की राह देखने के बाद नरेश जब उठ न पाया तो उसे गोदी में उठा के चारपाई पर लाकर बिठा दिया।

और रघुनंदन के बेटे को लोटन की पीठ पर अपने आगे बिठाकर गाँव की ओर उड़ चला। और उसी रात पुरोहित को बुला विधिवत दुलारी की माँग में सिन्दूर डलवा; दूसरे दिन सबेरे बाजे के साथ दुलारी को डोली में बिठा ससुराल बिदा कर दिया। नरेश एक महीने तक लाज के मारे घर के बाहर मुंह नहीं दिखा सका।

गाँव के पश्चिमी बगीचे में चार पाँच नटों के डेरे थे। उनमें एक नट था ३५ साल का मनबहका मुड़ेरा। उसको एक सयानी क्वाँरी बेटी थी धाना। गोरी, भूरी आँखें और पतले शरीर की। चूँकि बाप घोड़ों का रोजगार करता था, इसलिए बेटी छै अंगुल चौड़ी कोर की साड़ी पहनती थी, बगुले की पांख की तरह धप धप सफेद। गाँव के दर्जनों मनचाहे जवानों की आँखों की शिकार; पर स्वभाव से इतनी तेज और शोख कि बात करने की किसी को हिम्मत नहीं पड़ती थी। धाना के लिये नरेश ने मुड़ेरे को मिलाया था लेकिन धाना की आखों में गड़ा था धोती फरफराते हुये हवा में उड़ने वाला लोटन का सवार। प्रायः हर रोज चाहे जिस बहाने से हो, लोरपोछन को वह देवता की भाँति एक बार निहार लेती थी। यद्यपि लोरपोछन धाना की इन नजरों से अनभिज्ञ था, एक दम अछूता।

सांझ हो चली थी। दौड़ने के कारण पसीने से तर लोटन को टहलाते हुये

पैदल ही लोरपोछन कहीं से आ रहा था। धाना की नजर पड़ी। तेजी से घास छीलने वाला खुरपा और खांची ले उसी पगडण्डी पर आगे घास छीलने बैठ गयी। पास आ बगल से लोरपोछन कतरा कर निकलने लगा तो धाना उठकर खड़ी हो गई। बोली—"तनिक सा बोल देते तो मैं ही राह छोड़ कर हट जाती, बगल से जाने की क्या पड़ी थी।" कहने को तो कह गई पर डर के मारे जैसे भीतर ही भीतर कांप रही थी। पर लोरपोछन जैसे किसी चिन्ता में डूबा हुआ, बिना धाना की ओर देखे आगे बढ़ने लगा तो धाना उसकी राह रोक कर खड़ी हो गई। जैसे अचानक लोरपोछन की सारी चेतना लौट आई। चौंक कर बोला, "यह क्या है ?"

"पूछती हूँ कि लोटन के अलावा दुनिया में और कोई नहीं है ?"

धाना के चेहरे पर लोरपोछन की आँखें जैसे पल भर को चिपक गई "अभी तक तो कोई नहीं है।"

"नहीं है तो ले आओ, पेड़ में लटकते हुये फल को देख के लालच लगती है। उसका रखवारा होना चाहिये।"

"पहली ही भेंट में नेटुए की बेटी इतना बोल गई।"

"खिसियाना मत लोरपोछन, अधिक मीठा खा लेने से मुंह पक जाता है, यही कहने आई थी।"

तभी बगल में खड़ा हुआ लोटन जोर से हिनहिना उठा। "चुप, चुप चलता हूँ।" कहते हुये लोरपोछन मन में जैसे कोई पहेली लिए हुए, लोटन की रास थामे पैदल चुपचाप खण्ड की ओर चल पड़ा।

घर आया तो माँ को ज्वर से चूर पाया। चूल्हे में आग जला माँ को काढ़ा बना के पिला कर बाहर खंड में आया। गाय और बैल नाँद से लगने को ताक रहे थे। नाँद लगा, लोटन को मलकर, उसके आगे चना की बाल्टी रख, खण्ड को खरहरे से बहार कर साफ किया। पहर भर रात बीते घर आया तो देखा माँ उसी तरह ज्वर में बड़बड़ा रही थी। एक बार फिर उसे दवा पिला, माँ के सिर में तेल लगाने बैठ गया! धीरे धीरे बूढ़ी माँ को होश आया तो कलपती हुई बोली—"कहती हूँ कि अब अकेले इस घर में मुझसे नहीं रहा जाता।"

"क्या हुआ माँ ?

"कुछ नहीं ? अपने करम को रो रही हूँ कि बड़े आसरे से आदमी बिरवा सेता है। लेकिन जितना सब दिया होगा, उतना ही मिलेगा। जब तक जाँगर चलता है, खटती हूँ। थक जाने पर कौन जाने......मुंह में पानी देने वाला न मिले।"

"जो कहो माँ, ब्याह करने से मैंने कब इन्कार किया है।"

"लोटन के पीछे जब बूढ़ी माँ बिसर जाती है तो पराये घर की बेटी मैं सँभाल लूंगी ? जा चीनी ला दे, कुछ खाने को बना दूँ।"

"मैं बना लेता हूँ तुम पड़ी रहो।"

भोजन करके, लोरपोछन उठा, तो माँ को फिर जूड़ी चढ़ आई। रजाई उढ़ा उसे गोदी में दाब, उसी की खाट पर सो गया। थका था, आँख खुली तो भोर होगया था।

माँ को सोती छोड़ बैलों को नाँद से लगाने बाहर खण्ड आया तो देखा लोटन अपने खूँटे पर नहीं था। कभी पगहा तोड़ इधर-उधर नहीं जाता था। पर अगल बगल बँसवारी में चारों ओर ढूँढ़ने के बाद भी लोटन नहीं दिखा तो उसका माथा ठनका। दौड़ दौड़ के अपने संगी साथियों से पूछा। पर कहीं पता नहीं चला। साँझ होते होते गाँव भर में खबर फैल गई कि लोरपोछन का लोटन चोरी हो गया। बहुत देर तक गाँव के लोग पुछार करने आते रहे। खण्ड में जैसे मौत की खामोश उदासी छाई हुई थी। जिसको जो सूझती, कहता और लोरपोछन पलानी में बाँस के खम्भे से पीठ टेके धरती पर बैठे बैठे मछुए के जाल में पड़ी हुई मछली की तरह भीतर ही भीतर छटपटा जाता था। होठों पर पपड़ियों की काली पर्तें पड़ गई। साँझ होते होते महीनों से बीमार रोगी की तरह लोरपोछन की आँखें गड्हों में धँस गई।

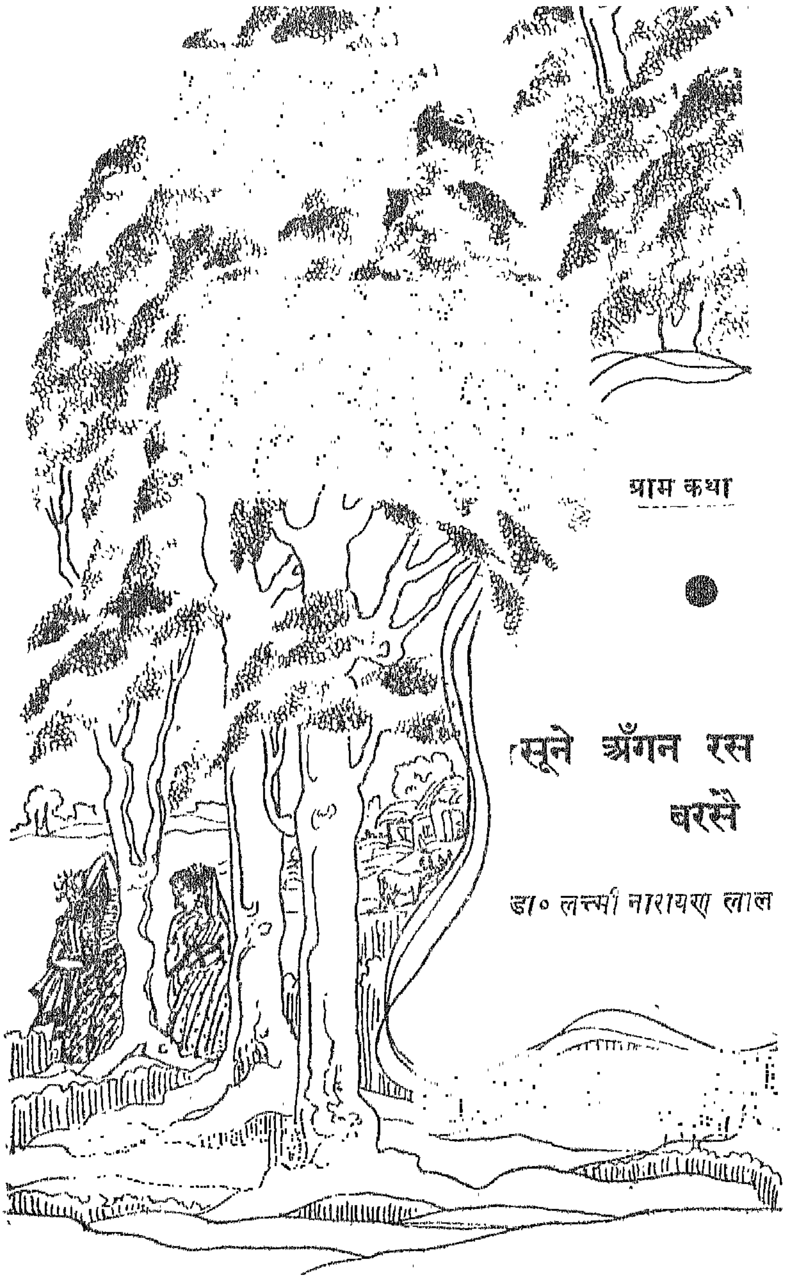
तीसरे दिन लोरपोछन को चोरों ने खबर दी कि दो सौ रुपये पनहा अगर वह दे तो मीनापूर के सामने गंगा किनारे दिया बत्ती जल जाने के बाद ताड़ के पेड़ के पास घोड़ा बँधा मिल जायगा।

लोरपोछन में जैसे नया जीवन आ गया। सौ रुपये पास में थे। बाकी उधार लिए और पनहा के दो सौ रुपये भेजवा कर, नियत दिन को दिया बत्ती जल जाने के बाद सिर पर गमछी बाँध, अपनी लाठी ले लोटन को लाने चल पड़ा। जैसे-जैसे गंगा के तीर के पास पहुँचता जाता था, उसके दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी।

गाँव से मीनापूर डेढ़ कोस था। मीनापूर और गंगा के तीर में आध मील की दूरी थी। लेकिन इसमें झाऊ का घना जंगल था। अंधेरा पक्ष होते हुये भी रात साफ थी। झाड़ को ताकते हुये जब लोरपोछन पेड़ के पास पहुँचा तो एक बार उसने परिचित ढंग से खांसा। मालिक की आवाज सुन लोटन जोर से हिनहिनाया। लोरपोछन का दिल बांसों उछल गया। आवाज़ के अंदाज पर, पास पहुँच कर, जैसे ही उसने लोटन की पीठ पर हाथ फेरा कि पीछे से उसकी पीठ पर गद से एक लाठी पड़ी। लोरपोछन चौंक गया, बिजली की तरह घूम कर देखा तो दस आदमियों की लाठियाँ एक साथ उस पर गिर रही थीं। झटके से वह लोटन के पेट के नीचे होकर दूसरी ओर निकल गया, सारी की सारी लाठियां आपस में टकरा कर धरती पर

तड़तड़ाती हुई गिरीं, लोटन जोर से हिनहिना उठा। और उस झाऊ से भरे जंगल में पैंतरेबाजी के साथ दस लाठियों के मुकाबिले लोरपोछन की अकेली लाठी चलने लगी, तभी अचानक पास ही से थाना के टार्च की रोशनी इन लोगों पर पड़ी, पलभर की इस रोशनी में नरेश और थाना के बाप मुड़ेरा को लोरपोछन ने पहचान लिया। लठैतों में बाप को पहचान, बेटी थम के सिहर गई। मुँह पर टिकी हुई रोशनी में मुड़ेरा की आँखें चकाचौंध हो गई। तभी लोरपोछन ने साध के लाठी मुड़ेरा के मुँह पर मारी। मुड़ेरा लड़खड़ा गया। मौका मिला, पैंतरे बदल के वह टप से लोटन की पीठ पर कूदा! भागने को जैसे ही लोटन ने टाप बढ़ाई कि झाऊ के छोटे से पेड़ में पैर फस गया। जोर से मचलते हुये घोड़े का पैर निकालने में शायद पल भी न लगा हो कि पीछे से नरेश को पूरी लाठी लोरपोछन के सिर पर पड़ गई। सिर फट गया और खून का फौवारा बह निकला। लोटन की टाप के साथ टार्च की रोशनी फिर जली, और बिजली को तरह लगभग डेढ़ बालिश्त को थाना की फेंकी हुई कटार नरेश के कलेजे में खप से धुस गई। नरेश वहीं गंगा के तीर पर छटपटा के लोट गया, बाकी साथी भाग निकले। लोटन पीठ पर घायल मालिक को बैठाये हवा की तरह गाँव की ओर भागा, और उसके पीछे पीछे थाना को पीठ पर लिये उसका घोड़ा। खून बराबर निकलता गया। लोरपोछन की चेतना कम होने लगी। आँखों के आगे अंधेरा छाने लगा। और जब पीठ बैठा रहना कठिन हो गया तो लोटन के अयाल पर सिर टेक लोरपोछन ने घोड़े की गर्दन दोनों हाथों से अंकवार में बांध ली।

क्रमशः चेतना-शून्य होते हुये लोटन की पीठ पर लोरपोछन जा रहा था, और पीछे पीछे अपने घोड़े पर थाना। दोनों घोड़े सरपट दौड़ रहे थे। लोरपोछन के हाथ जब ढीले पड़ झूलने लगे, तो बगल में अपना घोड़ा सटा, टप से थाना लोटन की पीठ पर कूद गई और झूलते हुये लोरपोछन को गोदी में सभाल, लोटन को एड़ मारी। घोड़ा और तेज दौड़ा। लोरपोछन और थाना को पीठ पर लिये रात के दस बजे लोटन अपने मालिक के दरवाजे पर खड़े होकर जोर से हिनहिनाया। घोड़े की परिचित आवाज सुन, तेल से भरे हुये माटी के दीप की बत्ती उकसाती हुई, किवाड़ खोल मां दरवाजे के बाहर आयी। थाना, लोरपोछन को घोड़े पर से साध कर उतारने की कोशिश कर रही थी। भारी देह संभल न सकी। बूढ़ी मां के पैरों पर बेटे का संज्ञाहीन निर्जीव शरीर धप से गिर पड़ा।



ग्राम कथा

सूने आँगन रस बरसे

डा० लक्ष्मी नारायण लाल

चैत की पुरवइया, पिछवारे इमली के पेड़ से झूम झूम कर बह रही थी, और इमली की हरी हरी पत्तियाँ फेरई चौधरी के आँगन में इस तरह बरस रही थीं, जैसे सुहाग की असंख्य धानी-धानी टिकुलियों से आँगन में किसी की सेज बिछ रही हो।

भोर होने में बहुत देर न थी, पूरब में पहला लोहा लगने ही वाला था। शुक्र महाराज धीमे पड़ने लगे थे, लेकिन आंगन के ओसार में अब तक पारवाली भौजी और फूलमती एक ही खाट पर बेखबर सो रही थीं।

आधी रात के बाद तक ये दोनों जगी बैठी फेरई भइया के घर आने की राह तक रही थीं। फेरई फौजदारी के मुक़दमें की तारीख पर गया था, और रात नहीं लौट सका था। फूलमती और उसकी चम्पा सखी छिपकर रात के पहले पहर में फेरई भइया का रास्ता देखने डिवहार के बाग तक गयी थीं। पर वह नहीं आया, और दिया सारी रात जलता रहा।

और निराश भौजी और फूला की आँखें रात के पिछले पहर लगीं, तभी दोनों में से अब तक किसी की भी नींद न टूटी। नहीं तो अब तक क्या, इससे भी पहले शुक्र उदित होते होते दोनों एक ही सँग जग जाती थीं। भौजी दोनों बैलों को सानी देती, चरनी से लेकर दुआर तक कुचरे से बुहारी दे देती और दोनो बैल, एक पँड़रू, एक लेरुआ के चारों खूँटों से गोबर उठाकर घूर में जमा कर आती। लेरुआ और पँड़रू के खूँटों के बीच खड़ी हो वह दो आँसू सदा रो पड़ती। साहेब काका के घर से फौजदारी के इस मुकदमें में, जो पिछले डेढ़ साल से मुए डिप्टी के इजलास में चल रहा है, उसकी पैरवी में पहले पारवाली भैंस बिकी, फिर मामा की दी हुई जमुना-पारी गाय भी बिक गयी, और उनकी करुण सुधि में, जैसे उन्हीं का प्रतिनिधित्व करने के लिये भैंस का वह पँड़रू, गाय का वह लेरुआ फेरई के खूँटे पर अब भी बँधे हैं।

गोबर उठाने के बाद, पारवाली भौजी ही उस टोले में पहली औरत होती जो सामने के कुएँ से पहला घड़ा भर लेती और आँगन के थाले पर रख लेती। उसकी

माँ कहती थीं, भोर में कुएँ के पहले घड़े में अमृत होता है; उसके पीने और माथा धोने से आँचल और सुहाग दोनों अमर होते हैं।

और फूलमती तब तक इधर आँगन से लेकर सारे घर में कुचरी डाल देती, और जाँत पर बैठकर कम से कम एक सेई गेहूँ जरूर ही पीस चुकती!

एकाएक भौजी की नींद उचटी। फूलमती को जगाया और ननद-भौजी दोनों आँगन में आ खड़ी हुईं—भोर का दूसरा लोहा लगने जा रहा था। सारा आँगन इमली की पत्तियों से पट रहा था। दोनों ने आँखों-आँखों में एक दूसरे से कहा, 'महुआरी में आज कम महुए चुए होंगे।"

भौजी घड़ा लेकर आँगन से बाहर दौड़ी और फूलमती अकेली, थकी-सी निरुद्देश्य आँगन में खड़ी रही। संभवतः वह देख रही थी, महुआरी में महुए टपक रहे हैं और कोई उन्हें बीनता जा रहा है!

फूला यंत्रवत मुड़ी, और आँगन में झाड़ू देने लगी। ढेर-सी इमली की पत्तियों का डलवे में उठाकर जब वह बाहर निकली, उसी समय कमर पर घड़ा रखे हुये भौजी मिली, "सुनो बहिनी, आज मैं महुआ बीनने न जा सकूँगी, तुम अकेली दौड़ जाओ मेरी रानी बहिनी, मैं तब तक घर का सब काम देख लूँगी"!

फूलमती अकेली द्वार पर खड़ी दो क्षण जैसे कुछ सोचती रही, एकाएक उसी बीच आँगन से फिर भौजी की आवाज आयी, "आज अकेली मेरी फूला को महुआरी में जाना पड़ा, यह पुरवइया है—कि बैरिन, दहिजरा आँख ही न खुली!"

फूला बड़ी तेजी से दरवाजे के बाहर मुड़ी और इतने वेग से महुआरी में झट पहुँचने को हुई—कि डलवे में इमली की पत्तियों को घूर में फेंकना ही भूल गयीं। उसी तरह डलवे को दायीं काँख में दबाये वह सुमिरन काका की कोलिया-कोलिया पदारथ बाबा के गलौरा तक पहुँच गयी, और उस वेग में जैसे ही वह साहेब काका के घर वाले मोड़ से आगे बढ़ने को हुई, समूची फूला एकाएक इलैची अइया से टकरा गयी। बाँस की ठेंगिनी सहित इलैची अइया धड़ाम से गिर पड़ी—चारों खाने चित्त, और उसके ऊपर डलवे की सारी पत्तियाँ छा गयीं। फूला चाहकर भी इलैची अइया के सामने एक क्षण भी न रुक सकी, बेचारी अपनी जान लेकर भागी वहाँ से।

भागी तो, लेकिन इलैची अइया अपने पूरे स्वर में, रुदन को थोड़ा-थोड़ा मींड़ दे-देकर जो जो गालियाँ और टूट-सराप फूला को देने लगी उसका सारा बिनाफोर

स्वर भोर के शांत वातावरण में इस तरह छाने लगा जैसे पूस-माघ के भोर में कुहासे के बादल ।

अभी कोई उस रास्ते से आ-जा नहीं रहा था, इसलिए इलैन्ची अइया बाकायदे वहीं रास्ते पर पैर फैलाकर बैठी रहीं और रह-रह कराहती रहीं, 'हाय राम, मार डाला जबनकी ने ! आग लगे उसकी भरी जवानी में ! उन्माद चढ़ा है तो गौने क्यों नहीं जातीं ? भतार की छाती पर जाकर मूँग दरें । छाड़िन बनी घूमती हैं, किसी को राह-पैंडा नहीं चलने देंगी, जायँ भतार घर तब पता चलेगा । इलैन्ची को मूर समझा है, राम रे राम, दीदा देखो इसका, घर का सारा बुहारन, सगरी इमली की पत्तियाँ झोंक गयी कलमुहीं ! दीदामरी !!'

सहसा साहेब काका की खिड़की खुली । उनकी चम्पा बेटी निकल कर आयी और बिना कुछ बोले-चाले वह बेचारी इलैन्ची अइया के हाथ-पैर सहलाने लगी, शरीर का सारा गर्द और इमली की पत्तियों को झाड़ने लगी ।

इलैन्ची अकड़ी पड़ती जा रही थी, और रुदन के स्वर में अब एक मीठी लय उभर रही थी, और बीच-बीच में वह कह बैठती थी, "तू क्या दूध की धुली है । तेरी ही तो सखी है वह फुलवा, जिसे इतना उन्माद चढ़ा है । तू भी कम नहीं है चम्पा ! तेरा भी दीदा बिगड़ा है उसी के सङ्ग ।"

चम्पा ने अनेक तरह से इलैन्ची को मनाया, हाथ-पैर, पीठ-पेट, सीना-कमर, सब की मालिश की, बहुत झाड़ा-पोंछा लेकिन अइया इस तरह बिगड़ खड़ी हुई थीं कि फूला सखी तो क्या, लगता था, चम्पा की भी खैरियत नहीं ।

वह भागकर घर गयी, एक हाथ में दो चिलम तम्बाकू और दूसरे में एक पूरी भेली लिए हुये वह लौटी, इलैन्ची अइया के कोंछे में चुपचाप बाँधने लगी, तब अइया का चढ़ा हुआ स्वर एकाएक गिर कर इतना मीठा हो गया कि उसमें से रस बरस पड़ा, "जुग जुग जियो बेटी ! जहाँ जाव दूध, पूत, लच्छमी से भरी रहो, सब का मंगल करैं त्रिलोकीनाथ बाबा !"

इस तरह दुगुने उत्साह से उठ कर इलैन्ची अइया आशीष देती हुई गली में मुड़ गई । चम्पा सखी का जी हुआ कि वह दौड़ी हुई महुआरी में जाय और हँसती हँसती फूला सखी से लपट जाय !

●

फूलमती जब महुआरी में पहुँची, उसने देखा पुरवइया के बावजूद भी उसके दोनों महुओं के तले महुये चुये थे, और अब तक बराबर चूते जा रहे थे ।

महुये के बड़े पेड़ का नाम अच्छन था, और छोटे का नाम बन्दरा-मुच्छन। फूला को जब से होश है, वह इन्हीं नामों से इन पेड़ों को जानती थी। बन्दरा-मुच्छन का महुआ इतना मीठा, इतना खुशबूदार और बड़ा-बड़ा होता था कि आदमी को कौन कहे बन्दर और पक्षियों से यह नहीं बच पाता था।

फूला जल्दी-जल्दी से बन्दरा-मुच्छन के तले महुआ बीनती जा रही थी, और अपने भोले मन में अकेली सोचती जा रही थी—आज देर भी होगयी, ऊपर से इलैची अइया का कोप—महुआरी में संग भौजी भी नहीं। भोर हो गया इधर, दिन निकलते निकलते तक भी मैं अकेली बन्दरा-मुच्छन के महुये नहीं बीन पाऊँगी। दिन निकलते ही कौए और किलहटियों से मुच्छन की डालियाँ पट जायेंगी, फिर क्या होगा! कौन इन्हें पेड़ से हड़ायेगा और कौन महुआ बीनेगा! आज सब हाथों-हाथ उठ जायगा! पुरवइया भी धीरे-धीरे गिरती जा रही है, रात भर बह कर अब थक गयी, अब महुआ भी खूब चूयेगा!

फूलमती की साँस फूलने लगा; वह निःश्वास भर कर उठी और कमर पर हाथ रखे इधर-उधर देखने लगी। साहेब काका के नौरंगा के पीछे से बेहद तेजी से उसकी सरजू पार वाली भौजी चली आ रही थी। आस भरी फूलमती भोर के धुँधलके में निहारती खड़ी रही और उसके माथ, सिर, कंधे, पीठ और वक्ष पर महुये टपकते रहे।

फूलमती झुकी झुकी महुआ बीनने लगी, बीच-बीच में वह निहारती रहती कि भौजी आरही थी, कहाँ रह गई, फिर उसने समझ लिया कि वह भौजी नहीं कोई और रही होगी। तब फूला सिर गड़ा कर केवल बीनने में खो गई। कुछ ही क्षणों बाद वह यह सुनते ही चौंक पड़ी—'महुआ के नावाँ मुगौआ हो, रसा चुइ चुइ जाय। अँचरा में बाँधि के नयनवाँ हो महुआ बीने जाब......।' सुनते ही फूलमती में हँसी का ज्वर आ गया। और वह आँचल ही में सारी हँसी गाड़ने लगी। क्योंकि सामने पारवाली भौजी के रूप में सबसे छिप कर चम्पा सखी आयी थी—भौजी जैसी ही धोती, वही अँचरा मारने का ढँग, माथे पर उतना ही घूँघट, वही सारी चाल-ढाल, वही सारा अन्दाज़।

महुए टपकते जा रहे थे। डलरी में बीन बीन कर दोनों सखियाँ महुओं की दो ढेरियाँ बनाती जा रही थीं—एक ढेरी अच्छन की, दूसरी बन्दरा-मुच्छन की। खेत-खलिहान, गोरू बछरू को देखने भालने के क्रम में कोई-कोई अब महुआरी के आस-पास से गुजरने लगे, तब चम्पा ने अपने को पूर्णतः अस्पष्ट रखने के लिये माथे के घूँघट में और बल डाल दिया। और दोनों सखियाँ टपकते महुओं के रसमय

तारों के बीच बहुत धीरे धीरे बातें करने लगीं—जैसे उन्हें कभी खुलकर बातें करने का अवसर नहीं मिलता, जैसे वे अट्टहास के बीच से बातें करना चाहती हों, पर उन पर इतना डर हो कि वे मुस्कराने में भी भय खाती हों।

बदरी महतो अपने बछरू की टाँग बैठवाने के लिये बूढ़ापारन जा रहे थे—महुआरी को पार करते करते वे फूलमती के पास आकर खड़े हो गये, बेहद दुलार से बोले, "बिट्टन, यह कौन है ?"

"मेरी भौजी तो है !"

"ओ हो ! लेकिन बिट्टन, यह मुझसे क्यों इतना घूँघट करती है, मैंने तो पारमू में इसे, जब यह इत्ती बड़ी थी गोद खिलाया था—इसके काका मुलराम बड़े राजा जीव थे, खूब बनती थी मुझसे ! बड़े पानी के आदमी थे !"

महतो आशीष देते देते अपने रास्ते बढ़ गये, और जब वह महुआरी से ओझल हो गये, तब फूला का जी न माना, वह पंजे पर चलती हुई चम्पा सखी के पास गयी, और उसके मर्म में कहीं पूरी शक्ति से निडर हो गुदगुदा दिया, "कहो मेरी भौजी ! हाय रे ! अब बोलो ! देहु न भौजी झलरिया हो, महुआ बीनै जाब, महुआ के नावाँ सुगौआ हो ..!" घूँघट की तरफ छाया में चम्पा हँस कर रह गयी, मुस्कराती हुई आँखों से रूठकर बोली, "कोई देख लेगा तो बस, यह भी लुट जायेगा !"

"लुट जाय !" फूलमती ने प्रीति-स्वर से कहा, "मन का भाव कोई लूट ले तो जानूँ, प्राण दे दूँगी हाँ !"

और यह कहते कहते फूला की आँखें भर आयीं, वह रो उठी। तब उन आँसुओं को पीने के लिये चम्पा ने झट उसे पुचपुचाया, "मेरे जीते जी रोती हो, मेरी फूलरानी, अरे मैं तो लाल घोड़े पर चढ़ कर तुमसे ब्याह करने आऊँगी। उड़न-पालकी में बिठाकर तुझे अपने देश ले जाऊँगी—दूर, बहुत दूर, सात समुन्दर पार... तू रानी सारङ्गा है, मैं सदावृज हूँ, तू अनबोलती रानी है, मैं बाला लखन्दर हूँ; तू सागरमती है, मैं हंसों का राजकुमार हूँ !"

आगे चम्पा के भी स्वर पिघल गये। उसका भी कंठ रुँध गया, और दोनों सखियाँ एक दूसरे को चुप कराने के प्रयत्न में रोती रहीं, रोती रहीं !

●

शिवपुरा आज का !

और तब का ?

अन्तराल बहुत वर्षों का नहीं, थोड़े ही वर्षों का है। तब ज़मींदारी थी और चम्पा के पिता साहेबसिंह शिवपुर के एकछत्र मालिक थे, और फूलमती का काका मङ्गल साहेबसिंह का सब से प्रिय काश्तकार था। दिन-रात की बैठक, मालिक के सारे दुख-सुख में भाई की तरह सम्पृक्त, मङ्गल काका साहेबसिंह का सब से अधिक विश्वास-पात्र था। प्रीति-विश्वास और निष्कपट स्नेह का वह सम्बन्ध केवल उसी पीढ़ी तक नहीं सीमित था, वरन उसका एक उज्ज्वल अतीत भी था, जो पीढ़ी दर पीढ़ी को अपने मंगल-सूत्र में बाँधकर चला आ रहा था। दोनों घरों की स्त्रियों में तो इतनी प्रीति थी कि जिसे दाँतकाटी रोटी का सम्बन्ध कहते हैं, और उस सनातन सम्बन्ध में कहीं भी, किसी तरह से कोई चूक नहीं थी। सच, शिवपुर गाँव की तो बात ही क्या, आस-पास के गाँव वाले, बल्कि साहेबसिंह के शेष सारे आसामी मंगल चौधरी से इस सम्बन्ध के धरातल पर ईर्षा करते थे।

तभी साहेबसिंह अपने लिये कुछ भी हों, कैसे भी हों, फूलमती के वह साहेब काका थे, उनकी पत्नी इसकी काकी थीं, उनके बड़े पूत इसके ददुआ जी थे और छोटे इसके राजा भाई। ठीक यही धरातल उधर से भी था—उस घर में कोई भी मंगल काका का नाम नहीं लेता था, साहेबसिंह उसे चौधरी कहते थे और अन्य सब लोग उसे चौधरी काका पुकारते, और उस सम्बन्ध का यही पारिवारिक आदर्श दोनों के लिये एक समानथा।

शिवपुर में कुल पक्के आठ सौ बीघे खेत थे। उन में से चार सौ बीघे की सीर साहेबसिंह की थी -- शेष चार सौ में पूरा गाँव खेती कर रहा था।

मंगल चौधरी के कुल पैंतिस बीघे की काश्त थी, और दादा, परदादा से उतनी ही जमीन चली आ रही थी और उतने में ही उन्हें माँ जैसा सन्तोष भी मिल रहा था। और वे पैंतिस बीघे खेत सोने के कटोरे जैसे थे भी। खाँड़ जैसी उनकी मिट्टी थी और नयन जैसे वे जवान भी थे।

ज़मींदारी टूटने की खबरें अखबारों में छपने लगीं, उस विषय की नित्य नयी-नयी सूचनायें मिलने लगीं और अन्त में यह निश्चित-सा होने लगा कि ज़मींदार के पास केवल सीर के खेत रहेंगे, शेष सब निकल जायेंगे। उस समय अपनी सीर को अत्यधिक मान्यता और सुरक्षा देने के लिए साहेबसिंह ने समूची सीर की चकबन्दी करनी चाही। कछार से लेकर पूरब वाली सोयी के बीच सब सीर के खेत थे; बीच में केवल दो जगह दस-दस बीघे की दो पट्टियाँ मंगल चौधरी की पड़ती थीं।

एक दिन साहेबसिंह ने अलाव के पास बैठकर फर्शी पर चिलम पीते-पीते

कहा, "चौधरी, मेरी इच्छा है कि मैं कल्हार से लेकर पूरब वाली सोयी तक एक पूरा चक बनाऊँ। क्या राय है तुम्हारी मंगल चौधरी ?"

"जो आप की है राजा !" मंगल चौधरी ने अत्यन्त स्नेह से कहा, "आप की राय मेरी राय है, रही वह बीस बीघे खेत की बात, वे आप ही के खेत हैं सरकार ! वहाँ न सही दूसरे ही सिवान में पा लूँगा !"

"वाह ! वाह !! क्यों नहीं, क्यों नहीं !" साहेबसिंह प्रीति स्वर में बोले, "तुम्हें चौधरी, उस बीस बीघे जमीन के बदले पूरे-पक्के पचीस बीघे खेत मैं उत्तर-पश्चिम के किसी भी सिवान से दे। दूँगा, जहाँ भी तुम चाहोगे, और जैसे भी चाहोगे !"

"बिल्कुल सही राजा ! बिल्कुल ठीक ! इसमें भी कुछ कहने-सुनने की बात ! दोनों ही घर मेरे हैं !"

फिर साहेब सिंह के सङ्ग तहसील में जा कर मंगल चौधरी ने अपने उन बीस बीघे खेतों का इस्तीफा दे दिया !

आगे की कहानी बहुत छोटी है !

उसके दो ही महीने बाद साहेबसिंह की मृत्यु हो गयी, और अगले ही वर्ष जमींदारी टूट गयी—जैसे गाँव की समूची बाँह टूट गयी, मूल टूट गया। साहेबसिंह के दोनों लड़के—ददुआ जी और राजा भाई एक दिन सोच बैठे, 'जब सरकार ने हमारा सारा राज्य ले लिया —और उसके बदले में उसने हमें कुछ नहीं दिया, फिर हम ही किसी को क्यों दें ! हम ही मंगल चौधरी के बीस बीघे खेत का मुआविजा क्यों दें ! नहीं देंगे, जाकर वह अपनी सरकार से ले। सरकार ने हमें ही कहाँ मुआविज़ा दिया !"

उस द्वार से यह निर्णय सुनते ही मंगल चौधरी वहीं कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा, खाट पर उठाकर अपने घर लाया गया और बेहोशी के आलम में दो दिनों तक न जाने क्या-क्या बे सिर पैर का बड़बड़ाता हुआ तीसरे दिन की सुबह वह सदा के लिये चुप हो गया ! और थोड़े ही दिनों बाद चौधराइन का भी देहान्त हो गया !

●

और शिवपुर आज का !

आज के वे दोनों परिवार !!

साहेब काका का द्वार बिल्कुल सूना है—न एक हाथी, न एक घोड़ा; तीस गोईं

बैलों की जगह अब मुश्किल से पाँच गोई बैल हैं—वे भी अधबूढ़े, अधजवान। दरवाजे के सात नौकरों और नौ सिरवारों में से अब कोई है, सब को छुट्टी हो गयी। ददुआ जी जैसे समाजवादी हो गये, सारा काम अपने हाथ कर लेते हैं, और राजा भाई सार पात की देख भाल और दौड़ने-धूपने का काम कर लेते हैं। दरवाजे पर बस अब केवल एक बुढ़िया साइकिल खड़ी मिलती है।

अब कोई उत्सव नहीं होता, कोई आयोजन नहीं मनाया जाता, कोई दान-पुण्य नहीं, यहाँ तक कि अब द्वार पर भिखमंगे, साईं, फकीर और गोसाईं, ब्राह्मण तक भी नहीं आते जाते! जैसे कभी कोई राजपथ था, अब वहाँ सूखी झाड़ी फैल गई हो।

मंगल चौधरी के घर में अब उसका अकेला बड़ा लड़का फेरई है, उसकी पत्नी है, घरवाली, और वही फूलमती बहन। खूँटे और चरनी पर चार बैलों की जगह अब केवल दो बैल हैं। पूरा गाँव, स्त्री-पुरुष बूढ़े-जवान बच्चे सब फेरई के परिवार पर व्यंग करते हैं, बात की बात में कहनी बुझाते हैं—बड़ी मिठाई में कीर्या पड़ता है, बड़े साहेब काका, साहेब काका बने थे, अच्छा किया; ठठेर का मूल था, सूद दर सूद उसने वसूला।

साहेबसिंह और मंगल चौधरी की मृत्यु के बाद फेरई ने गाँव में एक बहुत बड़ी पंचायत बैठाई, आस-पड़ोस के बुजुर्ग और न्यायी लोग इकट्ठे हुये, लेकिन परिणाम कुछ न निकला। पटवारी से पिछले कागजात खसरा-खतौनी और बन्दोबस्त के कागजों से फेरई ने अपने खेतों की नकल ली, कचहरी में दावा किया, लेकिन दो एक पेशी के बाद मुकद्दमा अपने आप बैठ गया। मंगल चौधरी के इस्तीफे का सरकारी कागज फेरई के लिये वास्तव में कोई राहु बन बैठा था। उसका सारा पथ; सारे विकल्प निर्जीव थे।

और मंगल चौधरी के वे बीस बीघे खेत तब से आज तक बंजर पड़े हैं—और केवल उतने ही नहीं, उत्तर-पूरब के सिवान का वह सवा सौ बीघे का चक परती पड़ा है। क्योंकि ददुआ जी के पास उसकी खेती के लिये कोई साधन ही नहीं है। जितने, जो बैल हैं वे उसके लिये कभी पूरे ही नहीं पड़ते। ददुआ जी तब से हर वर्ष स्वप्न देखते हैं कि कहीं से एक ट्रैक्टर खरीदा जाय या कहीं से किराये ही पर कोई ट्रैक्टर मिल जाय, पर आज तक वह स्वप्न, स्वप्न ही रहा।

फेरई के पास खेती के साधन हैं, उल्लास और शक्ति है उसमें, उसकी बाहुओं में ट्रैक्टर की गति है, लेकिन उसके पास खेत नहीं हैं, ददुआ जी के पास खेत ही खेत हैं, लेकिन खेती करने के साधन नहीं हैं।

फेरई जब गाँव के बाहर निकलता है तो वे बीस बीघे खेत उसे डराने लगते। वह भूल कर कभी उधर देखता तक नहीं, फिर भी वह हर क्षण देखता है—कोई काला नाग है जो अपने गुंजलक में बीस बीघों की धरती छिपाये बैठा है, कोई काँटेदार पेड़ है जो अपनी विषाक्त छाया से उन खेतों पर ओछाह डाल रहा है, कोई भूत प्रेत है, जो उन खेतों में डेरा डाले है, कोई दुश्मन है जो उस धरती पर चक्र-व्यूह रचे बैठा है, किसी शाप की छाया है, जो हरदम उस सिवान पर मड़राती रहती है—सूना, सन्नाटा वह जीवन्त कछार—उसका बंजरपन, उसका परतीपन, कितना भयानक, कितना अशुभ !!

जब-जब असाढ़ का पहला पानी बरसता है, जब जब क्वार कातिक के दिन आते हैं, और सारा गाँव भाभो-भाभो कर खेत बोता है, फेरई भूखे सिंह की तरह तरह अपनी विवशता की माँद में रो रोकर चीखता है, मंगल चौधरी और साहब सिंह की नंगी प्रीति के शव को नोच-नोच कर तार-तार कर देता है, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकलता, कुछ भी नहीं निकलता।

●

उस वर्ष की बात है, दीपावली की रात थी। सब के खेतों में चिराग जल रहे थे। सब के मेड़ों पर प्रकाश था। पार वाली भाभी और फूलमती अपने आँगन में उदास बैठी थीं। उनके सामने उन बीस बीघों का सन्नाटा, और उनके मेड़ों का अंधकार फैला था। वे हर वर्ष चाहती थीं कि उन खेतों में वे चिराग रख आयें, दूब अच्छत से पूज आयें, उन्हें लेकिन फेरई ने बुरी तरह से मना कर रखा था। और विवश वे रोकर रह जाती थीं लेकिन उस वर्ष, संध्या के धुँधलके में चम्पा सखी सबसे छिपी हुई फूला सखी के घर आयी, थालियों में, आँचल के नीचे छिपा-छिपाकर बिना जले हुये दीपों को लेकर, वह पारवाली भाभी और सखी के संग उन सूने खेतों में गयी, और खेतों के अंधकार और सन्नाटे में वे छिप कर दीप जलाने लगीं। चम्पा दीप जलाती, फूला सखी उन्हें दूब अच्छत से पूजती और पार वाली भाभी उस पर्व को अपने भरे नयनों से स्निग्ध करती चलती। हर खेत का परतीपन, हर खेत की सूनी मेड़, कोन-किनारे के अँकवाई-थाले जिन पर जैसे कोई रोता रहता था, आज उन पर दीप जले थे, मंगल गीत उगे थे ! तीनों दौड़ दौड़ कर खेतों के सब कोनों को जैसे आँखों से चूमती थीं, आँचल से बलैया लेती थीं और ओठों से मनुहार करती थीं, क्योंकि वे खेत, वह पूरी पट्टी, वह समूचा चक—कछार

से पूरब सोयी तक किसी से रूठा था, किसी से उपेक्षित था, फिर भी गान था उसका।

लेकिन यह अद्भुत प्रकाश उनके आँचल के वश से बाहर था — वह कैसे छिपता ? उस प्रकाश को इधर फेरई ने देखा, उधर ददुआ जी ने। दोनों दो रास्तों से वहाँ दौड़ कर पहुँचे, देखा दंगरह गये—एक ओर फूलमती, दूसरी ओर चम्पा और बीच में पारवाली—तीनों डर से एक ही रेखा में सम्पृक्त, जैसे पारवाली कोई माँ हो और वे दोनों जवान बेटियाँ उसकी मर्यादा हों।

बहुत दिनों के बाद फेरई और ददुआ जी आमने सामने पड़े थे, तब से आज तक वे दोनों, वे दोनों घर, इतने दूर हट गये थे, कि दोनों जैसे एक दूसरे का साया नहीं बर्दाश्त कर पाते थे।

फेरई क्रोध में जल कर फूला और पारवाली पर बरस पड़ा, उन्हें धक्के देता हुआ घर ले आया और क्रोध की यही दशा ददुआ जी की ओर से चम्पा पर भी चरितार्थ हुई। दोनों ने अपने-अपने घरों में निर्णय दे दिया, "फिर अगर कभी तुम लोगों को मिलते-जुलते, बातचीत तक करते देखा, तो जिन्दा गाड़ दूँगा।"

और उस रात, जब सारा गाँव सो गया, फेरई उठा, कंधे पर कुदार रखी और अपने उन खेतों में चला गया और परती पर हुए खेत को जैसे गोड़ने लगा, और सुबह तक गोड़ता रहा। एक घंटा दिन चढ़ते-चढ़ते वहाँ राजा भाई को संग लिए हुये ददुआ जी आये। फेरई को खेत से भगाना चाहा, इस पर संघर्ष बढ़ा और और आपस में बुरी तरह मारपीट हो गयी। तीनों घायल हुये। फिर मुकदमा चला, और आज तक वही फौजदारी का मुकदमा चल रहा है।

पिछले महीने से, हाकिम के इजलास में उस मुकदमे की आखिरी तारीखें चल रही थीं। इस ओर से अकेला फेरई था, और उस ओर से ददुआ जी और राजा भाई।

ये तीनों कल रात जिले से गाँव नहीं लौट सके थे। दोनों घरों के दरवाजों पर रात भर दीपक जलते रहे उनकी राह तकने के बहाने रात को साहेबदादी इस घर आयी थीं। पारवाली जब उनके चरण छूकर अपने माथे लगा रही थी, उस समय दादी फूट-फूट कर रोयी थीं। दादी के जाने के बाद ददुआ बहू भी छिपकर आयी थीं, उनके संग चम्पा भी थीं। चारों एक दूसरे को देखकर पहले जी भर रोती रहीं,

फिर अपने-आप पर हँसती भी रहीं—"हम जैसा कौन अभागा होगा, हमी शत्रु सिद्ध हुये, और उनके, जो हमारे हैं, अपनी ही आत्मा के टुकड़े जो हैं। कितनी हँस रही होगी दुनियाँ।" ददुआ बहू कहती जा रही थीं और बीच-बीच में उनसे कभी हँसी का रस बरस पड़ता था, कभी आँसू का। "फूला और चम्पा दोनों सखियों को देखो, एक दूसरे से मिलने के लिये इन्हें स्वाँग भरना पड़ता है, फूला मेरी साड़ी पहन कर, मुझ जैसा घूँघट बनाती है, तब मेरे घर आ पाती है, चम्पा पार वाली बनती है, पारवाली बड़ी बहू और मैं पारवाली।...क्या विश्वास करेगी दुनियाँ, आगे के लोग क्या कहेंगे! एक थे साहेबसिंह और मंगल चौधरी, और थे साहेबसिंह के दो पूत, कपूत...!"

ददुआ बहू चुप ही न होती थीं, बस रोती जा रही थीं। और आधी रात बीतते-बीतते जब बहू और चम्पा सखी अपने अपने घर भी गयीं तब उस सूने घर में फूला और पारवाली की आँखों में फेरई दादू के संग के बीस बीघे खेत नाचते रहे, और उनके संग साहेब काका, मंगला काका की सुधि आती रही।

●

बन्दरा-मुच्छन पर चिड़ियों के आते आते सारा महुआ बिन कर इकट्ठा हो गया और घर भी पहुँच गया। फूलमती जब चम्पा सखी के पिछवारे से अपने घर की ओर चली, तभी उसे सूचना मिल गयी कि उसके यहाँ पुरन्दरपुर का नाऊ उसके गौने का दिन निश्चय करने आया है। फूला पिछवारे से अपने घर में गयी, और भौजी के सामने आकर बच्चों की तरह रोने लगी—फूला गौने तब तक नहीं जायेगी, जब तक उसकी चम्पा सखी का ब्याह नहीं हो जायेगा! साहेबकाका और मंगल चौधरी ने इन दो बेटियों की सहज प्रीति देखकर दोनों की शादियाँ पुरन्दरपुर में तै की थीं, कि आजन्म दोनों एक ही गाँव में रहेंगी। फूला की तो झटपट हो गयी, पर चम्पा सखी की शादी में प्रतीक्षा थी कि दूल्हे की एफ० ए० की परीक्षा समाप्त हो जाय। इसी बीच अभाग्यवश जमीदारी टूटी, साहेब काका का स्वर्गवास हुआ और चम्पा के विवाह का आर्थिक पहलू डगमगा गया और तभी से वह शादी रुकी पड़ी है।

लेकिन चाहे जो हो, कुछ भी हो जाय, दोनों सखियाँ पुरन्दरपुर जायेंगी तो एक ही संग जायेंगी, नहीं तो जन्म भर यहीं शिवपुर में ही बैठी रह जायेंगी!

शाम तक फेरई भइया घर आ जायेगा, इसलिये शीघ्र ही फूला ने भौजी द्वारा पुरन्दरपुर के नाऊ को बिदाई दी। चम्पा सखी के मंगेतर को, जिसे फूलमती

सलाजी सम्बोधित करने लगी थी, उसके नाम एक चिट्ठी, दो हाथ के बने बटुये और एक रूमाल, उसने नाऊ के हाथ दे दिये।

उसी दिन ठीक तीसरे पहर ददुआ जी के द्वार पर मालगुजारी न चुकता करने की सरकारी कुरकी आयी—द्वार पर कोई नहीं था, भीतर औरतें अपनी करुणा में रोने लगीं। सारे गाँव में खबर फैल गयी। कुल तीन सौ पैंतिस रुपये की बात थी, फिर भी रोने के सिवा ददुआ जी के घर और—कोई विकल्प न था। गाँव खड़ा तमाशा देख रहा था। कुरकी शुरू होने वाली थी। चम्पा दौड़कर अपनी सखी के पास आयी, पर कहीं कुछ नहीं, बस वह भरी-भरी आँखों से पता नहीं क्या शून्य में देखती रही। फूलमती दौड़कर पारवाली भाभी के अंक से लगकर रोने लगी। भाभी को लगा, जैसे उसकी आँखों में कोई पहाड़ पिघल कर बरस रहा हो—उसके सामने एक ही दृश्य में मगल चौधरी और साहेब काका दोनों पारवाली भाभी का जैसे रास्ता रोकने लगे। फेरई का अट्टहास उस दृश्य को बाँधता चल रहा था—पर पारवाली का मन तो जैसे उस हिरनी की तरह हो गया था, जो जंगल से भाग कर समुद्र तट पर आ खड़ी है। वह उसी क्षण सब से छिपकर अपने अँचरे में कुछ छिपाये ददुआ जी के घर आयी, और कुरकी सहसा रुक गयी। खर्चा और हरजाना-सहित मालगुजारी चुकता हो गयी!

उस शाम तक भी फेरई घर वापस न आया, केवल ददुआ जी दोनों भाई घर वापस लौटे और यह सूचना ले आये कि इजलास और हाकिम को अपमानित करने पर फेरई हवालात में बन्द हो गया, और उसे जमानत पर छुड़ाने वाला वहाँ कोई न मिला।

अपने ददुआ के मुँह से यह सुनते ही साहेब दादी ने चौखट से अपना माथा फोड़ लिया, घायल सिंहनी जैसी बोली, "और तुम दोनों क्या थे? कहाँ थे? तुमने उसकी जमानत क्यों नहीं ली? तुम भी हवालात में क्यों नहीं बन्द हो गये? फेरई को हवलात में छोड़कर तुम क्यों घर वापस आये?" साहेब दादी पागल सी हो गयी थीं, "तुम ने मेरा दूध कलंकित किया! वंश के नाम को डुबो दिया। चौधरी के घर में...!" दादी उसी हालत में घर से बाहर दौड़ी, "आज से मैं तेरे घर में पानी नहीं पियूँगी।"

दादी महुआरी वाले बाग की ओर बढ़ने लगीं, पीछे पीछे ददुआ जी, दोनों भाई, दादी का पीछा करने लगे "मैं हूँ फेरई की माँ! मैं जा रही हूँ उसकी जमानत लेने।" दादी कहती चली जा रही थीं।

ददुआ जी ने दादी को रोकते हुये कहा, "मैं पाँव पड़ता हूँ, तुम घर लौट चलो, हम जा रहे हैं फेरई की जमानत लेने !"

"विश्वासघाती हो तुम लोग, मुझे विश्वास नहीं तुम पर। तुम लोग उसके संग कोई और धोखा कर सकते हो। मैं जाऊँगी, आज मुझे और कोई नहीं रोक सकता।"

सुबह होते-होते कचहरी में छतनार पीपल के नीचे वाले कुएँ की जगत पर साहबदादी के संग, ददुआ जी, राजा भाई, चम्पा फूलमती और पारवाली भाभी, सब एक साथ आ रुके। उनमें से किसी को भी न भूख थी न प्यास, न असहज राह की वह थकन। सब जैसे किसी भावावेश में थे।

पहले पहर में फेरई की जमानत मजूर हो गयी। हवालात से बाहर—निकलकर उसने एक आँख से भी साहिबदादी, चम्पा, फूलमती और पारवाली को नहीं देखा, जिनके निःशब्द आँसू एक ही करुणा में डूब रहे थे। वह आवेश में बढ़ता हुआ उस ओर जा रहा था, जहाँ दो शीशम के पेड़ थे और उनके पीछे दोनों भाई ददुआ जी खड़े थे—छिपे हुये, डरे से, माथा झुकाये।

फेरई ने भूखे सिंह की तरह बढ़कर ददुआ जी की दोनों बाहें भींच लीं, "किस ने ली मेरी जमानत ?"

दोनों भाई माथा झुकाये चुप थे; चारों ओर से आँसुओं की गीली परिधि बनकर वे चारो औरतें घिर आयी थीं।

"किसने ली मेरी जमानत ?" फेरई के स्वर में आवेश बढ़ गया था, "तुमने ली मेरी जमानत ?" स्वीकृति में ददुआ का केवल सिर हिला, जिह्वा न हिली !

"क्यों ली मेरी जमानत ?"

घायल हिरन की भांति फेरई 'क्यों ! क्यों ?' की चीख से सारे वातावरण को करुण करता जा रहा था, और शेष सब चुप थे, किसी के भी पास फेरई के किसी भी 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं था। सब का माथा झुका था।

और एकाएक जैसे फेरई की आर्त चीख से शीशम के दोनों पेड़ गिरे— ददुआ जी और राजा भाई टूटकर फेरई के पैरों में गिर पड़े, और फेरई स्वयं शिशुवत रोता हुआ साहेब दादी के अंक में गड़ गया।

शीशम की उस छाया में सब एक में बिंध कर रोते रहे, रोते रहे,कौन किसको मनाये ! कौन किससे शब्दों में उलाहना दे, और कौन अपनी कैफियत वाणी में दे,

केवल आँसू ही जैसे एक माध्यम था—और उसी माध्यम से, उसी स्नेह-गंगा में सब भीगकर तर हो गये थे और सब अपने मूल पर, अपने अभिकृत सत्य पर उतर रहे थे—सब के कंधों पर सब की बाहें, और अब उन बाहों की खाली मुट्ठियों में भाव, असख्य भाव !

दूसरे ही दिन मंगल पड़ रहा था। पूरब सिवान के अंत में नट्टबाबा का पीपल था—अकेला, छतनार और जैसे युगों का पुराना पेड़। उसी नट्टबाबा को फूलमती और चम्पा की सम्मिलित मनौती थी—और मनौती भी अंदरा-मुच्छन के महुये की एक कड़ाही लपसी और सोहारी।

पहर दिन चढ़ते-चढ़ते जब नट्टबाबा को लपसी-सोहारी चढ़ाकर दोनों सखियाँ घर लौटने को हुईं, उसी समय उन दोनों ने देखा, उसी रास्ते से कोई साइकिल पर चढ़ा चला आ रहा था। चम्पा ने दूर ही से पहचान लिया और वह अपनी सखी को खींचती हुई पीपल के पीछे छिप गई। लेकिन दूसरे ही क्षण सखी को वहीं छिपा चंपा रास्ते पर उठ खड़ी हुई। और रास्ता रोक, लाज और संकोच से भरी मुस्कराती रही—न नमस्ते, न रामजुहारी, न अन्य कोई औपचारिकता।

बस सामने झुके पहाड़ की तरह बोली, "देखो पहुना ! हमें मालूम था कि तुम इसी रास्ते आज जाओगे ! कितने अच्छे हैं हमारे नट्टबाबा ! देखो न पहुना !... अच्छा बैठो, पहले लपसी-सोहारी तो खाओ !" यह कहते कहते चम्पा ने पहुना की साइकिल थाम ली।

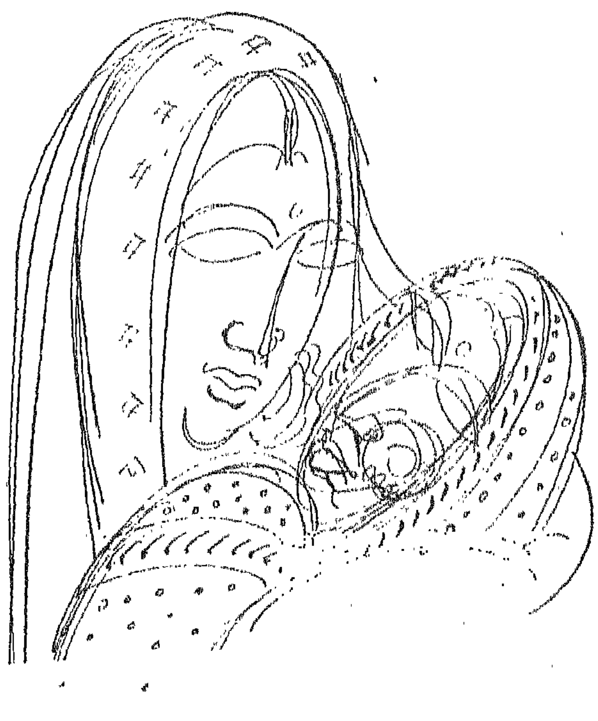
बेचारा पुरन्दपुर का पहुना हतप्रभ-सा था, लग रहा था, जैसे वह कहीं पकड़ा गया है। चम्पा अपनी कहती जा रही थी, पहुना अपनी छूट माँगता जा रहा था। फिर भी चम्पा के सब संकेतों और आग्रहों के सामने पहुना का सिर अपने-आप झुकता जा रहा था।

एकाएक उसी क्षण पीपल की ओट में कुछ चूड़ियाँ खनकीं और एक आवाज आई, "जब तक मेरी सखी का पुरन्दपुर में ब्याह नहीं होगा, तब तक मेरा गौना नहीं होगा। शिवपुरा से हमारा डोला एक ही संग निकलेगा, अकेला कभी नहीं !"

"इसे मैं जानता हूँ, और तुम्हारी सखी के 'वह' भी जानते हैं, और यह जरूर होगा ।" पहुना ने स्निग्ध स्वर में कहा, "यह होगा, होकर रहेगा, इसी बैसाख में होगा—देख लेना ।"

पहुना चला गया । चम्पा वहीं लाज में गड़ी बैठी रह गयी । जैसे उससे उठा न गया । फूलमती ओट से निकली, सखी के पास आई, उसे गुदगुदा कर उठाने लगी । चम्पा रो रही थी, सखी को पाकर वह उससे चिपट गयी और उसकी सुबकियों में जैसे स्पष्ट स्वर उभरने लगे—"सखी ! मेरे भइया के पास एक पैसा भी नहीं, ददुआ जी पर अनेक कर्ज हैं । घर के सब गहने गिरवी हैं, कैसे ब्याह होगा ! कौन करेगा ब्याह !"

फूलमती चम्पा को गुदगुदाती हुई कह रही थी, "यह मुझ पर छोड़ ! उठती है कि नहीं ! उठ देख न ! देख मेरे जीते जी रोती है तू ! अरे देख ना, लाल घोड़े पर चढ़ कर मैं तुझे ब्याह करने आया हूँ ! तू रानी सारङ्गा है, मैं तेरा सदाबृज हूँ; तू मेरी अनबोलती रानी, मैं तेरा बाला लखन्दर हूँ; तू सागरमती है, मैं हंसों का राजकुमार हूँ !"



असुंदर से गाँठ

भवानी प्रसाद मिश्र

सुन्दर को छुए
मुझे बहुत दिन हुए !
ज़माना बीत गया
सुंदर को मैंने नहीं छुआ,
और ऐसा कोई पल नहीं निकला
जिसमें चाहे जाने चाहे अनजाने
असुंदर मेरा नहीं हुआ !

असुंदर से
मेरी गाँठ-सी जुड़ गयी है
सुन्दर की तसवीर ही जैसे
दिमाग से उड़ गयी है !
गीतों के स्वर
गले के घर-घर हो गये हैं
सूखे पत्तों का खड़क-भर सुनता हूँ,
कोमल किसलयों के
मर्मर खो गये हैं!

आसमान पर
आँख उठाकर देखता हूँ
तो सांद्र निविड़ नीलिमा नहीं,
सियाही दिखती है
आस पास नजरें दौड़ाता हूँ
तो हँसी या खुशी नहीं
सिर्फ़ तबाही दिखाती है !

यह असुन्दर
कुछ इस तरह
मुझसे सटकर बैठ गया है
कि लगता है
वह मेरे फेफड़ों के भीतर
हवा बनकर पैठ गया है ।
फेफड़ों को उसकी आदत हो गयी है ।

वे असुन्दर को
भरसक भीतर खींचकर
खुद को फुला लेते हैं !
और
खींचने लायक
दूसरे तत्व भी हवा में हैं
इसे भुला देते हैं !!

निकष

आप कितनी आतुरता से निकष के दूसरे संकलन की प्रतीक्षा करते रहे हैं, इसका अनुमान आपके उन तमाम पत्रों से लगता रहा है, जो पिछले दिनों हमें प्राप्त हुये। आपने जिस उत्साह से इस योजना का स्वागत किया और उसमें सक्रिय रुचि ली, उससे हमारे उस अदम्य विश्वास का औचित्य ही सिद्ध हुआ जो हममें अपने नवलेखन की सार्थकता और आपकी विकासशील रसग्राहिता में है। हमें इसका भी संतोष है कि हमने एक सही मौक़े पर एक सही काम उठाया। हिन्दी के नवलेखन के बारे में पूर्वग्रहयुक्त और कभी कभी तो समकालीन गतिविधि और जीवंत प्रवृत्तियों से सर्वथा अज्ञ हिन्दी के छोटे-बड़े आलोचकों के निराशापूर्ण वक्तव्यों और उदात्त प्रवचनों के शब्दजाल से जो गलत धारणाएँ फैल सकती हैं, उनके निराकरण का सबसे अच्छा तरीक़ा यही था कि वर्गों, वृत्तों या सैद्धान्तिक संकीर्णताओं से मुक्त होकर सभी दिशाओं में प्रस्तुत होने वाली श्रेष्ठतम कृतियों को एक सही परिप्रेक्ष्य के साथ पाठक तक पहुँचाया जाय और उसे ख़ुद अपनी राय क़ायम करने का पूरा मौक़ा दिया जाय। साथ ही लेखक भी आश्वस्त रहे कि वह केवल शून्य में अपने शब्द नहीं फेंक रहा है, उसकी आवाज़ एक ऐसे पाठक-वर्ग तक पहुँच रही है, जिनका विकसित रागबोध ही उसकी सच्ची कसौटी है।

इन कुछ पत्रों को हम अपने पाठकों और लेखकों के लगभग दो सौ पत्रों में से छाँटकर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस चुनाव में हमने ध्यान रक्खा है कि हर प्रकार के लेखक तथा पाठक के विभिन्न दृष्टिकोण सम्मुख आ सकें। पिछले संकलन में हमने प्रयास किया था कि अपने पाठकों और लेखकों की बात को हम अपने शब्दों में रख सकें, इस बार इन पृष्ठों में हम आपके ही शब्दों में आपकी बात प्रस्तुत कर रहे हैं :

मोहन राकेश, जालंधर

निकष के बारे में ? पहली बात तो यह कि साहित्यिक स्तर पर इतना सुथरा प्रकाशन प्रतीक के बाद पहली बार हुआ है, इसके लिये बधाइयाँ। दूसरी बात ज़रा लंबी है। रचनाओं में काफ़ी वैविध्य और ताज़गी है, यद्यपि 'गुलकी बन्नो' और 'रसप्रिया' का स्वर शेष रचनाओं से अलग है। 'सोया हुआ जल'— विशेष कृति—बहुत अधपची सी रचना लगी। उसके प्रतीक स्पष्ट नहीं हो पाये। कविताओं में भाव-वैविध्य होते हुये भी, एक ही व्यक्तित्व छाया हुआ लगता है। समझ में नहीं आता उसे किसका व्यक्तित्व कहा जाए !

मदन वात्स्यायन, सिंदरी

निकष पाया। बहुत धन्यवाद। कहाँ, साहित्य में गत्यवरोध तो नहीं दीखता ? कैलास-स्थ पंत जी के डमरू का स्वर आज भी मनोहारी है। और सच मानिये आपकी 'गुलकी बन्नो' और सर्वेश्वर जी का 'सोया हुआ जल' तो कमाल है।

अलबर्ट कृष्ण अली, भागलपुर

निकष वास्तव में संग्रहणीय संकलन है। एक नहीं अनेक दृष्टियों से। 'गुलकी बन्नो', 'सोया हुआ जल' और 'दधि-अच्छुत' महत्वपूर्ण रचनायें हैं। पर भाई, सम्पादकीय कुछ खटका।

यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' कलकत्ता

निकष देखा ही नहीं पढ़ा भी है। मेरी हार्दिक बधाइयाँ। आपका यह निकष कइयों को इस प्रकार के पत्र निकालने की प्रेरणा देगा।

ललित कुमार शर्मा, कलकत्ता

निकष निकला पढ़ने को मिला। बधाई। दूसरी बधाई 'गुलकी बन्नो' के लिये। 'सोया हुआ जल' काफी अच्छा रहा।

राधाकृष्ण सहाय, भागलपुर

कुल मिला कर निकष का ऐतिहासिक महत्व है। नयी शक्तियों का वस्तुतः एवं यथार्थ प्रतिनिधित्व कर सकने वाला संग्रह।

हां, सम्पादकीय पढ़ कर उतना सन्तोष नहीं हो सका। अखाड़े, में जबरदस्ती उतरने से क्या लाभ ? अच्छा तो यही होगा कि कृतियों को सामने रख उन्हें लज्जित कर उचित पथ-प्रदर्शन किया जाय।

सभी कृतियों में 'गुलकी बन्नो' सर्वाभिभूत कर सकी। यथार्थ की भावभूमि पर इतने सारे अनुभवों को समेट पाना मेरे लिये आश्चर्य एवं आह्लाद का विषय था। सचमुच कहूँ तो मुझे लगता है कि जहाँ से प्रेमचंद (गोदान और कफ़न को

छोड़कर) छूट गये हैं इन्हीं से यह सूत्र पुनः आगे बढ़ रहा है। साथ ही साथ कुछ कमियाँ भी नजर आई। कहानी में evidence बहुत इकट्ठा हो गया है।

दूसरी महत्वपूर्ण रचना लगी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का "सोया हुआ जल।" टेकनीक तथा विषय-वस्तु दोनों दृष्टि से स्वग्राह्य। लक्ष्मीकांत, रघुवीर सहाय, रेणु जी, श्रीलाल शुक्ल, विद्यनिवास मिश्र और अजित की रचनायें महत्वपूर्ण हैं। अन्य रचनायें सामान्य कोटि की हैं। तीनों लघुकथायें तो बहुत दुर्बल हैं।

रांगेय राघव, भरतपुर

निकष अच्छा निकला। कवितायें उतनी अच्छी नहीं लगीं। आगे अच्छा चुनाव करियेगा न ?

प्रमोद वर्मा, अमरावती

निकष की प्रति नागपुर में देखी। उसकी उत्कृष्टता पर किसी को शङ्का हो ही नहीं सकता। साहित्यिक हल्कों की चर्चा का विषय तो है ही, मेरी व्यक्तिगत बधाई भी लें।

श्यामनारायण शुक्ल, बिलासपुर

निकष देखा। बहुत पसन्द आया। रांगेय राघव की 'गाथा' और 'रेणु' की 'रसप्रिया' बहुत रुची।

अनन्तकुमार पाषाण, बंबई

निकष की प्रति मिली। आपका श्रम सार्थक है। मैं तो उसे बस-ट्रेन-टैक्सी में साथ लिये घूमा हूँ। अब समझ लीजिये। सुझाव की कसर तो तब हो जब पूरी आँच न लगी हो।

सिद्धनाथ कुमार, आरा

निकष सही दिशा में सचमुच एक महत्वपूर्ण कदम है। सम्पादकीय पढ़ने पर लगा कि यह साहित्य के प्रयोजन को सिद्ध करने का सच्चा प्रयास है। साहित्य-सृष्टि की सार्थकता मध्यस्थों और आलोचकों के लिए नहीं, पाठकों के लिये है; उसकी कसौटी विभिन्न रंगीन चश्मों से देखने वाली आलोचक दृष्टि नहीं बल्कि, जैसा आपने कहा, पाठकों का विकसित 'राग-बोध' है। आपने, क्षमा करें, हम नये लेखकों ने निकष के माध्यम से एक नया अभियान प्रारम्भ किया है।

डा० टीकमसिंह तोमर, आगरा

निकष बहुत पसन्द आया। इस सुन्दर आयोजन के लिए आप सभी को हार्दिक बधाई।

रमानाथ अवस्थी, दिल्ली

निकष के लिये आपको तथा भाई लक्ष्मीकांत को बधाई। अपने ढंग का अद्वितीय पत्र है।

अनिलकुमार, नागपुर

निकष के लिये बधाइयाँ। मेरे विचार में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल', अज्ञेय की कविता, 'साँप', तथा सम्पादकीय निवेदन इस संकलन की सर्वोत्तम रचनाएँ हैं।

रामनारायण उपाध्याय, खण्डवा

निकष स्थायी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें विद्यानिवास मिश्र का "हल्दी दूब औ दधि अच्छत" मैंने बार बार पढ़ा। हर बार पढ़ने पर भी मन अघाता ही नहीं था। हमारी संस्कृति के मांगलिक उपादानों को साहित्य की थाली में इतने सुन्दर ढंग से सजाने के लिये उन तक मेरी हार्दिक बधाई पहुँचा दीजियेगा। हाँ, लघुकथाएं मुझे कुछ जंची नहीं। "खाली कुर्सी की आत्मा", "सोया हुआ जल", "फलित ज्योतिष और वाहन योग", "गुलकी बन्नो" तथा कुद्दिन्नातन का "मार्ग-दर्शन" अपने ढंग की अनूठी कृतियां लगीं।

जयचंद राय, गाज़ियाबाद

निकष पढ़ कर तबियत प्रसन्न हुई। कुछ बातों से मतभेद रखते हुये भी मैं मानता हूँ कि नये लेखन की आधार शिला 'निकष' तथा 'नयी कविता' द्वारा रक्खी गयी है।

शिवेन्द्रकुमार 'परिवर्तन', गाजियाबाद

निकष पढ़ने को मिला। कुछ विरोधी लोग व्यक्तिगत आधारों पर चाहे कुछ भी कहें, मूलतः आपके तत्वाधान में चीजें चमकती हुई सामने आ रही हैं।

नागार्जुन, प्रयाग

निकष में रचना भेजने को कहा था आपने। निकष का सम्पादकीय पढ़ कर क्षोभ हुआ था। उसमें जो लघु उपन्यास (सोया हुआ जल) छापा है आपने, उससे हुआ यह कि आपके प्रति जो भी नेह छोह शेष था वह धुल गया है और अपनी रचना के लिये मैं अब निकष में रत्ती भर भी गुंजायश नहीं पा रहा हूँ।

कुँअर नारायण शर्मा, लखनऊ

निकष की प्रति मिली। बहुत पसन्द आया। स्वस्थ बाह्य देख हो आशा बँधी थी, अन्दर से निराशा नहीं हुई। किन्तु आलोचनात्मक और शास्त्रीय निबन्धों का न होना कुछ खटका।

केदारनाथ सिंह, बनारस

निकष देखा था। बहुत अच्छा लगा। इधर जितने इस तरह के संकलन देखने में आये उन सबसे अच्छा। गद्यभाग अत्यन्त पुष्ट और आशाप्रद। कविता अपेक्षाकृत कम।

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, नागपुर

निकष की योजना सचमुच सराहनीय है।

परमानन्द श्रीवास्तव, गोरखपुर

निकष का प्रथम अंक ही निषेध और अनास्था को साहित्य-देवता के पद पर प्रतिष्ठित करने के बजाय आस्था के स्वर को दृढ़ करता है। रचनाओं का स्वर श्रेष्ठतम है। उन्हें प्रस्तुत करने की दिशा स्पष्ट है। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण है उसका उद्देश्य: लेखक और पाठक के बीच की दूरी के व्यवधान को तोड़ना।

रामदरस मिश्र, बनारस

निकष देखा। बहुत ही सुरुचिपूर्ण और समृद्ध संकलन लगा। बधाई स्वीकार करें। संकलन की रचनाएँ काफी अच्छी लगीं। कुछ घटिया चीजें भी हैं, पर कुल मिलाकर उसका एक व्यक्तित्व उभरता है।

कमल जोशी जमशेदपुर

निकष अच्छा रहा। जितना भी देख पाया हूँ उसमें मुझे केशवप्रसाद मिश्र की 'कोयला भई न राख' विशेष रूप से पसंद आई। मेरे ख़्याल में वह 'निकष' की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। बुरा न मानना, सर्वेश्वर दयाल के उपन्यास से मैं कतई प्रभावित नहीं हुआ!

शिवप्रसाद सिंह, बनारस

निकष सचमुच हिन्दी के लिये निकष साबित हो रहा है।

रवीन्द्र भ्रमर, बनारस

निकष की बड़ी चर्चा रही है। सभी लोगों ने सामग्री की दृष्टि से उसे एक आदर्श संकलन कहा है।

वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

निकष हिन्दी की नयी शक्ति के एक समर्थ सुसम्पन्न प्रतिनिधि के रूप में सामने आया है। अधिकांश रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें हिन्दी की प्रगतिशील आत्मा की सर्वतोमुखी और उच्चतर भूमिका प्रगट हुई है। वस्तु और रूप दोनों में। "रसप्रिया" और "गुलकी बन्नो" सर्वश्रेष्ठ रचनायें लगीं। 'सोये जल' से निराशा हुई उसमें तन्त्र प्रधान हो उठा है।

प्रयागनारायण त्रिपाठी, दिल्ली

निकष, कुछ कमजोर कृतियों के बावजूद बहुत अच्छा निकला है। इधर हिन्दी की कोई पत्रिका या संकलन ऐसा नहीं निकला जिसकी ओर इतना अधिक ध्यान दिया जा सके जितना निकष की ओर। वह आज के और आनेवाले कल के, श्रेष्ठतम साहित्य का संकेत-वाहक है।

रामचन्द्र मित्तल, श्री गंगानगर, राजस्थान

निकष बहुत ही सुन्दर निकला है। मेरी बधाई।

कृष्णनन्दन पीयूष, मुजफ्फरपुर

आपके द्वारा सम्पादित निकष देखा। सचमुच निकष नयी प्रतिभाओं का निकष बन गया है। कविताओं का संकलन बहुत सुन्दर नहीं है, गद्य बहुत जोरदार है।

गिरिजाकुमार माथुर, लखनऊ

निकष मिला! सर्वेश्वर का लघु उपन्यास मार्के की चीज है। उन्हें ऐसे डूबकर लिखने के लिये, नयी चीज देने के लिये बधाई भेज रहा हूँ। हाँ उसे सीनेरियो शिल्प क्यों कहा गया, समझ में नहीं आया। अनन्त कुमार पाषाण का स्केच अच्छा लगा। श्री एसोसियेशन टेकनीक सफलता से निभाया है। कविताएँ अधिक सिग्निफिकेंट होनी अपेक्षित थीं। आरंभिक वक्तव्य जोरदार है मजेदार भी। तर्क और विचार की तिखाई द्रष्टव्य है। निकष अपने कसाव का निशान बनाकर छोड़ सके, इसका प्रयत्न स्पष्ट नजर आया।

सियारामशरण गुप्त, झाँसी

निकष मुझे सुन्दर प्रयास प्रतीत होता है। आप जैसे प्रतिभासम्पन्न तरुण लेखक हिन्दी को समालोकित रक्खेंगे, ऐसी आशा है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, दिल्ली

हिन्दी में यह अपने ढंग का नया प्रयास है। निकष की कुछ रचनाएँ मैंने देखी। उनमें से कई निस्सन्देह श्रेष्ठ कोटि की प्रतीत हुईं। कुछ रचनाओं में कच्चापन भी है, पर परीक्षण या प्रयोग की रचनाओं में इस तरह का खतरा लेना ही होता है।

डा० हरिवंश राय बच्चन, दिल्ली

निकष के लिये मेरा धन्यवाद स्वीकार करें। आपकी सुरुचि में मुझे इतना विश्वास है कि आप जो कुछ करेंगे उसमें विशेषता तथा मौलिकता होगी।

रामानुजलाल श्रीवास्तव, जबलपुर

निकष अत्यन्त स्तुत्य प्रयास है। आपकी हार्दिक सफलता चाहता हूँ।

डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग

निकष का पहला अंक मिला। देखने से ही नवीन रुचि, दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व का पता चलता है। आपका उद्देश्य सराहनीय है। बधाई।

फुलबसिया :
अनुवाद या मौलिक ?

१ मुजफ्फरपुर, बिहार, ७ मार्च, ५६

प्रियवर,

अचानक निकष १ की प्रति हाथ आ गई। रचनाओं को देखते हुये जब श्री कमल जोशी लिखित कहानी 'फुलबसिया' पर दृष्टि गयी तो स्मरण हुआ, ऐसी कहानी कहीं पहले भी पढ़ी है। याद आया — बंगला की पत्रिका, "देश" के २३-१२-५४ वाले अंक में श्री सतीनाथ भादुड़ी की एक कहानी "सती-थान" छपी थी। जोशी जी की कहानी, हू-बहू वही कहानी है। यहाँ तक कि दोनों की नायिका का नाम भी 'फुलबसिया' है।

श्री सतीनाथ जी को पत्र लिखा। पता चला, उनकी कहानी का हिन्दी अनुवाद पटने से प्रकाशित, "कहानियाँ" में प्रकाशित है। अंक आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।

श्री कमल जोशी को भी पत्र लिखा, जानने के लिये—कहीं उनकी कहानी अनुवाद या आधार पर लिखी हुई रचना तो नहीं है ? उनका उत्तर आया...

"फुलबसिया मौलिक रचना है। आप किस बंगला कहानी का जिक्र कर रहे हैं, यह आपने नहीं लिखा। यदि लिखते तो मैं भी उस कहानी को अवश्य देखता। वैसे, अनजाने ही यदि किसी अन्य रचना या लेखक का उस पर प्रभाव पड़ गया हो तो कह नहीं सकता। आशा है इससे आपकी जिज्ञासा दूर हो जायगी।' श्री जोशी जी का पत्र मेरे पास सुरक्षित है। आप जब चाहेंगे, सेवा में भेज दूँगा।

मिसाल के तौर पर दोनों कहानियों के कुछ अंश देखिये ! आप ही निर्णय कीजिये कि क्या अनजाने प्रभाव के ये प्रमाण हैं !

सती-थान कहानी का प्रथम पैरा देखिये......

"हँसी-खुशी राह चलते, सहसा, जैसे पैर में खजूर का काँटा गड़ गया हो। फुलबसिया के मन में अचानक खटका होता है। आतंक से उसका शरीर सिहर उठता है।.. नहीं, नहीं, ऐसा क्यों होगा !'

श्री कमल जोशी लिखित, फुलबसिया का प्रथम पैरा देखिये—

'हँसी-खुशी राह चलते-चलते पैर में मानो अचानक काँटा चुभ गया। एकाएक खटका हुआ फुलबसिया के मन में। शरीर में बिच्छू के डंक मारने जैसी जलन हो रही है, आतंक से। ...नहीं नहीं। भला ऐसा क्यों होने लगा।

अंत का अंश भी देख लीजिये...सती-थान से...

उसका संदेह अब तक विश्वास बन चुका था। अब कोई शंका नहीं। किसी भी तरह उसकी मुक्ति नहीं। फूट फूट कर रो रही है फुलबसिया।

श्री जोशी की कहानी से—

उसका सन्देह विश्वास में परिणत हो गया है। अब कोई भी और किसी प्रकार की अनिश्चयता नहीं है। किसी भी तरह उसका छुटकारा नहीं है। फूट फूट कर फुलबसिया रोने लगी।

अब आप ही देखिये, 'फुलबसिया' मौलिक रचना है या चोरी ! आशा है, उक्त कहानी पर अपना विचार देंगे।

स्नेही—

रमण

२

प्रिय भारती, जमशेदपुर : ८. ३. ५६.

जिस दिन मैं कलकत्ता जा रहा था, उस दिन तुम्हारा कार्ड मिला था। सोचा था 'कहानियाँ' पत्रिका देख कर तुम्हें लिखूँगा।······आसनसोल स्टेशन पर मिल ही गयी।······वह कहानी 'फुलबसिया' की प्रतिकृति है······कलकत्ता में मैंने बंगला कहानी खोज थी, लेकिन मिली नहीं। हाँ, यह जरूर मालूम हुआ कि दो तीन माह पहले ही ऐसी कोई कहानी बंगला में छपी है। यानी 'निकष' के प्रकाशन के तीन-चार-पाँच माह बाद !······

तुम्हारा,

कमल

३ कलकत्ता : १. मार्च ५६.

सविनय निवेदन,

गत जुलाई १९५५ के निकष में श्री कमल जोशी के नाम पर 'फुलबसिया' नामीय जो कहानी छापी गई वह बँगला साप्ताहिक देश पत्रिका के २२ डिसेम्बर १९५४ के अंक में प्रकाशित श्री सतीनाथ भादुड़ी रचित 'सतीथान' नामीय कहानी का बिलकुल अनुवाद है। आप इस पर जरा ध्यान दीजियेगा। नमस्कारान्ते,

भवदीय,

सागरमय घोष, सह-सम्पादक—'देश'

साहित्य भवन के महत्वपूर्ण प्रकाशन

निबन्ध

ऋतम्भरा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	२॥)
विचारधारा डा० धीरेन्द्र वर्मा	३॥)
मध्यकालीन प्रेम-साधना श्री परशुराम चतुर्वेदी	३)
साहित्यावलोकन प्रो० विनयमोहन शर्मा	३)
गद्य-पथ श्री सुमित्रानन्दन पंत	३)
मध्यकालीन धर्म-साधना डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	३)
विचार और वितर्क डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	३)
दिल की बात श्री गुरुदयाल मल्लिक	३)

आलोचना

कबीर का रहस्यवाद डा० रामकुमार वर्मा	३॥)
हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास डा० लक्ष्मीनारायण लाल	१०)
प्रकृति और काव्य [हिन्दी] डा० रघुवंश	६॥)
प्रकृति और काव्य [संस्कृत] डा० रघुवंश	६॥)
प्रगतिवाद, एक समीक्षा डा० धर्मवीर भारती	३॥)
आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय	(प्रेस में)

कविता

नीहार श्रीमती महादेवी वर्मा	३)
रश्मि श्रीमती महादेवी वर्मा	३)
प्रभाती श्री सोहनलाल द्विवेदी	२॥)
अंजलि डा० रामकुमार वर्मा	१)
ठण्डा लोहा डा० धर्मवीर भारती	३)
वर्षान्त के बादल श्री अंचल	३)

गद्यकाव्य

हिमहास डा० रामकुमार वर्मा १॥)

शबनम श्रीमती दिनेशनन्दिनी

उनमन श्रीमती दिनेशनन्दिनी ३)

निर्झर और पाषाण श्री तेजनारायण काक १॥)

कला-संस्कृति

संस्कृति-सङ्गम आचार्य क्षितिमोहन सेन २॥)

भारतवर्ष में जाति-भेद आचार्य क्षितिमोहन सेन २॥।)

शिल्प-कला आचार्य नन्दलाल बसु १)

कला और संस्कृति डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ४॥)

प्राचीन लोकोत्सव श्री मन्मथ राय २॥)

सौंदर्य-शास्त्र डा० हरद्वारीलाल शर्मा ३)

नाटक

मुक्ति का रहस्य श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र २)

महत्व किसे ? सेठ गोविन्ददास १)

शिवाजी डा० रामकुमार वर्मा १)

कौमुदी महोत्सव डा० रामकुमार वर्मा १॥)

उपन्यास

बहता पानी श्री मन्मथनाथ गुप्त ३)

अनबुझी प्यास श्री दुर्गाशङ्कर मेहता ७॥), १०)

मरु प्रदीप श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ३॥)

गुनाहों का देवता धर्मवीर भारती ५)

सूरज का सातवाँ घोड़ा धर्मवीर भारती १॥)

चाँदनी के खँडहर श्री गिरिधर गोपाल २)

द्वाभा श्री प्रभाकर माचवे २)

काठ का उल्लू और कबूतर श्री केशवचन्द्र वर्मा ४)

छायातप (कहानियाँ) डा० रघुवंश २॥)

'नयी कविता' तथा 'निकष' के बाद
साहित्य सहयोग के तत्वावधान में
आयोजित नवीन संकलन

प्रतिमान

हिन्दी साहित्य-चिन्तन की
नयी चेतना का प्रतीक

आधुनिक मनुष्य को उसके विराट सांस्कृतिक सन्दर्भ में समझे बिना तथा स्थायी मानव मूल्यों को अधुनातन परिवेश में खोजे बिना—आज के साहित्य-चिन्तन का वास्तविक मानदण्ड नहीं स्थापित हो सकता। 'प्रतिमान' उस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

गतानुगतिक समीक्षाओं और अनुकरणात्मक पद्धतियों की जड़ता और एकांगिता का परित्याग कर, प्रथम बार 'प्रतिमान' हिन्दी साहित्य-चिंतन को उस परिनिष्ठित रूप तक पहुँचाने का प्रयत्न करेगा जो किसी स्वतन्त्र देश के मौलिक-चिन्तन का गौरव बढ़ा सके।

प्रतिमान, स्वतन्त्र असम्बद्ध लेखों का संग्रह मात्र नहीं रहेगा, बल्कि किसी एक सुनिश्चित परिप्रेक्ष्य को आधार बना कर, उसके प्रत्येक संकलन की योजना बनाई जायगी, जिसमें अपने अपने विषय के अधिकारी उन प्रबुद्ध समीक्षकों का सहयोग रहेगा, जो लेखक के व्यापक मानववादी दायित्व को स्वीकार करते हुये, विचारगत स्वातन्त्र्य को मौलिक चिन्तन और उच्चस्तरीय साहित्य-सृजन के लिये वांछनीय मानते हैं।

प्रतिमान का प्रत्येक संकलन
साहित्य-चिन्तन के नये
धरातलों के विकास में एक
सुनिश्चित चरण होगा।

सम्पादक

डा० रघुवंश : रामस्वरूप चतुर्वेदी

वर्ष में दो संकलन — मूल्य ४) प्रति संकलन

इस संकलन में

निकष के इस संकलन में हम हिन्दी भाषी प्रदेश के विविध प्रान्तों के कई नये लेखकों की सशक्त रचनायें प्रस्तुत कर रहे हैं। हम आशा करते हैं कि आगामी संकलनों में हम और भी कई सर्वथा नये लेखकों की प्रथम महत्वपूर्ण कृति का प्रकाशन कर सकेंगे।

इस संकलन के लिये श्री मैथिलीशरण गुप्त ने चार पंक्तियों की जो रचना भेजी है, वह बुन्देलखण्डी लोकगीत 'लेद' की शैली में लिखी गयी है।

इस सम्पूर्ण संकलन की चित्र-सज्जा श्री जगदीश गुप्त ने की है।

इस संकलन में प्रकाशित 'परिवर्त' रेणु के आगामी उपन्यास 'परती-परिकथा' का प्रथम अध्याय है।

हमें खेद है कि कई बार सावधानी बरतने पर भी मुद्रण की बहुत सी शोचनीय भूलें रह गयी हैं—जैसे श्री रघुवीर सहाय की कहानी का शीर्षक 'लड़के' के स्थान पर 'लड़के।' ऐसी तमाम भूलों के लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।
